जिनवाणी

आचाय श्री हस्तीमलजी म० सा० के अमृत महोत्सव के
उपलक्ष्य मे प्रकाशित

कम सिद्धान्त विशेषांक

□

प्रधान सम्पादक

डॉ० नरेन्द्र भानावत

□

सम्पादक

डॉ० श्रीमती शान्ता भानावत

□

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

बापू बाजार, जयपुर-३०२००३

जिनवाणी

जैन सिद्धान्त विशेषांक वर्ष : ४१ अंक १०-१२
अक्टूबर-दिसम्बर, १९८४
वीर निर्वाण संवत् २५११
आश्विन मार्गशीर्ष, २०४१

प्रधान सम्पादक
प्रेमराज बोगावत

संस्थापक
श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
दुकान नं. १८२-१८३ के ऊपर
बापू बाजार, जयपुर-३०२ ००३ (राजस्थान)
फोन नं. ४८९९७

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :
सी २३५ ए दयानन्द मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-३०२००४ (राजस्थान)
फोन नं. ४७४४४
भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रजिस्ट्रेशन नं. ३६५३/५७

सदस्यता
स्तम्भ सदस्यता १००१ रु.
संरक्षक सदस्यता ५०१ रु.
आजीवन सदस्यता देश में २५१ रु.
आजीवन सदस्यता विदेश में ७५१ रु.
त्रिवर्षीय सदस्यता ५५ रु.
वार्षिक सदस्यता २० रु.
इस विशेषांक का मूल्य १० रु.

मुद्रक
फ्रेण्ड्स प्रिन्टिंग एण्ड स्टेशनर्स जौहरी बाजार, जयपुर-३

नोट : यह आवश्यक नहीं कि इस विशेषांक में प्रकाशित लेखकों के विचारों से सम्पादक या सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल की सहमति हो।

समर्पण

ज्ञान-दर्शन रूप

स्वाध्याय

और

चारित्र रूप

सामायिक-साधना

के प्रबल प्रेरक

आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

के

तप पूल तेजस्वी व्यक्तित्व

को

उनके अमृत महोत्सव पर

सादर सविनय समर्पित ।

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड

कर्म सिद्धान्त और सामाजिक चिन्तन २३५-३०८

तृतीय खण्ड

कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान ३०९–३३०

चतुर्थ खण्ड

कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ ३३१–३५२

परिशिष्ट

सम्पादकीय

'हम तो कबहु न निज घर आये ।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ।।

अध्यात्मप्रवण कवि द्यानतराय की उपर्युक्त पंक्तियाँ जीव के भव भ्रमण की पीडा और ग्लानि को व्यक्त करती हैं । 'निज घर' हमारा आत्म-स्वभाव है और 'पर घर' यह ससार है । जीवात्मा अपने कर्मानुसार विविध योनियाँ धारण कर अनादि काल से ससार में भटक रही है । इस भटकन और भ्रमण का कारण आत्मा के साथ बँधे हुए / चिपके हुए कर्म हैं । प्रश्न है जब आत्मा अपने सुख-दु ख की कर्त्ता स्वय है और सब में मूलत वह समान है तब ससार में इतना दु ख और वैषम्य क्यो है ? क्या मनोवैज्ञानिक रूप से यह सम्भव है कि व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता हो और फिर भी वह अपने सुख के लिए दु ख के काटे बोए ? इस प्रश्न का उत्तर जैन दार्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त की प्रक्रिया में खोजा है । उनका मानना है कि जीव अपने सुख-दु ख का विधाता और भोक्ता स्वय होते हुए भी अनादि काल से कर्म के बन्धनो में जकडा हुआ है । यही कारण है कि सिद्धान्तत वह पूर्ण स्वतन्त्र और आनदमय होते हुए भी व्यवहार मे स्वतन्त्र और आनदमय नही है ।

जीव जो क्रिया करता है उसका नाम कर्म है । दूसरे शब्दो में जिस पर क्रिया का प्रभाव पडे वह कर्म है । 'कर्म' शब्द का लोक-व्यवहार और शास्त्र में विभिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है । जन साधारण अपने अपने काम-धन्धे, व्यवसाय, कर्तव्य आदि के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं । पर जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है । उसके अनुसार ससारी जीव जब रागद्वेषयुक्त मन, वचन, काया से जो भी क्रिया करता है उससे उसके आत्म-प्रदेश में एक विशेष प्रकार का स्पन्दन होता है, उत्तेजन होता है । उससे वह सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओ को ग्रहण करता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आभ्यन्तर सस्कारो को जन्म देता है । ये पुद्गल परमाणु भौतिक और जड होते हुए भी जीव की राग-द्वेषात्मक मानसिक, वाचिक, शारीरिक क्रियाओ के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के साथ अग्नि-लोह पिण्ड की भाँति परस्पर एकमेक हो जाते हैं और आत्मा की अनन्त शक्ति को आच्छादित कर लेते हैं, जिससे उसका तेज हतप्रभ और मन्द हो जाता है । जब विशिष्ट साधना के द्वारा इन कर्म-पुद्गलो को नष्ट कर दिया जाता है तब आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र और आनदमय बन जाती है । जब तक इन कर्मों का क्षय नही होता, आत्मा भव-भ्रमण करती रहती है । निष्कर्षत कहा जा सकता है कि कृत कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा की मुक्ति नही हो सकती ।

कर्म-फल के भोग के सम्बन्ध मे कई मान्यताएँ हैं। एक मान्यता यह है कि आत्मा कर्म करने मे स्वतन्त्र है परन्तु उसका फल देना ईश्वर के हाथ मे है। जैनदर्शन ऐसा नही मानता। वह कर्म सिद्धात को प्राकृतिक विधान-नियम मानकर चलता है। उसकी दृष्टि मे जीव स्वय ही अपना विधाता और नियामक है। किसी बाहरी नियन्ता की आवश्यकता नही। अपने पुरुषार्थ, साधना, सत्कर्म, सद्विचार द्वारा वह बँधे हुए कर्मों के फल-भोग की प्रकृति, स्थिति, रस आदि मे घट-बढ़ रूप मे परिवर्तन ला सकता है, पाप प्रकृति को पुण्य मे, अशुभ प्रकृति को शुभ मे बदल सकता है। यही नही वह सयम, तप आदि की साधना से अपने पूर्व मे बधे हुए कर्मों को बिना फल भोगे ही निर्जरित कर सकता है। इस दृष्टि से पिछले जन्म के अच्छे-बुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दुःख की व्याख्या करते हुए भी कर्म सिद्धान्त वर्तमान में किये गये पुरुषार्थ के महत्व को रेखांकित करता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'व्यक्ति जैसा करेगा वैसा भरेगा' तब उसकी मुक्ति कैसे होगी? उसे सुख-दुःख, पुण्य पाप तो भोगना ही पड़ेगा। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो क्रिया भोग के रूप मे, विषयसुख की प्राप्ति के रूप मे की जाती है उससे कर्मबंध होता है पर जो क्रिया अनासक्त भाव से राग-द्वेष रहित होकर विशुद्ध सेवाभाव से, विवेक और यतनापूर्वक की जाती है वह बंध का कारण नहीं होती।

'कर्म' का विचार लगभग सभी भारतीय दर्शनो और धर्मों में हुआ है। कर्म के इस विचार मे सभी ने 'क्रिया' को मूलभूत आधार माना है। क्रिया 'अपने लिए' और क्रिया 'समाज के लिए' इस आधार पर वैयक्तिक कर्म और सामूहिक कर्म की चर्चा चली है। हमारी दृष्टि से इनमे कोई आत्यन्तिक विरोध नही है। जब कोई कहता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ तो इसका अर्थ यह नही कि वह अन्य सबको नकार रहा है। इसके मूल मे आत्म पुरुषार्थ और आत्म-शक्ति को जागृत कर दैन्य, निराशा, पराजय, हीनता जैसी भावना को नष्ट करने का लक्ष्य रहा है। जब कोई कहता है कि 'तत्त्वमसि' अर्थात् तू ही ब्रह्म है तो इसका अर्थ यह नही कि वह अपने को नकार रहा है। इसके मूल में अपने अहं को विसर्जित करने का भाव निहित है। संत कबीर ने इस अनुभव को कितनी सुन्दर रूप मे वाणी दी है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अँधियारा मिटि गया दीपक देख्या मांहि॥

जब व्यक्ति 'मैंपन' और 'तेरेपन' दोनो से ऊपर उठ जाता है तब वह यह कहता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सब ब्रह्म स्वरूप है। जब व्यक्ति अपने 'स्व' को सब' में विलय कर देता है तभी यह स्थिति आती है। कबीर की आत्मा आनंद विभोर होकर कह उठती है—

लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥

कमयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी यही आकर मिल जाते है । इनमे कोई आन्तरिक विरोध नही रहता । जब व्यक्ति आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोकसेवा एव जनकल्याण के लिए क्रिया करता है तब उसमे बध की नही, मुक्त होने की, राग की नही वीतराग की, उपभोग की नहीं, उपयोग की शक्ति विकसित होती है ।

इस शक्ति को विकसित करने की भावना मे ही, इस शक्ति के विशिष्ट आराधक परम श्रद्धेय आचाय श्री हस्तीमलजी म० सा० की ७५वी जयन्ती (अमृत महोत्सव—पौष शुक्ला चतुर्दशी स० २०४१) के उपलक्ष्य मे 'जिनवाणी' का यह 'कम सिद्धान्त विशेपांक' प्रकाशित किया जा रहा है । आचार्यश्री ज्ञान दशन रूप स्वाध्याय एव चारित्र रूप सामायिक-साधना की प्रबल प्रेरणा देते हुए जनसाधारण को आत्म शक्ति के प्रकटीकरण एव कम-निजरा की सतत उद्बोधना देते रहे हैं । उन्ही के तप पूत तेजस्वी व्यक्तित्व को यह विशेपाक समर्पित है ।

'जिनवाणी' के पूव प्रकाशित 'स्वाध्याय', 'सामायिक', 'तप', 'श्रावक धम' 'साधना' 'ध्यान', 'जैन सस्कृति और राजस्थान' आदि विशेपाकों की तरह यह विशेपाक भी अपना वैशिष्ट्य लिये हुए है । यह चार खण्डो मे विभक्त है । प्रथम खण्ड 'कम सिद्धान्त के शास्त्रीय विवेचन' से सम्बन्धित है । इसमे जन दशन मे मान्य कम सिद्धान्त के विविध पक्षो के साथ-साथ बौद्ध, गीता, साख्य, मीमासा, ईसाई इस्लाम धम एव पाश्चात्य दर्शन मे प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त पर अधिकृत विद्वानो के ३१ निबन्ध सकलित किये गये हैं । इनके अध्ययन से कम सिद्धान्त को व्यापक परिप्रेक्ष्य मे समझने और परखने मे सहायता मिलती है ।

द्वितीय खण्ड 'कम सिद्धान्त के सामाजिक चिन्तन' से सम्बन्धित है । शास्त्रीय रूप मे कम सिद्धान्त का जो विवेचन हुआ वह मुख्यतया व्यक्तिवादी धरातल पर ही । व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो को विश्लेपित करने वाली आज कई विचारधाराएँ प्रवाहमान हैं । यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि अध्यात्म क्षेत्र मे कम-सिद्धान्त की प्रक्रिया का जो विकास हुआ है क्या वह हमारे वतमान जीवन की सामाजिक एव राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान मे सहायक हो सकता है ? और यदि हाँ तो किस रूप मे व किस सीमा तक ? इस वैचारिक धरातल पर कम विचार का जो चिन्तन चला है वह मुख्यत कमयोग और सत्कम के रूप मे ही । इस खण्ड मे १५ निबन्ध दिये गये हैं । जिनमे ३२ म लेकर ४० तक के ९ निबन्ध देश के प्रबुद्ध विचारकों और तत्त्व चिन्तकों के हैं जो उनकी पुस्तक

में सकलित किये गये हैं। इस खण्ड के निबन्धों में जो विचार व्यक्त कि गये हैं वे आज के युग की समस्याओं व विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में हैं इनका स्वर समीक्षात्मक है। इनके अध्ययन से कर्म-विचार की विविध भंगिमाओं, उनकी शक्तियां और सीमाओं से परिचित होने में मदद मिलती है विचार-मन्थन की दृष्टि से इन निबन्धों का विशेष महत्त्व और उपयोग है ये विचार लेखकों के अपने हैं और उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

तृतीय खण्ड में 'कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान' से सम्बन्धित चा निबन्ध हैं। इनके अध्ययन से कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता को समझने सहायता मिलती है। चतुर्थ खण्ड 'कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ' से सम्बन्धि है। इसमें जैन कथा साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए तत्सम्बन्धी ५ कथा दी गई हैं। कर्म सिद्धान्त को समझने में ये कथाएँ विशेष उपयोगी हैं। परिशिष्ट में सहयोगी लेखकों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

इस विशेषांक के प्रकाशन की योजना आज से लगभग चार वर्ष पूर्व बनी थी। हमारा विचार कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान से सम्बद्ध विशेष सामग्री इसमें प्रकाशित करने का था पर वह संभव न हो सका। जैन धर्म, दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् श्री कन्हैयालाल लोढ़ा का सामग्री-संकलन में विशेष सहयोग मिला है, अतः हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। जिन विद्वान् आचार्यों, मुनियों व लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस विशेषांक को इस रूप में प्रस्तुत करने में हमारी सहायता की, उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। जिन व्यक्तियों, संस्थाओं व व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने अपने विज्ञापन देकर हमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। विज्ञापन खण्ड के संयोजक श्री सुमेरसिंह बोथरा और उनके सहयोगी सर्वश्री पूरणराज अबानी जोधपुर, पारसराज बोथरा अहमदाबाद, गजेन्द्र हीरावत बम्बई, मोतीचन्द कर्णावट जयपुर एवं पारसकुमार मेहता जयपुर का विज्ञापन एकत्र करने में विशेष सहयोग रहा है अतः हम उनके आभारी हैं।

आशा है, इस विशेषांक के अध्ययन मनन से आत्म-पुरुषार्थ को जागृत करने एवं मोक्ष दिशा के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलेगी।

सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग तिलकनगर,   —डॉ० नरेन्द्र भानावत
जयपुर–४

प्रथम खण्ड

•

कर्म सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन

१ कर्मों की धूप-छाँह*

□ प्राचार्य श्री हस्तीमलजी म सा

दु ख का कारण कर्म-बध

बन्धुओ ! वीतराग जिनेश्वर ने, अपने स्वरूप को प्राप्त करके जो आनन्द की अनुभूति की, उससे उन्होंने अनुभव किया कि यदि ससार के अन्यान्य प्राणी भी, कर्मों के पाश से मुक्त होकर, हमारी तरह स्वाधीन स्वरूप मे स्थित हो जायें तो वे भी दु ख के पाश से बच जायेंगे यानी दु ख से उनका कभी पाला नही पडेगा। दु ख, अशान्ति, असमाधि या क्लेश का अनुभव तभी किया जाता, है जबकि प्राणी के साथ कर्मों का बन्ध है।

दु ख का मूल कर्म और कर्म का मूल राग-द्वेष है। ससार मे जितने भी दु ख हैं, वेदनायें हैं, वे सब कर्ममूलक ही हैं। कोई भी व्यक्ति अपने कृत कर्मों का फल भोगे बिना नही रह पाता। कर्म जैसा भी होगा फल भी उसी के अनुरूप होंगे। प्रश्न होता है कि यदि दु ख का मूल कर्म है तो कर्म का मूल क्या है ? दु खमूलक कर्म क्या स्वय सहज रूप मे उत्पन्न होता है या उसका भी कोई कारण है ? सिद्धान्त तो यह है कि कोई भी कार्य कारण के बिना नही होता। फिर उसके लिए कोई कर्त्ता भी चाहिये। कर्त्तापूर्वक ही क्रिया और क्रिया का फल कर्म होता है।

कर्म और उसके कारण

परम ज्ञानी जिनेश्वर देव ने कहा कि कर्म करना जीव का स्वभाव नहीं है। स्वभाव होता तो हर जीव कर्म का बध करता और सिद्धों के साथ कर्म लगे होते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अयोगी केवली और सिद्धो को कर्म का बध नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि कर्म सहेतुक है, अहेतुक नही। कर्म का लक्षण बताते हुए आचार्य ने कहा—"कीरइ जिएण हेउहिं।" जो जीव के द्वारा किया जाय, उसे कर्म कहते हैं। व्याकरण वाले क्रिया के फल को कर्म कहते हैं। खाकर आने पर उससे प्राप्त फल—भोजन को ही कर्म कहा जाता है। खाने की क्रिया से ही भोजन मिला, इसलिए भोजन कर्म कहाता है। सत्सग में आकर कोई सत्सग के सयोग से शुद्ध ज्ञान हासिल करे, धर्म की बात सुने तो यहां श्रवण सुनने को भी कर्म कहा—जैसे 'श्रवण कर्म"। पर यहां इस प्रकार के कर्मों से मतलब नही है। यहाँ आत्मा के साथ लगे हुए कर्म से प्रयोजन है। कहा है—'जिएण हेउहिं, जेण तो भण्णई कम्म" यानी ससार की क्रिया का कर्म ता

*आचार्यश्री के प्रवचन से उद्धृत।

स्वत होता है। परन्तु यह विशिष्ट कर्म स्वत नहीं होता। यहाँ तो जीव के द्वारा हेतुओं से जो किया जाय, उस पुद्गल वर्गणा के संग्रह का नाम कर्म है।

कर्म के भेद और व्यापकता

कर्म के मुख्यत दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। कार्मण वर्गणा का आना और कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों के साथ सम्बन्धित होना, द्रव्य कर्म है। द्रव्य कर्म के ग्रहण करने की जो राग-द्वेषादि की परिणति है, वह भाव कर्म है।

आपने ज्ञानियों से द्रव्य कर्म की बात सुनी होगी। द्रव्य कर्म कार्य और भाव कर्म कारण है। यदि आत्मा की परिणति, राग द्वेषादिमय नहीं होगी तो द्रव्य कर्म का संग्रह नहीं होगा। आप और हम बैठे हुए भी निरन्तर प्रतिक्षण कर्मों का संग्रह कर रहे हैं। परन्तु इस जगह, इसी समय, हमारे और आपके बदले कोई वीतराग पुरुष बैठें तो वे सांपरायिक कर्म एकत्रित नहीं करेंगे। क्योंकि उनके कषाय नहीं होने से, ईर्यापथिक कर्मों का संग्रह है। सिद्धों के लिए भी ऐसी ही स्थिति है।

लोक का कोई भी कोना खाली नहीं है, जहाँ कर्मवर्गणा के पुद्गल नहीं घूम रहे हों। और ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ शब्द-लहरी नहीं घूम रही हो। इस हाल के भीतर कोई बच्चा रेडियो (ट्रांजिस्टर) लाकर बजाये अथवा उसे आलमारी के भीतर रखकर ही बजाये तो भी शब्द लहरी वहाँ पहुँच जायेगी और संगीत लहरी कान में रायन कर जायेगी। इन शब्द लहरी से भी अधिक बारीक, सूक्ष्म कर्म लहरी है। यह आपके और हमारे शरीर के चारों ओर घूम रही है और सिद्धों के चारों तरफ भी घूम रही है। परन्तु सिद्धों के कर्म चिपकते नहीं और हमारे आपके चिपक जाते हैं। इसका अन्तर यही है कि सिद्धों में वह कारण नहीं है, राग-द्वेषादि की परिणति नहीं है।

कर्म का मूल राग और द्वेष

ऊपर कहा जा चुका है कि हेतु से प्रेरित होकर जीव के द्वारा जो किया जाय, वह कर्म है। और कर्म ही दुःखों का कारण है—मूल है। कर्मों का मूल बताते हुए कहा कि—'रागो य दोसो, बीय कम्म बीय।" यानी राग और द्वेष दोनों कर्म के बीज हैं। जब दुःखों का मूल कर्म है तो आपको, दुःख निवारण के लिए क्या मिटाना है? क्या काटनी है? दुःख की बेड़ी। यह कब हटेगी? जब कर्मों की बेड़ी हटेगी—दूर होगी। और कर्मों की बेड़ी कब कटेगी? जब राग-द्वेष दूर होंगे।

प्रायः एकान्त और शान्त स्थान में अनचाहे भी सहसा राग द्वेष आ घेरते हैं। इस अर्थ भोगते हुए, फल भोग के साथ, आत्मा हल्की होनी चाहिये, परन्तु साधारणतया इसके विपरीत होता है। भोगते समय राग-द्वेष उभर आते ; चिकने-गोंद पेर सी मानो बंध बढ़ता जाता है। इससे कर्म-परम्परा

चालू रहती है। उसका कभी अवसान—अन्त नही हो पाता। अत ज्ञानी कहते हैं कि कम भोगने का भी तुमको ढग-तरीका सीखना चाहिये। फल भोग की भी कला होती है और कला के द्वारा ही उसमे निखार आता है। यदि कर्म भोगने की कला सीख जाओगे तो तुम नये कर्मों का बन्ध नही कर पाओगे। इस प्रकार फल भोग मे तुम्हारी आत्मा हल्की होगी।

कम फल भोग आवश्यक

शास्त्रकारो का एक अनुभूत सिद्धान्त है कि—"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।" तथा *'अवश्यमेव भोक्तव्य, कृत कर्म शुभाशुभम्" यानी राजा हो या* रक, अमीर हो या गरीब, महात्मा हो अथवा दुरात्मा, शुभाशुभ कर्म फल सब जीव को भोगना ही पडेगा। कभी कोई भूले भटके सन्त प्रकृति का आदमी किसी गृहस्थ के घर ठडाई कहकर दी गई थोडी मात्रा मे भी ठडाई के भरोसे भग पी जाय तो पता चलने पर पछतावा होता है मगर वह भग अपना असर दिखाए बिना नही रहेगी। बारम्बार पश्चात्ताप करने पर भी उस साधु प्रकृति को भी नशा आये बिना नही रहेगा। नशा यह नही समझेगा कि पीने वाला सन्त है और इसने अनजाने मे इसे पी लिया है अत इसे भ्रमित नही करना चाहिये। नही, हर्गिज नही। कारण, बुद्धि को भ्रमित करना उसका स्वभाव है। अत वह नशा अपना रग लाये बिना नही रहेगा। बस, यही हाल कर्मों का है।

भगवान् महावीर कहते हैं कि—"हे मानव! सामान्य साधु की बात क्या? हमारे जैसे सिद्धगति की ओर बढने वाले जीव भी कर्म फल के भोग से बच नही सकते। मेरी आत्मा भी इस कम के वशीभूत होकर, भव भव में गोते खाती हुई कम फल भोगती रही है। मैंने भी अनन्तकाल तक, भवप्रपच मे प्रमादवश कर्मों का बध किया जो आज तक भोगना पड रहा है। कर्म भोगते हुए थोडा सा प्रमाद कर गये तो दूसरे कम आकर बध गए, चिपक गए।"

मतलब यह है कि कर्मों का सम्बन्ध बहुत जबदस्त है। इस बात को अच्छी तरह समझ लिया जाये कि हमारे दनिक व्यवहार मे, नित्य की क्रिया मे कोई भूल तो नही हो रही है? नये कम बाधने मे कितना सावधान हूँ? कम भोगते समय कोई नये कर्म तो नही बध रहे हैं? इस तरह विचारपूर्वक काम करने वाला, कमबध से बच सकता है।

कर्मों की धूप-छाह

परन्तु ससार का नियम है कि सुख के साथ दु ख आता है और साता के साथ असाता का भी चक्र चलता रहता है। यह कभी नहीं हो सकता कि शुभाशुभ कम प्रकृतियो में मात्र एक ही प्रकृति उदय मे रहे और दूसरी उसके साथ नही आये। ज्ञानियों ने प्रतिक्षण शुभाशुभ कर्मों का बध और उदय चालू

रहना बतलाया है। दृष्टान्त रूप से देखिये, अभी उस जाली के पास जहाँ आप धूप देख रहे हैं, घंटेभर के बाद वहाँ छाया आ जावेगी और अभी जहाँ दरवाजे के पास आपको छाया दिख रही है, कुछ देर के बाद वहाँ धूप आ जायेगी। इसका मतलब यह है कि धूप और छाया बराबर एक के पीछे एक आते रहते हैं। धूप-छाँह परिवर्तन का द्योतक है। एक आम प्रचलित शब्द है, जिसका मतलब प्रायः प्रत्येक समझ जाता है कि यहाँ कोई भी वस्तु एक रूप चिरकाल तक नहीं रह सकती।

जब मकान में धूप की जगह छाया और छाया की जगह जगह धूप आ गई तो आपके मन, मन में साता की जगह असाता और असाता की जगह साता आ जाये तो इसमें नई बात क्या है? संयोग की जगह वियोग से आपका पाला पड़ा तो कौनसी बड़ी बात हो जावेगी? ज्ञानी कहते हैं कि इस संसार में आए तो समभाव से रहना सीखो। संयोग में जरूरत से अधिक फूलो मत और वियोग के आने पर आकुल-व्याकुल नहीं बनो, घबराओ नहीं। यह तो सृष्टि का नियम है—कायदा है। हर वस्तु समय पर अस्तित्व में आती और सत्ता के अभाव में अदृश्य हो जाती है। इस बात को ध्यान में रखकर सोचो कि जहाँ छाया है वहाँ कभी धूप भी आयेगी और जहाँ अभी धूप है, वहाँ छाया भी समय पर आये बिना नहीं रहेगी।

अभी दिन है—सर्वत्र उजाला है। एक वक्त के बाद सूर्योदय हुआ। परन्तु उसके पहले क्या था। सर्वत्र अंधेरा हो रहा था। किसी को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। यह परिवर्तन कैसे हो गया?, अन्धकार की जगह प्रकाश कहाँ से आ गया? तो जीवन में भी यही क्रम चलता रहता है। जिन्दगी एक धूप-छाँह ही तो है।

हर हालत में खुश और शान्त रहो

संसार के शुभ-अशुभ के क्रम को, अवस्था को ज्ञानीजन सदा समभाव या उदासीन भाव से देखते रहते हैं। उन्हें जगत् की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ चंचल अथवा आन्दोलित नहीं कर पातीं। वे न तो अनुकूल परिस्थिति के आने पर हर्षोन्मत्त और न प्रतिकूलता में व्यथित एवं विषण्ण बनते हैं। सूरज की तरह उनका उदय और अस्त का रंग एक जैसा और एक भावों वाला रहता है। वे परिस्थिति की मार को सहन कर लेते हैं, पर परिस्थिति के वश रंग बदलना नहीं जानते। जीवन का यही क्रम उनको सबसे ऊपर बनाये रखता है। अपनी मानसिक समता बनाए रखने के कारण ही वे आत्मा का भार कम कर पाते हैं। और जिनमें ऐसी क्षमता नहीं होती और जो इस तरह का व्यवहार नहीं बना पाते, वे अकारण ही अपनी आत्मा को भारी, बोझिल बना लेते हैं। □

२ कर्म और जीव का सम्बन्ध*

□ प० रत्न श्री हीरा मुनि

ससार एक रगमच है

ससार एक रगमच है। यहाँ नाना प्रकार के पात्र हमे दृष्टिगोचर होते हैं। इनमे कोई अमीर है तो कोई गरीव, कोई राजा है तो कोई रक, कोई सवल है—तो कोई निबल, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख। किसी का सर्वत्र अभिनन्दन-अभिवन्दन है तो किसी को दुत्कार-फटकार। किसी के दर्शन को आँखें तरसती, टकटकी लगाये पथ निहारती तो किसी को फूटी आँख से भी देखना पसद नही, कोई कामदेव-रति तुल्य तो कोई कौवा तवा की तरह भद्दा-काला। कोई साँचे मे ढालकर फुरसत मे बनाया हो ऐसा रूपवान तो कोई वेढव, वेडोल और ऊँट, गदभवत भद्दी आकृति वाला। कोई कोमल, सरल तो कोई कर्कश-कठोर, टेढ़ा-मेढा अष्टावक्र की तरह। किसी को 'वन्समोर, प्लीज' कहकर कोयलवत् और तान छेडने को कहा जाता है तो किसी को 'बैठ जाओ', 'तुमको किसने खडा किया', 'क्यो कौऐ और गधे की तरह गला फाड रहे हो', 'यह फटा वाँस और कही जाकर बजाना', ऐसा कहा जाता है। किसी की लात भी अच्छी तो किसी की भली वात भी खराब।

मात्र मनुष्य की ही वात नही। यह जीव कभी सुख-सागर मे निमग्न देव वना तो कभी भयकर भयावने भय और असह्य-दुःख का घर नारकी वना। इस तरह गति, जाति आदि की वाहरी भिन्नता ही नही, भीतरी-गुणस्थान, लेश्या, पुण्यानुवधी पुण्य आदि की दृष्टि से असख्य भेद शास्त्रकारों ने किये हैं।

विभिन्नता विचित्रता का कारण कर्म

आखिर, इस विभिन्नता-विचित्रता, विभेद और विसदृश्यता का कारण क्या है? विविधता-विषमता अनेकता के अनेको कारण एव समाधान प्राप्त होते हैं। वैदिक परम्परा इस भिन्नता का कारण ईश्वर को मानती है तो कोई सामाजिक अव्यवस्था बताते हैं। किन्ही का मन्तव्य है कि यह माता पिता का दोष है तो कोई आदत, कुटेव, अज्ञानता, स्वार्थ, वासनामयी वृत्ति को कारण मानते हैं।

---

*मुनि श्री के प्रवचन से। प० शोभाचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित।

रहना बतलाया है। दृष्टान्त रूप से देखिये, अभी उस जाली के पास जहां आप धूप देख रहे हैं, घंटेभर के बाद वहां छाया आ जावेगी और अभी जहां दरवाजे के पास आपको छाया दिख रही है, कुछ देर के बाद वहां धूप आ जावेगी। इसका मतलब यह है कि धूप और छाया बराबर एक के पीछे एक आते रहते हैं। धूप-छांह परिवर्तन का द्योतक है। एक आम प्रचलित शब्द है, जिसका मतलब प्राय: प्रत्यक्ष समझा जाता है कि यहां कोई भी वस्तु एक रूप चिरकाल तक नहीं रह सकती।

जब मकान में धूप की जगह छाया और छाया की जगह जगह धूप आ गई तो आपके तन, मन में साता की जगह असाता और असाता की जगह साता आ जाये तो इसमें नई बात क्या है? संयोग की जगह वियोग से आपका पाला पड़ा तो कौनसी बड़ी बात हो जावेगी? ज्ञानी कहते हैं कि इस संसार में आए तो समभाव से रहना सीखो। संयोग में जरूरत से अधिक फूलो मत और वियोग के आने पर आकुल-व्याकुल नहीं बनो, घबराओ नहीं। यह तो सृष्टि का नियम है—कायदा है। हर वस्तु समय पर अस्तित्व में आती और सत्ता के अभाव में अदृश्य हो जाती है। इस बात को ध्यान में रखकर सोचो कि जहां छाया है वहां कभी धूप भी आयेगी और जहां अभी धूप है, वहां छाया भी समय पर आये बिना नहीं रहेगी।

अभी दिन है—सर्वत्र उजाला है। छः बजे के बाद सूर्योदय हुआ। परन्तु उसके पहले क्या था। सर्वत्र अंधेरा ही तो था। किसी को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। यह परिवर्तन कैसे हो गया? अन्धकार की जगह प्रकाश कहाँ से आ गया? तो जीवन में भी यही क्रम चलता रहता है। जिन्दगी एक धूप-छांह ही तो है।

हर हालत में खुश और शान्त रहो

संसार के शुभ-अशुभ में क्रम को, व्यवस्था को, ज्ञानीजन सदा समभाव या उदासीन भाव से देखते रहते हैं। इन्हें जगत् की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियां चंचल अथवा आन्दोलित नहीं कर पातीं। वे न तो अनुकूल परिस्थिति के आने पर हर्षोन्मत्त और न प्रतिकूलता में व्यथित एवं विषण्ण बनते हैं। सूरज की तरह उनका उदय और अस्त का रंग एक जैसा और एक भावों वाला होता है। वे परिस्थिति की मार को सहन कर लेते हैं, पर परिस्थिति से अपना रंग बदलना नहीं जानते। जीवन का यही क्रम उनको सबसे ऊपर बनाये रखता है। अपनी मानसिक समता बनाये रखने के कारण ही वे आत्मा को भारी बनाने से बच पाते हैं। और जिनमें ऐसी समता नहीं होती और जो इस तरह का व्यवहार नहीं कर पाते, वे अकारण ही अपनी आत्मा को भारी, कालिमामय बना लेते हैं। □

गति, जाति, योनि आदि की विभिन्नता का कारण मानता है। वह उसे ईश्वर, ब्रह्म या शक्तिशाली देवो का काय नही मानता है। प्रश्न होता है कि जीव का अजीव कम से सम्बन्ध कब से है ? जैन दशन इस सम्बन्ध को खदान से निकले सोना और मिट्टी के सम्बन्ध की तरह अनादि मानता है।

सम्बन्ध दो तरह के होते हैं समवाय सम्बन्ध और सयोग सम्बन्ध। गुण-गुणी का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है जो अलग नही किया जा सकता। जसे मिश्री और मिठास, अग्नि और उष्णता, नमक और खारापन, जीव और ज्ञान, सूय और प्रकाश। लेकिन जीव और जड कम का सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध है जैसे—दूध और पानी, सोना और मिट्टी, लोहा और अग्नि, तार और बिजली, शरीर और जीव। जीव और कम का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध न होकर सयोग सम्बन्ध है।

कम के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि यदि कम जड है तब जड कर्म मे किस प्रकार फल देने की शक्ति है। प्रत्यक्ष मे हम देखते हैं जड पदार्थों का अन्य जड पदार्थों पर भी सयोग के कारण प्रभाव दिखायी देता है जैसे पारस लोहे को स्वण रूप मे परिवर्तित कर देता है। वस्त्र विभिन्न रगो के परमाणुओ का सयोग पाकर चित्र विचित्र रगो को प्राप्त होता है, इस तरह जड में भी सयोग शक्ति के कारण विभिन्नता आती है तो फिर जड चेतन का सयोग पाकर अधिक शक्तिवाला बन जाय, उसमे कोई आश्चय नही ? स्पष्ट ही हम देखते हैं—भग शिला पर घोटी जाकर शिला मे नशा नही पैदा कर, पीने वाले चेतन मे अपना अत्यधिक प्रभाव दिखाती है।

जैन दशनानुसार कम द्रव्य रूप व भाव रूप से दो प्रकार का है। जीव से सम्बद्ध कम पुद्गल द्रव्य कर्म और द्रव्य कम के प्रभाव से होने वाले जीव के राग-द्वेप रूप भाव, भाव कम है। राग-द्वेप रूप चिन्तन से आत्म प्रदेशो मे एक प्रकार की हलचल-कपन होती है। इस प्रकार परिणाम स्वरूप कम पुद्गल आकृष्ट हो चिपक जाते हैं। जैसे केमरा आकृति का, रेडियो ध्वनि को और चुम्बक लाह-कणो को खीचता है, वैसे ही परिणाम द्रव्य कामण वगणा को आकर्षित करता है, कम मे स्वय सुख-दुःख प्रदान करने की शक्ति नही है किन्तु यह शक्ति चेतन द्वारा प्रदत्त होती है। चेतन का सयोग पाकर कम की शक्ति बलवतर हो जाती है। जिसके प्रभाव से देवेन्द्र, नरेन्द्र, धर्मेन्द्र तीर्थंकरो को भी कठोर यत्रणा भोगनी पड़ी।

आत्मा कम के साथ किस प्रकार आबद्ध होती है, यह तथ्य निम्न दृष्टान्त द्वारा सुगमतया समझा जा सकता है। कल्पना कीजिये जब आपने एक गाय के गले में रस्सा डाल कर उसे बाँध लिया। यह गाँठ गाय के नहीं, चमडे के नही

जैन दर्शन इस विभिन्नता का कारण कर्म मानता है। जैन मान्यतानुसार जो जैसा करता है, वही उसका फल भोगता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्म फल का अधिकारी नहीं हो सकता, जैसा कि कहा है—

> "स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
> परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥"

उपर्युक्त तथ्य को ही हिन्दी कवि ने निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

> "अपने उपार्जित कर्मफल को जीव पाते हैं सभी—
> उसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी।
> ऐसा समझना चाहिये एकाग्र मन होकर सदा,
> दाता अपर है भोग का इस बुद्धि को खोकर सदा॥"

कर्म के अनेक अर्थ

कर्म शब्द अनेकार्थक माना गया है। काम धंधे के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग होता है। खाना, पीना, चलना, फिरना आदि क्रिया को भी कर्म शब्द से व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार कर्मकाण्डी मीमांसक यज्ञ आदि क्रिया काण्ड के अर्थ में, स्मार्त विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमों के लिये नियत किये गये कर्म रूप अर्थ में, व्याकरण के निर्माता लोग कर्ता द्वारा की जाने वाली क्रिया जिस पर कर्ता के व्यापार का फल गिरता है, उस अर्थ में, और नैयायिक लोग उत्क्षेपण-अवक्षेपण आदि पांच सांकेतिक कर्मों के संदर्भ में कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु जैन दर्शन में कर्म शब्द एक विशेष अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। जैन दर्शन की मान्यतानुसार कर्म नैयायिकों या वैशेषिकों की भांति क्रिया रूप नहीं है किन्तु पौद्गलिक द्रव्य रूप है। आत्मा के साथ प्रवाह रूप से सम्बन्ध रखने वाला एक अजीव द्रव्य है।

कर्म और जीव का सम्बन्ध

भगवान् महावीर ने संसार के समस्त दृश्य पदार्थों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया है—जीव और अजीव या जड़ और चेतन। जीव के साथ जड़ का संयोग सम्बन्ध ही संसार में विविधता विभिन्नता और विचित्रता उत्पन्न करता है। यदि विभिन्नता का कारण मात्र चेतन आत्मा होती तो सिद्ध अवस्था में भी विभिन्नता होती किन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार मात्र जड़ भी विविधता विभिन्नता का कारण नहीं है अन्यथा बिना जीव का [illegible]। इस मिट्टी और पानी के संयोग की तरह जड़ और चेतन के संयोग को ही जैन दर्शन

गति, जाति, योनि आदि की विभिन्नता का कारण मानता है। वह उसे ईश्वर, ब्रह्म या शक्तिशाली देवो का काय नही मानता है। प्रश्न होता है कि जीव का अजीव कम से सम्बन्ध कब से है ? जैन दशन इस सम्बन्ध को खदान से निकले सोना और मिट्टी के सम्बन्ध की तरह अनादि मानता है।

सम्बन्ध दो तरह के होते हैं समवाय सम्बन्ध और सयोग सम्बन्ध। गुण-गुणी का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है जो अलग नही किया जा सकता। जैसे मिश्री और मिठास, अग्नि और उष्णता, नमक और खारापन, जीव और ज्ञान, सूय और प्रकाश। लेकिन जीव और जड कर्म का सम्बन्ध सयोग-सम्बन्ध है जैसे—दूध और पानी, सोना और मिट्टी, लोहा और अग्नि, तार और विजली, शरीर और जीव। जीव और कम का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध न होकर सयोग सम्बन्ध है।

कम के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठता है कि यदि कम जड है तब जड कम मे किस प्रकार फल देने की शक्ति है। प्रत्यक्ष मे हम देखते हैं जड पदार्थों का अन्य जड पदार्थों पर भी सयोग के कारण प्रभाव दिखायी देता है जैसे पारस लोहे को स्वण रूप मे परिवर्तित कर देता है। वस्त्र विभिन्न रगो के परमाणुओ का सयोग पाकर चित्र विचित्र रगो को प्राप्त होता है, इस तरह जड मे भी सयोग शक्ति के कारण विभिन्नता आती है तो फिर जड चेतन का सयोग पाकर अधिक शक्तिवाला बन जाय, उसमे कोई आश्चर्य नही ? स्पष्ट ही हम देखते हैं—भग शिला पर घोटी जाकर शिला मे नशा नही पैदा कर, पीने वाले चेतन मे अपना अत्यधिक प्रभाव दिखाती है।

जैन दशनानुसार कम द्रव्य रूप व भाव रूप से दो प्रकार का है। जीव से सम्बद्ध कम पुद्गल द्रव्य कम और द्रव्य कम के प्रभाव से होने वाले जीव के राग द्वेष रूप भाव, भाव कम है। राग-द्वेष रूप चिंतन से आत्म प्रदेशो मे एक प्रकार की हलचल-कपन होती है। इस प्रकार परिणाम स्वरूप कम पुद्गल आकृष्ट हो चिपक जाते हैं। जैसे केमरा आकृति को, रेडियो ध्वनि को और चुम्बक लोह-कणो को खीचता है, वैसे ही परिणाम द्रव्य कामण वगणा को आकर्षित करता है, कम मे स्वय सुख-दुःख प्रदान करने की शक्ति नहीं है किन्तु यह शक्ति चेतन द्वारा प्रदत्त होती है। चेतन का सयोग पाकर कम की शक्ति बलवतर हो जाती है। जिसके प्रभाव से देवेन्द्र, नरेन्द्र, धर्मेन्द्र तीर्थंकरो को भी कठोर यत्रणा भोगनी पडी।

आत्मा कम के साथ किस प्रकार आबद्ध होती है, यह तथ्य निम्न दृष्टान्त द्वारा सुगमतया समझा जा सकता है। कल्पना कीजिये जैसे आपने एक गाय के गले में रस्सा डाल कर उसे बाँध लिया। यह गाँठ गाय मे नहीं, चमडे मे नहीं

रस्से से रस्सी के साथ लगी है और गाय बंधी हुई है। आत्मा और कर्म के साथ भी यही बात है। कर्म की गाँठ कर्म के साथ लगी है, आत्मा के साथ नहीं, किन्तु आत्मा बन्धन से फँस गयी है। आत्मा अरूपी और कर्म रूपी है, अरूपी रूपी के साथ कभी सम्बन्ध नहीं करता। विचित्रता यही है कि कर्म के साथ कर्म के बन्धन से आत्मा बंध रही है। जैसे गाँठ खुल जाने से गाय मुक्त हो जाती है उसी प्रकार कर्म की गाँठ खुल जाने पर आत्मा भी स्वतंत्र और कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है।

मानव के पास बुद्धि रूप ज्ञान और आचरण रूप क्रिया का ऐसा अनुभव रूप बल, शक्ति है कि वह कठिन, दुस्तर, दुष्कर और दुर्भेद्य को भी आसान कर सकता है। जीव अपने प्रयत्न विशेष से, पुरुषार्थ से कर्म को पृथक् कर सकता है, यथा—

> "सर्व स्वर्णगत वह्नि, हंस क्षीर गत जलम् ।
> यथा पृथक्करोत्येव, जन्तो कर्म मल तप ॥"

अर्थात्- जैसे स्वर्ण में रहा हुआ मल अग्नि के ताप से, दूध और पानी हंस की चोंच से पृथक्त्व को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कर्ममल तप से नष्ट हो जाता है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप द्वारा यह जीव कर्म का पृथक्-करण कर सकता है। हमारा जीवन विघ्न, बाधा और विपत्तियों से भरा पड़ा है। इसके कारण हमारी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। एक ओर बाहरी परिस्थिति प्रतिकूल होती है तो दूसरी ओर घबराहट, चिन्ता और पाप के प्रत्यावरण से अंतरंग स्थिति को हम स्वयं अपने हाथों से बिगाड़ लेते हैं। ऐसी अवस्था में—"विपत्तिकाले विपरीत बुद्धि" होने पर भूल पर भूल होना स्वाभाविक है। परिणामतः हम प्रारम्भ किये कार्य को निराश हो छोड़ देते हैं। ऐसे समय में कर्म सिद्धान्त शिक्षक का काम करता है, पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाता है। यह आत्मा को धीरज बंधाता है। दुःख में घबराहट और सुख में मग्न कर, उन्मत्त न होने से बचाता है। इस तरह जैन दर्शन में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त पुरुषार्थ पर अवलम्बित है।

•□•

३

कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

☐ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है, क्रीडा भूमि है। यहाँ की पुण्य भूमि पर आदिकाल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की विचारधारा बहती चली आ रही है। न्याय, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध और जैन प्रभृति अनेक दर्शनों ने यहाँ जन्म ग्रहण किया, वे खूब फूले और फले। उनकी विचारधाराएँ हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊँची, समुद्र से भी अधिक गहरी और आकाश से भी अधिक विस्तृत हैं।

भारतीय दर्शन जीवन-दर्शन है। केवल कमनीय कल्पना के अनन्त गगन में विहरण करने की अपेक्षा यहाँ के मनीषी दार्शनिकों ने जीवन के गम्भीर व गहन प्रश्नों पर चिन्तन, मनन, विमर्श करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा, परमात्मा, लोक, कर्म आदि तत्त्वों पर गहराई से चिन्तन, मनन व विवेचन किया गया है। उन्होंने अपनी तपश्चर्या एवं सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि के सहारे तत्त्व का जो विश्लेषण किया है वह भारतीय सभ्यता व धर्म का मेरुदण्ड है। इस विराट् विश्व में भारत के मुख को उज्ज्वल-समुज्ज्वल रखने में तथा मस्तिष्क को उन्नत रखने में अध्यात्मवेत्ताओं की यह आध्यात्मिक सम्पदा सर्वथा व सर्वदा कारण रही है। मानसिक पराधीनता के पंक में निमग्न आधुनिक भारतीय पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य के समक्ष इस अनुपम विचार राशि की भले ही अवहेलना करें किन्तु उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत अति प्राचीन काल से गौरवशाली देश रहा है तो अपने दार्शनिक चिन्तन के कारण ही। वस्तुतः तत्त्वज्ञान से ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की प्रतिष्ठा है।

दार्शनिकवादों की दुनिया में कर्मवाद का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कर्मवाद के मर्म को समझे बिना भारतीय दर्शन विशेषतः आत्मवाद का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता।

डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के मन्तव्यानुसार "कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता।"

काय-कारण भाव की व्यवस्था ही निरथक हो जायगी। फलस्वरूप हम भूतो को भी किसी काय का कारण मानने के लिए बाध्य नही होंगे। ऐसी स्थिति मे किसी काय के कारण की अन्वेषणा करना भी निरर्थक होगा। इसलिए जड और चेतन इन दो प्रकार के तत्त्वो की सत्ता मानते हुए कम मूलक विश्व-व्यवस्था मानना तक सगत है। कर्म अपने नैसर्गिक स्वभाव से अपने आप फल प्रदान करने में समर्थ होता है।

कमवाद की ऐतिहासिक समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मवाद पर चिन्तन करने पर हमे सवप्रथम वेद कालीन कम सम्बन्धी विचारो पर चिंतन करना होगा। उपलब्ध साहित्य मे वेद सबसे प्राचीन हैं। वैदिक युग मे महर्षियों को कम सम्बन्धी ज्ञान था या नही ? इस पर विज्ञो के दो मत हैं। कितने ही विज्ञो का यह स्पष्ट अभिमत है कि वेदो–सहिता ग्रन्थो मे कमवाद का वणन नही आया है, तो कितने ही विद्वान् यह कहते हैं कि वेदो के रचयिता ऋषिगण कमवाद के ज्ञाता थे।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदो मे कमवाद की चर्चा नहीं है उनका कहना है कि वैदिक काल के ऋषियो ने प्राणियो मे रहे हुए वैविध्य और वैचित्र्य का अनुभव तो गहराई से किया पर उन्होंने उसके मूल की अन्वेषणा अन्तरात्मा मे न कर बाह्य जगत मे की। किसी ने कमनीय कल्पना के गगन मे विहरण करते हुए कहा कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक भौतिक तत्त्व है तो दूसरे ऋषि ने अनेक भौतिक तत्त्वो को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। तीसरे ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। इस तरह वैदिक युग का सम्पूर्ण तत्त्व चिन्तन देव और यज्ञ की परिधि मे ही विकसित हुआ। पहले विविध देवो की कल्पना की गई और उसके पश्चात एक देव की महत्ता स्थापित की गई। जीवन मे सुख और वैभव की उपलब्धि हो, शत्रुजन पराजित हों अत देवो की प्रार्थनाएँ की गईं और सजीव व निर्जीव पदार्थों की आहूतियाँ प्रदान की गईं। यज्ञ कम का शनै शनै विकास हुआ। इस प्रकार यह विचारधारा सहिताकाल से लेकर ब्राह्मण काल तक क्रमश विकसित हुई।

आरण्यक व उपनिषद् युग मे देववाद व यज्ञवाद का महत्त्व कम होने लगा और ऐसे नये विचार सामने आये जिनका सहिताकाल व ब्राह्मणकाल म अभाव था। उपनिषदों से पूव के वदिक साहित्य मे कम विषयक चिन्तन का अभाव है पर आरण्यक व उपनिषदकाल मे अदृष्ट रूप कम का वणन मिलता है। यह सत्य है कि कम को विश्व-वैचित्र्य का कारण मानने में उपनिषदो का भी एकमत नही रहा है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् के प्रारम्भ मे काल स्वभाव,

नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष को ही विश्व वैचित्र्य का कारण माना है, कर्म को नहीं।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों-संहिता ग्रंथों में कर्मवाद का वर्णन है उनका कहना है कि वेदों में "कर्मवाद या कर्मगति" आदि शब्द भले ही न हों किन्तु उनमें कर्मवाद का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेद संहिता के निम्न मंत्र इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं—शुभस्पति (शुभकर्मों के रक्षक) धियस्पति (सत्कार्यों के रक्षक), विचर्षणि तथा विश्वचर्षणि (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा), 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता" (सभी कर्मों के आधार) आदि पद देवों के विशेषणों के रूप में व्यवहृत हुए हैं। कितने ही मंत्रों में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि शुभ कर्म करने से अमरत्व की उपलब्धि होती है। कर्मों के अनुसार ही जीव अनेक बार संसार में जन्म लेता है और मरता है। वामदेव ने अपने अनेक पूर्वजन्मों का वर्णन किया है। पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों से ही लोग पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं—आदि उल्लेख वेदों के मंत्रों में हैं। पूर्वजन्म के पाप कृत्यों से मुक्त होने के लिए ही मानव देवों की अभ्यर्थना करता है। यज्ञमंत्रों में संचित और प्रारब्ध कर्मों का भी वर्णन है। साथ ही देवयान और पितृयान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाले लोग देवयान से ब्रह्मलोक को जाते हैं और साधारण कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक जाते हैं। ऋग्वेद में पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मों के भोग के लिए जीव किस प्रकार वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरों में प्रविष्ट होता है इसका वर्णन है। 'मा वो भुजेमान्य जातमेनो", "मा व एनो अन्यकृतं भुजेम" आदि मंत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों का भी भोग करता है और उससे बचने के लिए साधक ने इन मंत्रों में प्रार्थना की है। मुख्य रूप से जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का उपभोग भी करता है, पर विशिष्ट शक्ति के प्रभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है।

परन्तु इन दोनों मतों का गहराई से समीक्षण करने पर ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदों में कर्म सम्बन्धी मान्यताओं का पूर्ण रूप से अभाव तो नहीं है पर देववाद और यज्ञवाद के प्रमुख होने से कर्मवाद का विशिष्ट स्वरूप गौण हो गया है। यह सत्य है कि कर्म क्या है व किस प्रकार बंधते हैं और किस प्रकार [illegible] जिज्ञासाओं का समाधान वैदिक संहिताओं में नहीं है। वहाँ पर मुख्य रूप से [illegible] को ही सर्व माना है और [illegible] पर देवों के [illegible] की है। [illegible] और देव का [illegible] कर्मवाद का [illegible], [illegible] उपनिषदों के [illegible] का [illegible] के साथ [illegible] किया और [illegible] [illegible] [illegible] विकास हुआ।

ब्राह्मणकाल मे अनेक देवो के स्थान पर एक प्रजापति देव की प्रतिष्ठा हुई, उन्होंने भी कर्म के साथ प्रेजापति का समन्वय कर कहा—प्राणी अपने कर्म के अनुसार फल अवश्य प्राप्त करता है परन्तु फल प्राप्ति अपने आप न होकर प्रजापति के द्वारा होती है। प्रजापति (ईश्वर) जीवो को अपने अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है। वह न्यायाधीश की तरह है। इस विचारधारा का दार्शनिक रूप न्याय, वैशेषिक, सेश्वरसांख्य और वेदान्त दर्शन मे हुआ है।

यज्ञ आदि अनुष्ठानो को वैदिक परम्परा मे कम कहा गया है, वे अस्थायी हैं, उसी समय समाप्त हो जाते हैं, अत वे किस प्रकार फल प्रदान कर सकते हैं? इसलिए फल प्रदान करने वाले एक अदृष्ट पदाथ की कल्पना की, उसे मीमासा दर्शन ने "अपूर्व" कहा। वैशेषिक दशन मे "अदृष्ट" एक गुण माना गया है, जिसके धर्म-अधम रूप ये दो भेद हैं। न्यायदशन मे धर्म और अधर्म को सस्कार कहा है। अच्छे बुरे कर्मों का आत्मा पर सस्कार पडता है, वह अदृष्ट है। अदृष्ट आत्मा का गुण है। जब तक उसका फल नही मिल जाता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। चू कि यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करे तो कम निष्फल हो जाएँ। साख्य कम को प्रकृति का विकार कहता है। श्रेष्ठ और कनिष्ठ प्रवृत्तियो का प्रकृति पर सस्कार पडता है। उस प्रकृतिगत सस्कार से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा मे कमवाद का विकास हुआ है।

बौद्धदशन मे कर्म

बौद्ध और जैन ये दोनो कम-प्रधान श्रमण सस्कृति की धाराएँ हैं। बौद्ध परम्परा ने भी कम की अदृष्ट शक्ति पर चिन्तन किया है। उसका अभिमत है कि जीवों मे जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है वह कमकृत है। लोभ (राग), द्वेष और मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है। रागद्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी, मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और राग-द्वेष और मोह को उत्पन्न करता है। इस तरह ससार चक्र निरन्तर चलता रहता है। जिस चक्र का न आदि है न अन्त है, किन्तु वह अनादि है।

एक बार राजा मिलिन्द ने आचाय नागसेन से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहाँ है? समाधान करते हुए आचाय ने कहा—यह दिखलाया नही जा सकता कि कम कहाँ रहते हैं।

'विसुद्धिमग्ग' मे कम को अरूपी कहा है। अभिधम्म कोष मे उस अविज्ञप्ति का रूप कहा है। यह रूप सप्रतिघ न होकर अप्रतिघ है। सौत्रांतिक मत की दृष्टि से कम का समावेश अरूप मे है वे अविज्ञप्ति को नहीं मानते। बौद्धा ने कम का सूक्ष्म माना है। मन, वचन और काय की जो प्रवृत्ति है वह कम

कहलाती है पर वह विज्ञप्ति रूप है, प्रत्यक्ष है। यहाँ पर कर्म का तात्पर्य मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष कर्मजन्य संस्कार है। बौद्ध परिभाषा में इसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक क्रियाजन्य संस्कार कर्म को वासना कहा है और वचन एवं कायजन्य संस्कार कर्म को अविज्ञप्ति कहा है।

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को वासना शब्द से पुकारते हैं। प्रज्ञाकर का अभिमत है कि—जितने भी कार्य हैं वे सभी वासनाजन्य हैं। ईश्वर हो या कर्म (क्रिया) प्रधान (प्रकृति) हो या अन्य कुछ, इन सभी का मूल वासना है। ईश्वर को न्यायाधीश मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाए तो भी वासना को माने बिना कार्य नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में कहूँ तो ईश्वर, प्रधान, कर्म इन सभी सरिताओं का प्रवाह वासना-समुद्र में मिलकर एक हो जाता है।

शून्यवादी मत के मन्तव्य के अनुसार अनादि अविद्या का अपर नाम ही वासना है।

विलक्षण वर्णन

जैन साहित्य में कर्मवाद के सम्बन्ध में पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। जैन दर्शन में प्रतिपादित कर्म-व्यवस्था का जो वैज्ञानिक रूप है उसका किसी भी भारतीय परम्परा में दर्शन नहीं होता। जैन परम्परा इस दृष्टि से सर्वथा विलक्षण है।

कर्म का अर्थ

कर्म का शाब्दिक अर्थ काम, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी किया जाता है वह कर्म है। सोना, बैठना, खाना, पीना आदि। व्यवहार में जो कुछ भी काम किया जाता है, वह कर्म कहलाता है। व्याकरण शास्त्र में कर्ता [illegible] 'कर्म' की व्याख्या करते हुए कहा—[illegible] कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो वह कर्म है। वैशेषिक दर्शन में कर्म की परिभाषा इस प्रकार है—जो एक द्रव्य के समवाय से रहता हो, जिसमें कोई गुण न हो और जो संयोग या विभाग के [illegible] की अपेक्षा न करे। सांख्य दर्शन में संस्कार के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है। गीता में कर्मशीलता को कर्म कहा है। [illegible] शास्त्र में उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन रूप पाँच प्रकार की क्रियाओं के लिए कर्म शब्द व्यवहृत हुआ है। [illegible] चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्त्तव्यों को कर्म की संज्ञा [illegible] है। पौराणिक [illegible] धार्मिक क्रियाओं को कर्म [illegible] है। बौद्ध [illegible] की [illegible] कारण को कर्म कहते हैं और [illegible] है। [illegible] है [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible]

कषाय भावकर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल-जडतत्त्व विशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा-चेतन तत्त्व के साथ मिल जाता है द्रव्यकर्म कहलाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणमन-विशेष प्राप्त पुद्गल भी कर्म है। कर्म जो पुद्गल का ही एक विशेष रूप है, आत्मा से भिन्न एक विजातीय तत्त्व है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय तत्त्व कर्म का संयोग है, तभी तक संसार है और इस संयोग के नाश होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है।

विभिन्न परम्पराओं मे कर्म

जैन परम्परा में जिस अर्थ मे 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है, उस या उससे मिलते जुलते अर्थ मे भारत के विभिन्न दर्शनो मे माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है। वेदान्त दर्शन मे माया, अविद्या और प्रकृति शब्दो का प्रयोग हुआ है। मीमांसा दर्शन मे अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध दर्शन में वासना और अविज्ञप्ति शब्दो का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। साख्यदर्शन मे 'आशय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय वैशेषिक दर्शन मे अदृष्ट, संस्कार और धर्माधर्म शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनो मे हुआ है। भारतीय दर्शनो म एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जिसका कर्मवाद मे विश्वास नही है, क्योंकि वह आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही मानता इसलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्भव, परलोक आदि को भी वह नही मानता है, किन्तु शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप मे कर्म की सत्ता मानते ही हैं।

न्याय दर्शन के अभिमतानुसार राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषो से प्रेरणा सप्राप्त कर जीवो मे मन, वचन और काय की प्रवृत्तियां होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार कहलाते हैं।

वैशेषिक दर्शन मे चौबीस गुण माने गये हैं उनमें एक अदृष्ट भी है। यह गुण संस्कार से पृथक् है और धर्म अधर्म ये दो उसके भेद हैं। इस तरह न्याय-दर्शन मे धर्म अधर्म का समावेश संस्कार मे किया गया है। उन्हीं धर्म अधर्म को वैशेषिक दर्शन मे अदृष्ट के अन्तर्गत लिया गया है। राग आदि दोषो से संस्कार होता है, संस्कार से जन्म, जन्म से राग आदि दोष और उन दोषो से पुन संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस तरह जीवों की संसार-परम्परा बीजांकुरवत् अनादि है।

सांख्य योग दर्शन के अभिमतानुसार अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष और

इन दोनो प्रकार के परमाणुओ से पूण है । शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कम है, अत वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक काय का समवायी कारण पौदगलिक है। मिट्टी आदि भौतिक हैं और उनस निर्मित होने वाला पदार्थ भी भौतिक ही होगा।

अनुकूल आहार आदि से सुख की अनुभूति होती है और शस्त्रादि के प्रहार से दु खानुभूति होती है। आहार और शस्त्र जसे पौद्गलिक हैं वैसे ही सुख-दु ख के प्रदाता कम भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की दृष्टि से जीव और पुदगल दोनो भिन्न नही हैं किन्तु एकमेक हैं, पर लक्षण की दृष्टि से दोनो पथक् पथक हैं। जीव अमूत व चेतना युक्त है जबकि पुद्गल मूत और अचेनन है।

इन्द्रियो के विषय-स्पश, रस, गध, रूप और शब्द ये मूत हैं और उनका उपभोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूत हैं। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख-दु ख भी मूत है, अत उनके कारणभूत कम भी मूत हैं।

मूत ही मत को स्पश करता है। मूत ही मूत से बधता है। अमूत जीव मूत कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाशरूप हो जाता है।

गीता, उपनिषद् आदि मे श्रेष्ठ और कनिष्ठ कार्यों के अथ मे "कम" शब्द व्यवहृत हुआ है। वैसे जैन दर्शन मे कम शब्द क्रिया का वाचक नही रहा है। उसके मन्तव्यानुसार वह आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदाथ का वाचक है।

जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तिया से कम वर्गणा के पुद्गलो को आकर्षित करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कम का सम्बद्ध हो। जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होता है जब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति से कम और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल से चल रही है। कम और प्रवृत्ति के काय और कारण भाव को लक्ष्य मे रखते हुए पुदगल परमाणुओ के पिण्डरूप कम को द्रव्यकम कहा है और राग द्वेषादि रूप प्रवृत्तिया को भावकम कहा है। इस तरह कम के मुख्य रूप से दो भेद हुए—द्रव्यकम और भावकम। द्रव्यकम के होने मे भाव-कम और भावकम के होने म द्रव्यकम कारण है। जस वृक्ष से बीज और बीज मे वृक्ष की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्यकम से भावकम और भावकम से द्रव्यकम का सिलसिला भी अनादि है।

कम पर चिन्तन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि जड और

इस दृश्यमान विश्व मे दो प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं—चेतन (जीव) और अचेतन (जड या अजीव)। दोनो के गुण धम, अस्तित्व और क्रियाए पृथक्-पृथक् हैं। तब फिर इनमे विकार, विभिन्नता और अशुद्धता दिखने का क्या कारण है ? कारण है—विजातीय पदाथ का सयोग।

प्रत्येक पदाथ के समान गुण-धम, निजी स्वभाव तथा उससे मेल खाने वाली क्रिया से सम्बन्धित पदाथ सजातीय कहलाता है। तथा उस पदाथ के स्वभाव, गुण धम तथा क्रिया से विपरीत स्वभाव, गुणधम या क्रिया वाला पदार्थ कहलाता है—विजातीय। सजातीय पदार्थों के सयोग से विकार पैदा नही होता, विकार पैदा होता है—सजातीय के साथ विजातीय पदार्थों के सयोग के कारण। जीव के लिए अजीव विजातीय पदाथ ह। जव जीव के साथ अजीव का सयोग होता ह तो जीव (आत्मा) मे विकार उत्पन्न होता है। निष्कर्ष यह है—कम नाम का यह अजीव ही एक विजातीय पदाथ है, जो आत्माओ की शुद्धता को भग करके उनकी स्थिति मे भेद डालता है, विरूपता या विभिन्नता पैदा करता है। जैसे सौ टची सोना शुद्ध है, सभी सोना स्वर्ण दृष्टि से समान है, लेकिन उसमे विजातीय तत्त्व 'खोट' मिल जाने पर विविधता या विरूपता पैदा हो जाती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्माओ के साथ कम नामक विजातीय अजीव पुद्गल मिल जाने से आत्माओ में विरूपता या विभिन्नता पैदा हो जाती है। विश्व की आत्माओ (जीवो) मे अशुद्धता, विभिन्नता या विषमताओ का भी एक वीज है—विजातीय कारण है—जिसका स्वभाव आत्मा से अलग है, वह वीज (कारण) ह—कम। इसीलिए आचाराग सूत्र मे कहा गया है—

'कम्मुणा उवाही जायइ'।[1]

कम वीज के कारण ही जीवो की नाना उपाधिया हैं विविध अवस्थाए हैं।

आत्मा की विभिन्न सांसारिक परिणतियों—अवस्थाओ के लिए सभी आत्मवादी दार्शनिको ने कम का ही कारण माना है।

भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर ने इस प्रश्न का इसी प्रकार का उत्तर दिया है —

'कम्मओण भते ! जीवे, नो अकम्मओ विभत्तिभाव परिणमई ?
कम्मओण, जओ णो अकम्म ओ विभत्तिभाव परिणमई।[2]

---

१ आचाराग सूत्र १।३।१।
२ भगवती सूत्र १२।५।

महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि मे थी, उतनी उनकी सन्तानो मे नही थी। जो बौद्धिक शक्ति हेमचन्द्राचाय मे थी, वह उनके माता-पिता मे नही थी। कम सिद्धान्त को माने बिना इन सबका यथोचित्त समाधान नही हो सकता। क्योकि इस जन्म मे दिखाई देने वाली विलक्षणताए न तो वतमान जन्म के कार्यों का फल है, और न ही माता पिता की कृति का न सिफ परिस्थिति का है। इसके लिए पूवजन्म के शुभाशुभ कर्मों को मानना पडता है, इस प्रकार एव पूवजन्म सिद्ध होते ही अनेक पूवजन्मो की शृखला सिद्ध हो जाती ह, क्योकि असाधारण ज्ञानशक्ति किसी एक ही जन्म के अभ्यास का फल नही हो सकती। गीता मे भी इसका समथन किया गया है—

'अनेक जन्म ससिद्धिस्ततो यान्ति परा गतिम् ।'

अनेक जन्मो मे जाकर अन्त करण शुद्धिरूप सिद्धि प्राप्त होती है, उसके पश्चात् साधक परा (मोक्ष) गति को प्राप्त कर लेता है।

बालक जन्म लेते ही माता का स्तनपान करता है, भूख-प्यास लगने पर रोता है डरता है, अपनी मा को पहचानने लगता है, ये सब प्रवृत्तियां बिना ही सिखाए बालक को स्वत सूझ जाती हैं, इसके पीछे पूवजन्मकृत कम ही कारण हैं।

अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ ।

—आचारांग १।३।१

जो कम मे से अकम की स्थिति मे पहुँच गया है, वह तत्त्वदर्शी लोक व्यवहार की सीमा से परे हो गया है।

सव्वे सयकम्मकप्पिया

—सूत्रकृतांग १।२।६।१८

सभी प्राणी अपने कृत कर्मों के कारण नाना योनियो मे भ्रमण करते हैं।

जहा कड कम्म, तहासि भारे ।

—सूत्रकृतांग १।५।१।२६

जैसा किया हुआ कम, वैसा ही उसका भोग।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ।

—उत्तराध्ययन १३।२३

कम सदा कर्ता के पीछे पीछे (साथ) चलते हैं।

इन आठ कर्म प्रवृत्तियो के सक्षिप्त रूप से दो अवान्तर भेद हैं—चार घाती कर्म[1] और चार अघाती[2] कर्म।

घातीकर्म	अघातीकर्म
१—ज्ञानावरणीय	१—वेदनीय
२—दर्शनावरणीय	२—आयु
३—मोहनीय	३—नाम
४—अन्तराय	४—गोत्र

जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणो को आच्छादित करते हैं, उन्हें विकसित नही होने देते हैं, वे कर्म घाती कर्म हैं। इन घाती कर्मों की अनुभाग शक्ति का असर आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणो पर होता है। जिससे आत्मिक गुणो का विकास अवरुद्ध हो जाता है। घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य गुणो का घात करता है। जिससे आत्मा अपना विकास नही कर पाती है। जो अघाती कर्म आत्मा के निज-गुणो का प्रतिघात तो नही करता है किन्तु आत्मा के जो प्रतिजीवी गुण हैं उनका घात करता है अत वह अघाती कर्म है। इन अघाती-कर्मों की अनुभाग शक्ति का असर जीव के गुणो पर तो नही होता किन्तु अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यो से सम्बन्ध जुड जाता है। जिससे आत्मा 'अमूर्तोऽपि मूर्त इव' प्रतीत होती है। यही कारण है कि अघाती-कर्म के कारण आत्मा शरीर के कारागृह मे आबद्ध रहती है जिससे आत्मा के अव्याबाध सुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिकत्व और अगुरुलघु गुण प्रकट नही होते हैं।

१ ज्ञानावरणीय कर्म

जीव का लक्षण उपयोग है।[3] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन इन दोनो का सग्राहक है।[4] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग है।[5]

---

१ (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड ९ ॥
(ख) पचाध्यायी २/९९८ ॥

२ (क) पचाध्यायी २/९९९ ॥
(ख) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड—९ ॥

३ (क) उवओगलक्खणेणं जीवे—भगवती सूत्र १३/४/४/८० ॥
(ख) उवओगलक्खणे जीवे —भगवती सूत्र २/१० ॥
(ग) गुणओ उवओगगुणे —स्थानांग सूत्र ५/३/५३० ॥
(घ) जीवो उवओगलक्खणो—उत्तराध्ययन सूत्र २८/१० ॥
(ङ) द्रव्यसग्रह गाथा—१
(च) तत्त्वार्थ सूत्र—२/८ ॥

४ जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदसणो होई ॥
नियमसार—१० ॥

५ तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य २/९ ॥

सदा-सर्वदा अनावृत्त रहता है ।[1] जैसे घनघोर-घटाओ को विदीर्ण करता हुआ सूय प्रकाशमान् हो उठता है, उसकी स्वर्णिम-प्रभा भूमण्डल पर आती है पर सभी भवनो पर उसकी दिव्य किरणें एक समान नही गिरती । भवनो की बनावटो के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम गिरती हैं, वैसे ही ज्ञान का दिव्य आलोक मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि कम प्रकृतियो के उदय के तारतम्य के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम हो जाता है । ज्ञान आत्मा का एक मौलिक गुण है । वह पूणरूपेण कभी भी तिरोहित नही हो सकता । यदि वह दिव्य गुण तिरोहित हो जाय तो जीव अजीव हो जाएगा । इस कम की न्यूनतम स्थिति अन्तमुहूत की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा कोटि सागरोपम की है ।[2]

२ दशनावरणीय कर्म

वस्तुओ की विशेषता का ग्रहण किये बिना उनके सामान्य धम का बोध करना दशनोपयोग है ।[3] इस कम के कारण दशनोपयोग आच्छादित होता है । जब दशन गुण परिसीमित होता है, तब ज्ञानोपलब्धि का द्वार भी अवरुद्ध हो जाता है । प्रस्तुत कम की परितुलना अनुशास्ता के उस द्वारपाल के साथ की गई है जो अनुशासक से किसी व्यक्ति को मिलने मे बाधा पहुँचाता है, उसी

---

१ (क) सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स
अणतभागो णिच्चु घाडिओ हवइ ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवा अजीवत्त पावेज्जा ।
सुट्ठुवि मेहसमुदये होइ पभा चन्दसूराण ।
नन्दीसूत्र—४३ ॥

(ख) देश ज्ञानस्याऽभिनिबोधिकादिभावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सव ज्ञान केवलाख्यमावृणोतीति सवज्ञानावरणीय केवलावरण हि आदित्य कल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य। जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमितिनत्सवज्ञानावरण । मत्याद्यावरण तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञानदेशस्य कटकुट्याविरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति ।
स्थानाग सूत्र—२/४/१०५ टीका

२ (क) तत्त्वाथ सूत्र—८/१५
(ख) प्रथम कम ग्रन्थ गाथा–२६
उत्तराध्ययन सूत्र–३३/१९–२० ॥

३ ज सामन्नग्गहण भावाण नव कट्टु आगार ।
अविसेसिऊण अट्ठे, दसणमिह वुच्चए समए ॥

दर्शन मोहनीय के तीन प्रकार हैं—[1] १ सम्यक्त्व मोहनीय, २ मिथ्यात्व मोहनीय, ३ मिश्र मोहनीय। इन तीनो मे मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती है, सम्यक्त्व मोहनीय देशघाती है[2] और मिश्रमोहनीय जात्यन्तर सर्वघाती है। मोहनीय कर्म का दूसरा प्रकार चारित्रमोह है। इस प्रकृति के प्रभाव से आत्मा का चरित्र गुण विकसित नही होता है।[3]

चारित्र मोहनीय के दो प्रकार प्रतिपादित हैं[4]—१ कषाय मोहनीय, २ नोकषाय मोहनीय। कषायमोहनीय का वर्गीकरण सोलह प्रकार से हुआ है और नोकषाय के नौ या सात प्रकार हैं।[5] कषाय मोहनीय के सोलह प्रकार इस रूप में वर्णित हैं—

१—अनन्तानुबन्धी क्रोध	९—प्रत्याख्यानावरण क्रोध
२—अनन्तानुबन्धी मान	१०—प्रत्याख्यानावरण मान
३—अनन्तानुबन्धी माया	११—प्रत्याख्यानावरण माया
४—अनन्तानुबन्धी लोभ	१२—प्रत्याख्यानावरण लाभ
५—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध	१३—सज्वलन क्रोध
६—अप्रत्याख्यानावरण मान	१४—सज्वलन मान
७—अप्रत्याख्यानावरण माया	१५—सज्वलन माया
८—अप्रत्याख्यानावरण लोभ	१६—सज्वलन लोभ।

---

१ सम्मत्त चेव मिच्छत्त सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ मोहणिज्जस्स दंसणे॥
उत्तराध्ययन सूत्र ३३/९॥

२ (क) केवलणाणावरणं दसणछक्क च मोहबारसग।
ता सव्वघाइसन्ना, भवति मिच्छत्तवीसइम॥
स्थानांग सूत्र २/४/१०५ टीका

(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३९॥

३ पचाध्यायी—२१/६॥

४ (क) प्रज्ञापना सूत्र—२३/२॥

(ख) चारित्तमोहणं कम्म दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्ज तु नोकसायं तहेव य॥
उत्तराध्ययन सूत्र—३१/१०॥

५ (क) सोलसविहभेएणं, कम्म तु कसायज।
सत्तविह नवविह वा, कम्म च नोकसायज॥
उत्तराध्ययन सूत्र—३३/११॥

(ग) प्रज्ञापना सूत्र २३/२॥

(ग) समवायाग सूत्र—समवाय—१६

नाम अकाषाय भी है।[1] अकषाय का अर्थ कषाय का अभाव नही, किन्तु ईसत् कषाय, अल्प कषाय है। इसके नव प्रकार हैं—

१—हास्य	५—शोक
२—रति	६—जुगुप्सा
३—अरति	७—स्त्रीवेद
४—भय	८—पुरुषवेद

९—नपुंसकवेद

इस प्रकार चारित्र मोहनीय की इन पच्चीस प्रकृतियों से से सज्वलन-कषाय चतुष्क और नोकषाय ये देशघाती हैं, और अवशेष जो बारह प्रकृतियाँ हैं वे सवघाती कहलाती हैं।[2] इस कर्म की जघन्य-स्थिति अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है।[3]

५ आयुष्य कर्म

आयुष्यकर्म के प्रभाव से प्राणी जीवित रहता है और इस का क्षय होने पर मृत्यु का वरण करता है।[4] यह जीवन अवधि का नियामक तत्त्व है। इसकी परितुलना कारागृह से की गई है। जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी के अपराध को सलक्ष्य मे रखकर उसे नियतकाल तक कारागृह मे डाल देता है, जब तक अवधि पूर्ण नहीं होती है तब तक वह कारागृह से विमुक्त नही हो सकता। उसी प्रकार आयुष्य कर्म के कारण ही सांसारिक जीव रस, देह-पिण्ड से मुक्त नही हो सकता।[5] इस कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं—[6]

१—नरकायु	३—मनुष्यायु
२—तिर्यञ्चायु	४—देवायु।

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक—८/९—१० ॥
२ स्थानांग सूत्र-टीका—२/४/१०५ ॥
३ (क) उत्तराध्ययन सूत्र—३३/२१
 (ख) सप्ततिर्मोहनीयस्य।
४ प्रज्ञापना सूत्र २३/१ ॥,
५ (क) जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हडिव्व णरं।
 गोम्मटसार कर्मकाण्ड—११
 (ख) सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं
 प्रथम कर्म ग्रन्थ—२३ ॥
६ नेरइयतिरिक्खाउं मणुस्साउं तहेव य।
 देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं ॥
 उत्तराध्ययन सूत्र ३३/१२ ॥

इस प्रकार कषायमोहनीय के सोलह भेद हुए। इसके उदय से सांसारि
प्राणियों में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं। कषाय शब्द कष और आय इन द
शब्दों से निष्पन्न हुआ है। कष का अर्थ है—संसार और आय का अर्थ है-
लाभ। तात्पर्य यह है कि जिससे संसार अर्थात् भव-भ्रमण की अभिवृद्धि हो
है वह कषाय कहलाता है।[1]

अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदय से आत्मा अनन्तकाल-पर्यन्त संसार
परिभ्रमणशील रहता है, यह कषाय सम्यक्त्व का प्रतिघात करता है[2] अप्रत्य
ख्यानावरणीय चतुष्क के प्रभाव से श्रावक धर्म अर्थात् देश-विरति की प्रा
नहीं होती है।[3] प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के प्रभाव से श्रमण धर्म[4] की प्रा
नहीं हो सकती।[5] संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र अर्थ
उत्कृष्ट चारित्र धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।[6]

अनन्तानुबन्धी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की है। अप्रत्याख्या
चतुष्क की एक वर्ष की है, प्रत्याख्यानी कषाय की चार मास की है और संज्वल
कषाय की स्थिति एक पक्ष की है।[7]

नोकषाय मोहनीय—जिन का उदय कषायों के साथ होता रहता
अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं, वे नोकषाय कहलाते हैं।[8] इसका दूस

---

१ कम्मं कसो भवो वा, कसमाओ सिं कसाया तो।
कसमाययंति व जओ, गमयंति कसं कसायत्ति॥
विशेषावश्यक भाष्य गाथा-१२२७॥

२ तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य—अ० ८ सूत्र-१०॥

३ अप्रत्याख्यान कषायोदयाद्विरतिर्नभवति।
तत्त्वार्थ भाष्य-८/१०॥

४ तत्त्वार्थ सूत्र-८/१०॥ भाष्य॥

५ तत्त्वार्थ सूत्र ८/१० भाष्य

६ (क) गोम्मटसार जीवकाण्ड-२८३॥
(ख) संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति
तत्त्वार्थ सूत्र ८/१० भाष्य

७ (क) जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनर अमरा।
सम्माणुसव्वविरई अहखायचरित्तघायकरा॥
—प्रथम कर्मग्रन्थ-गाथा १८
(ख) अंतो मुहुत्तपक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण॥
गोम्मटसार कर्म काण्ड॥

८ [illegible]

ाम अकषाय भी है।[१] अकषाय का अर्थ कषाय का अभाव नही, किन्तु सत् कषाय, अल्प कषाय है । इसके नव प्रकार हैं—

१–हास्य	५–शोक
२–रति	६–जुगुप्सा
३–अरति	७–स्त्रीवेद
४–भय	८–पुरुषवेद

९–नपु सकवेद

इस प्रकार चारित्र मोहनीय की इन पच्चीस प्रकृतियो मे से सज्वलन-कषाय चतुष्क और नोकषाय ये देशघाती हैं, और अवशेष जो बारह प्रकृतियां हैं वे सवघाती कहलाती हैं।[२] इस कर्म की जघन्य-स्थिति अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है।[३]

५ आयुष्य कर्म

आयुष्यकर्म के प्रभाव से प्राणी जीवित रहता है और इस का क्षय होने पर मृत्यु का वरण करता है।[४] यह जीवन अवधि का नियामक तत्त्व है। इसकी परितुलना कारागृह से की गई है। जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी के अपराध को सलक्ष्य मे रखकर उसे नियतकाल तक कारागृह मे डाल देता है, जब तक अवधि पूर्ण नही होती है तब तक वह कारागृह से विमुक्त नही हो सकता। उसी प्रकार आयुष्य-कर्म के कारण ही सासारिक जीव रस, देह-पिण्ड से मुक्त नही हो सकता।[५] इस कर्म की उत्तर प्रकृतियां चार हैं—[६]

१–नरकायु	३–मनुष्यायु
२–तिर्यञ्चायु	४–देवायु।

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक–८/९–१० ॥
२ स्थानांग सूत्र-टीका–२/४/१०५ ॥
३ (क) उत्तराध्ययन सूत्र–३३/२१
(ख) सप्तर्निर्मोहनीयस्य।
४ प्रज्ञापना सूत्र २३/१ ॥,
५ (क) जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हडिव्व णरं।
गोम्मटसार कर्मकाण्ड–११
(ख) सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं
प्रथम कर्म ग्रन्थ–२३ ॥
६ नेरइयतिरिक्खाउ मणुस्साउं तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं ॥
उत्तराध्ययन सूत्र ३३/१२ ॥

आयुष्क कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम वर्ष की है।[1]

६ नाम कर्म

जिस कर्म के कारण आत्मा गति, जाति, शरीर आदि पर्यायों के अनुभव करने के लिये बाध्य होती है वह नाम कर्म है।[2] इस कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी कमनीय कल्पना से मानव पशु-पक्षी आदि विविध प्रकारों के चित्र चित्रित कर देता है, उसी प्रकार नाम कर्म भी नारक-तिर्यंच, मनुष्य और देव के शरीर आदि की संरचना करता है। तात्पर्य यह है कि यह कर्म शरीर, इन्द्रिय, आकृति, यश अपयश आदि का निर्माण करता है।[3]

नामकर्म के प्रमुख प्रकार दो हैं—शुभ और अशुभ।[4] अशुभ नामकर्म पापरूप हैं और शुभ नामकर्म पुण्यरूप हैं।

नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों की संख्या के सम्बन्ध में अनेक विचार धाराएँ हैं। मुख्य रूप से नामकर्म की प्रकृतियों का उल्लेख इस प्रकार से मिलता है—नामकर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ भी होती हैं।[5] जैन आगम साहित्य में व अन्य ग्रन्थों में नामकर्म के तिरानवे भेदों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[6]

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र-३३/२२।

२ नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम।
प्रज्ञापना सूत्र २३/१/२८८ टीका

३ जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइं कुणइ रूवाइं।
सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहिं वण्णेहिं॥
तह नामंपि हु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स॥
स्थानांग सूत्र-२/४॥१०५ टीका

४ नामं कम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं॥
उत्तराध्ययन ३३/१३॥

५ (क) प्रज्ञापना सूत्र-२३/२-२९३
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र-८/१२॥
(ग) नामकम्मे बायालीसविहे पण्णत्ते।
समवायांग सूत्र-समवाय-४२

६ (क) प्रज्ञापना सूत्र-२३/२/२९३॥
(ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड-२२॥

कम-विपाक ग्रन्थ मे एक सौ तीन भेदो का प्रतिपादन मिलता है।[1] अन्यत्र इकहत्तर उत्तर प्रकृतियो का उल्लेख मिलता है, जिनमे शुभ नामकम की सैंतीस प्रकृतियाँ मानी गई हैं।[2]

बयालीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

१ गतिनाम	२२ स्थावरनाम
२ जातिनाम	२३ सूक्ष्मनाम
३ शरीरनाम	२४ वादरनाम
४ शरीर अगोपाङ्गनाम	२५ पर्याप्तनाम
५ शरीर बन्धननाम	२६ अपर्याप्तनाम
६ शरीर सघातननाम	२७ साधारण शरीरनाम
७ सहनननाम	२८ प्रत्येक शरीरनाम
८ सस्थाननाम	२९ स्थिरनाम
९ वर्णनाम	३० अस्थिरनाम
१० गन्धनाम	३१ शुभनाम
११ रसनाम	३२ अशुभनाम
१२ स्पर्शनाम	३३ सुभगनाम
१३ अगरुलघुनाम	३४ दुर्भगनाम
१४ उपघातनाम	३५ सुस्वरनाम
१५ परघातनाम	३६ दु स्वरनाम
१६ आनुपूर्वीनाम	३७ आदेय नाम
१७ उच्छ्वासनाम	३८ अनादेय नाम
१८ आतपनाम	३९ यश कीर्तिनाम
१९ उद्योतनाम	४० अयश कीर्तिनाम
२० विहायोगतिनाम	४१ निर्माणनाम
२१ त्रसनाम	४२ तीर्थंकर नाम

नामकर्म की जघन्यस्थिति आठ मुहूर्त की है और उत्कृष्ट-स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है।[3]

---

१ कमग्रन्थ प्रथम भाग गाथा-३

२ सत्तसीस नामस्स पयई आ पुसमाहु (हु) ता य इमो ॥

नवतत्त्वप्रकरणम्-७ भाष्य-३७ ॥

३ (क) उदहीसरिसनामाण वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा अट्ठमुहुत्ता जहन्निया ॥

उत्तराध्ययन सूत्र-३३/२३

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र-८/१७-२० ॥

को यों भी अभिव्यक्त किया जा सकता है कि—ग्रहण और फल ! कर्म-ग्रहण में जीव परतन्त्र नहीं है और उस कर्म का फल भोगने में वह स्वतन्त्र नहीं है। कल्पना कीजिये—एक व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ जाता है, चढ़ने में वह अवश्य स्वतन्त्र है। वह स्वेच्छा से वृक्ष पर चढ़ता है। प्रमाद के कारण वह वृक्ष से गिर जाय। गिरने में वह स्वतन्त्र नहीं है। इच्छा से वह गिरना नहीं चाहता है तथापि वह गिर पड़ता है। निष्कर्ष यह है कि वह गिरने में परतन्त्र है।

वस्तुतः कर्मशास्त्र के गुरु गम्भीर रहस्यों का परिज्ञान होना अतीव आवश्यक है। रहस्यों के परिबोध के बिना आध्यात्मिक-चेतना का विकास पथ प्रशस्त नहीं हो सकता। इसलिये कर्मशास्त्र की जितनी भी गहराइयाँ हैं, उनमें उतरकर उनके सूक्ष्म रहस्यों को पकड़ने का प्रयत्न किया जाय। उद्घाटित करने की दिशा में अग्रसर होने का उपक्रम करना होगा।

हमारी जो आध्यात्मिक चेतना है, उसका सारा का सारा विकास कर्म मोह के विजय पर आधारित है। मोह का आवेग जितना प्रबल होता जाता है मूर्च्छा भी प्रबल और सघन हो जाती है, परिणामतः हमारा आचार व विचार पक्ष भी विकृत एवं निर्बल होता चला जाता है। उसके जीवन प्राङ्गण में विपर्यय ही विपर्यय का चक्र घूमता है। जब मोह के आवेग की तीव्रता में मन्दता आती है, तब स्पष्ट है कि उसकी आध्यात्मिक चेतना का विकास क्रम भी बढ़ता जाता है। उससे भेद विज्ञान की उपलब्धि होती है। मैं इस कायमान शरीर से भिन्न हूँ, मैं स्वयं शरीर रूप नहीं हूँ। इस स्वर्णिम समय में अन्तर्दृष्टि उद्घाटित होती है। वह दिव्य दृष्टि के द्वारा अपने आप में विद्यमान परमात्म-तत्त्व से साक्षात्कार करता है।

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध की परिधि को लक्ष्य में रखकर जैन कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में शोध प्रधान आयामों को उद्घाटित करने की दिशा में विनम्र उपक्रम किया गया है। यह एक ध्रुव-सत्य है कि जैन-साहित्य के अगाध अपार महासागर में कर्म-वाद विषयक बहुआयामी सन्दर्भों की रत्नराशि जगमगा रही है। जिससे जैन-वाङ्मय का विश्व-साहित्य में विशिष्ट गौरवास्पद स्थान है।

६ कर्म-विमर्श
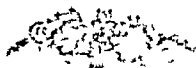
□ श्री भगवती मुनि 'निर्मल'

कम सिद्धान्त भारत के आस्तिक दर्शनो का नवनीत है। उसकी आधार-शिला है। कम की नीव पर ही उसका भव्य महल खडा हुआ है। कम के स्वरूप निर्णय मे विचारो की, मतों की विभिन्नता होगी पर अध्यात्म सिद्धि कम मुक्ति के केन्द्र स्थान पर फलित होती है, इसमे दो मत नही हो सकते। प्रत्येक दशन ने किसी न किसी रूप मे कम की मीमासा की है। चूंकि जगत् की विभक्ति, विचित्रता व साधनों की समानता होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है।

लौकिक भाषा मे कर्म कत्तव्य है। कारक की परिभाषा से कर्त्ता का व्याप्य कम है। वेदान्ती अविद्या, बौद्ध वासना, साख्य क्लेश और न्याय वैशेषिक अदृष्ट तथा ईसा, मोहम्मद, और मूसा शैतान एव जैन कम कहते हैं। कई दशन कम का सामान्य निर्देशन करते हैं तो कई उसके विभिन्न पहलुओ पर सामान्य दृष्टिक्षेप कर आगे बढ जाते हैं। न्याय दशनानुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे और बुरे कर्मों का आत्मा पर सस्कार जिसके द्वारा पडता है वह अदृष्ट कहलाता है। सद्-असद् प्रवत्ति से प्रकम्पित आत्म प्रदेश द्वारा पुद्गल स्कन्ध को अपनी ओर आकर्षित करने मे कुछ पुद्गल स्कन्ध तो विसर्जित हो जाते हैं तो शेष चिपक जाते हैं। चिपकने वाले पुद्गल स्कन्धा का नाम ही कर्म है। जब तक कर्म का फल नही मिलेगा, तब तक कम आत्मा के साथ ही रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। यथा—

> ईश्वर कारण पुरुष कर्माफलस्य दशनात
>
> —न्यायसूत्र ४/१/

चूंकि यदि ईश्वर कम फल की व्यवस्था न करे तो कम फल निष्फल हो जायेंगे। साख्य सूत्र के मतानुसार कर्म तो प्रकृति का विकार है। यथा—

> अन्त करण धर्मत्व धर्मादीनाम्
>
> —सांख्य सूत्र ५/२५

सुन्दर व असुन्दर प्रवृत्तियो का प्रकृति पर सस्कार पडता है। उस प्रकृतिगत सस्कारो से ही कर्मों के फल मिलते हैं। जैन दशन ने कर्म का स्वतन्त्र

प्रदेशो मे जो उदीयमान कपाय थी, उसका वाह्य निमित्त मिलने पर विपाकीकरण होता है। उस विपाकीकरण को ही कपाय मे उदीरणा कहा जाता है।

आयुष्य कम की उदीरणा शुभ अशुभ दोनो योगो से होती है। अनशन, सलेखना आदि शुभ योग से आत्मघात, अपमृत्यु आदि के अवसरो पर अशुभ योग की उदीरणा है पर इससे उक्त कथन पर किसी भी प्रकार की आपत्ति नही होती। क्योकि आयुष्य कम की प्रक्रिया मे सात कर्मो की काफी भिन्नता है। प्रयत्न विशेष से सजातीय प्रकृतियो मे परस्पर परिवर्तित होना सक्रमण है। कर्मों का अन्तमुहूर्त पयन्त तक सवथा अनुदय अवस्था का नाम उपशम है। निधत्त अवस्था कर्मों की सघन अवस्था है। इस अवस्था मे कर्म और आत्मा का ऐसा सम्बन्ध जुडता है जिसमे उदवत्तन, अपवतन के अलावा और कोई प्रयत्न नहीं होता। निकाचित कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ बहुत ही गाढ है। इसमे भी किसी भी प्रकार का परिवतन कदापि नही होता। सव करण अयोग्य हो जाते हैं। निकाचित के सम्बन्ध मे एक मान्यता है कि इसको विपाकोदय मे भोगना अनिवाय है। एक धारणा यह है कि निकाचित भी बहुधा प्रदेशोदय से क्षीण करते हैं। चूकि सद्धान्तिक मान्यता है कि नरक गति की स्थिति कम से कम १००० सागर के सातिय दो भाग २०५ सागर के करीब है। नरकायु की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम है। यदि नरक का निकाचित वन्धन है तो २०५ सागर की स्थिति को विपाकोदय में कहाँ कैसे भोगेंगे ? जबकि नरकायु अधिकतम ३३ सागर का ही है। जहा विपाकोदय भोगा जा सकता है। इससे सहज ही यह सिद्ध हो जाता है कि निकाचित से भी हम विना विपाकोदय में मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। प्रदेशोदय के भोग से निझरण हो सकता है।

निकाचित और दलिक कर्मो मे सबसे बडा अन्तर यह है कि दलिक मे उदवतन, अपवतन आदि अवस्थाए वन सकती हैं पर निकाचित मे ऐसा परिवतन नही होता।

शुभ परिणामों की तीव्रता से दलिक कम प्रकृतियों का ह्रास होता है और तपोवल से निकाचित का भी।

—सव्व पगई मेव परिणाम वासाद सक्कमो होज्जापापम निकाईयाण निकाइमाणापि।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कम ही है। कम सयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत्त होती है या विकृत होती है। कम नष्ट होने पर ही उसका शुभ स्वरुप प्रकट होता है। कममुक्त आत्मा पर वाहरी वस्तु का प्रभाव कदापि नहीं पडता। कमवद्ध आत्मा पर ही वाहरी परिस्थिति

का असर पड़ता है और वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। ज्यों-ज्यों शुद्धता की मात्रा वृद्धिगत होती है त्यों-त्यों ही बाहरी वातावरण का प्रभाव समाप्त सा होता जाता है। यदि शुद्धि की मात्रा कम होती है तो बाहरी प्रभाव उस पर छा जाता है। विजातीय सम्बन्ध—विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुँच कर्म संघटना पर्यन्त ही है। उससे कर्म संघटना प्रभावित होती है। फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म संस्थान को प्रभावित न कर सके उसका आत्मा पर प्रभाव किंचित भी नहीं पड़ता। बाहरी परिस्थितियाँ सामूहिक होती हैं। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है।

परिस्थिति

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सहस्थिति का नाम ही परिस्थिति है। एकान्त, काल, क्षेत्र, स्वभाव पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है। यह एकान्त असत्य मिथ्या है। काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ बनता है यह सापेक्ष दृष्टि सत्य है। वर्तमान की जो विचार धारा में काल मर्यादा, क्षेत्र मर्यादा, स्वभाव मर्यादा, पुरुषार्थ मर्यादा और नियति मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त दृष्टि है, वैसा कर्म मर्यादा का नहीं रहा। जो कुछ होता है वह कर्म से ही होता है ऐसा भाव साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद है जो सत्य से दूर है। आत्म गुण का विकास कर्म से नहीं कर्म विलय से होता है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन दृष्टिकोण यह है कि रोग देशकाल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता किन्तु देश काल की स्थिति से कर्म की उदीरणा होती है। उत्तेजित कर्म पुद्गल रोग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार का जितनी भी बाहरी परिस्थितियाँ हैं वे सब कर्म पुद्गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म पुद्गल आत्मा में भिन्न भिन्न परिणमन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव सिद्ध धर्म है। जब वह संयोग कृत होता है तब विभाव रूप होता है। दूसरों के संयोग से नहीं होता। उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन जहाँ कर्म को संस्कार या वासना रूप मानते हैं वहाँ जैन दर्शन उसे पौद्गलिक भी मानता है। जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नहीं होता। आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु कैसे बन सकता है ? कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु है। गुणों का विघातक है। अतः वह आत्मा का गुण नहीं हो

सकता । अत कर्म पुद्गल है । कर्म भौतिक है, जड़ है । चू कि वह एक प्रकार का वन्धन है । जो बन्धन होता है वह भौतिक होता है । बेडी मानव को आवद्ध करती है । कूल (किनारा) नदी को घेरते है । बडे-बडे बाँध पानी को बाँध देते हैं । महाद्वीप समुद्र से आवद्ध हैं । ये सव भौतिक हैं अत वन्धन हैं ।

आत्मा की वैकारिक अवस्थाएँ अभौतिक होती हुई भी बन्धन की भाँति प्रतीत होती हैं । पर वास्तविकता यह है कि बधन नही, बध जनित अवस्थाए हैं । पुष्टकारक भोजन से शक्ति सचित होती है । पर दोनो मे समानता नही है । शक्ति भोजन जनित अवस्था है । एक भौतिक है, अन्य अभौतिक है ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव ये पाँच द्रव्य अभौतिक हैं । अत किसी के वन्धन नही है । भारतीयेतर दर्शनो मे कम को अभौतिक माना है ।

कम सिद्धान्त यदि तात्विक है तो पाप करने वाले सुखी और पुण्य करने वाले दु खी क्यो देखे जाते हैं ? यह प्रश्न भी समस्या मूलक नही है । क्योकि बधन और फल की प्रक्रिया भी कई प्रकार से होती है । जैन दशनानुसार चार भग हैं । यथा—

पुण्यानुबधी पाप, पापानुबधी पुण्य, पुण्यानुबधी पुण्य व पापानुबधी पाप । भोगी मनुष्य पूवकृत पुण्य का उपभोग करते हुए पाप का सजन करते हैं । वेदनीय कम को समभाव से सहनकर्त्ता पाप का भोग करते हुए पुण्याजन करते हैं । सव सामग्री से सम्पन्न होते हुये भी धमरत प्राणी पुण्य का भोग करते हुए पुण्य सचयन करते हैं । हिंसक प्राणी पाप भोगते हुए पाप को जन्म देते हैं ।

उपर्युक्त भगो से यह स्पष्ट है कि जो कम मनुष्य आज करता है उसका प्रतिफल तत्काल नही मिलता । बीज वपन करने वाले को कही शीघ्रता से फल प्राप्त नही होता । लम्बे समय के बाद ही फल मिलता है । इस प्रकार कृत कर्मों का कितन समय पर्यंत परिपाक होता है, फिर फल की प्रक्रिया चलती है । पाप करने वाले दु खी और पुण्य करने वाले सुखी इसीलिए हैं कि वे पूव कृत पाप पुण्य का फल भोग रहे हैं ।

अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव

कम मूर्त है जबकि आत्मा अमूर्त है । अमूर्त आत्मा पर मूर्त का उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है जबकि अमूर्त आकाश पर चन्दन का लेप नही हो सकता । न मुष्टि का प्रहार भी । यह तर्क समीचीन है पर एकांत नहीं है । चू कि ब्राह्मी आदि पौष्टिक तत्वों के आसेवन से अमूर्त ज्ञान शक्ति में स्फुरणा होती हैं । मदिरा आदि के सेवन से मूर्छना भी । यह मूर्त का अमूर्त पर स्पष्ट प्रभाव है । यथाथ में ससारी आत्मा कथचित मूर्त भी है । मल्लिषेण सूरि के शब्दों मे—

संसारी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु चिपके हुए हैं। अग्नि के तपने और घन से पीटने पर सुइयों का समूह एकीभूत हो जाता है। इसी भांति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध संश्लिष्ट है। यह सम्बन्ध जड चेतन को एक करने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं किन्तु क्षीर-नीर का सम्बन्ध है। अत आत्मा अमूर्त है यह एकान्त नहीं है। कर्म बंध की अपेक्षा से आत्मा कथंचित मूर्त भी है।

कर्म बंध के कारण

कर्म संबंध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बंध का कारण है। भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! क्या जीव कांक्षा मोहनीय कर्म का बन्धन करता है?

भगवान्—गौतम! हां, बन्धन करता है।

गौतम —वह किन कारणों से बंधन करता है?

भगवान्—गौतम! उसके दो कारण हैं। प्रमाद व योग।

गौतम —भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—योग से।

गौतम —योग किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—वीर्य से।

गौतम —वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

गौतम —शरीर किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—जीव से।

अर्थात् जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा मोह) का बंधन करता है। 'स्थानांग' सूत्र और 'प्रज्ञापना' सूत्र में कर्म बंध के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कारण बताये हैं।

गौतम—भगवन्! जीव कर्म बंध कैसे करता है?

भगवान् ने उत्तर में कहा कि गौतम! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शन मोह का उदय होता है। दर्शन मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों का बंधन करता है।

'स्थानाग सूत्र' ४१८, समवायाग ५ एव उमा स्वाति ने तत्त्वाथ सूत्र मे कम बध के पाँच कारण निर्देशित किये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय एव योग। यथा—

मिथ्यादशनाविरति प्रमाद कपाय योगा वध हेतव ।

—तत्त्वाथ ८/१

कपाय और योग के समवाय सवध से कर्मों का वध होता है—

"जोग बन्धे कपाय बन्धे"।

—समवायाग

कम बन्ध के चार भेद हैं। कम की चार प्रक्रियाए हैं—१ प्रकृति बन्ध, २ स्थिति बन्ध, ३ अनुभाग बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध। ग्रहण के समय कम पुद्गल एकरूप होते हैं किन्तु वध काल मे आत्मा का ज्ञान, दशन आदि भिन्न भिन्न गुणो को अवरुद्ध करने का भिन्न भिन्न स्वभाव हो जाना प्रकृति वध है। उनमे काल का निणय स्थिति वध है। आत्म परिणामो की तीव्रता और मदता के अनुरूप कम वध मे तीव्र और मदरस का होना अनुभाग वध है। कम पुद्गलो की सख्या निर्णिति या आत्मा और कम का एकीभाव प्रदेशवध है।

कम वध की यह प्रक्रिया मोदक के उदाहरण से प्रदर्शित है। मोदक पित्त-नाशक है या कफ वधक, यह उसके स्वभाव पर निभर है। उसकी कालावधि कितनी है। उसकी मधुरता का तारतम्य रस पर अवलम्बित है। मोदक कितने दानो से बना है यह सख्या पर निभर करता है। मोदक की यह प्रक्रिया कम वध की सुन्दर प्रक्रिया है।

जोगा पयडिपएस ठिई अणुभाग कसाय श्रो कुणइ

कपाय के अभाव मे साम्परायिक कम का वध नही होता। दसवें गुण-स्थान पर्यंत योग और कपाय का उदय रहता है अत वहाँ तक साम्परायिक वध होता है। कपाय और योग से होने वाला वध साम्परायिक कहलाता है। गमनागमन आदि क्रियाओ से जो कम वध होता है, वह ईर्यापथिक कम कहलाता है। ईर्यापथिकी कर्म की स्थिति उत्तराध्ययन सूत्रानुसार दो समय की है।

राग मे माया और लोभ का तथा द्वेष मे क्रोध और मान का समावेश हो जाता है। राग और द्वेष द्वारा ही अष्ट विध कर्मों का बन्ध होता है। राग-द्वेष ही भाव कम है। राग व द्वेष का मूल मोह है। आचार्य हरिभद्र सूरि के शब्दो में—

स्नेहासिक्त शरीरस्य रेणुनाश्लेष्यते यथा गात्रम ।
राग द्वेषाक्लिन्नस्य कर्म बन्धो भवत्येवम् ॥

—आवश्यक टीका

जिस मानव के शरीर पर तेल का लेपन किया हुआ है, उसका शरीर उड़ने वाली धूल से लिप्त हो जाता है। उसी भाँति राग-द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए मानव पर कर्म रज का बंध होता है। राग-द्वेष की तीव्रता से ही ज्ञान में विपरीतता आती है। जैन दर्शन की भाँति बौद्ध दर्शन ने भी कर्म बंध का कारण मिथ्या ज्ञान अथवा मोह को स्वीकार किया है।

सम्बन्ध का अनादित्व

जैन दर्शन में आत्मा निर्मल तत्त्व है। वैदिक दर्शन में ब्रह्म तत्त्व विशुद्ध है। कर्म के सम्पर्क से वह मलिन होता है। पर इन दोनों का संयोग कब हुआ? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर अनादित्व की भाषा में दिया है। चूँकि आदि मानने पर अनेक विसंगतियाँ उपस्थित हो जाती हैं जैसे कि सम्बन्ध यदि सादि है तो पहले कौन? आत्मा या कर्म या दोनों का सम्बन्ध है? प्रथम प्रकारेण पवित्र आत्मा कर्म बंध नहीं करती। द्वितीय भंग में कर्म कर्त्ता के अभाव में बनते नहीं। तृतीय भंग में युगपत् जन्म लेने वाले कोई भी पदार्थ परस्पर कर्त्ता, कर्म नहीं बन सकते। अतः कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध का सिद्धांत अकाट्य है।

इस सम्बन्ध में एक सुन्दर उदाहरण प्रसिद्ध विद्वान् हरिभद्र सूरि का है। वर्तमान समय का अनुभव होता है। फिर भी वर्तमान अनादि है क्योंकि अतीत अनन्त है। और कोई भी अतीत वर्तमान के बिना नहीं बना। फिर भी वर्तमान का प्रवाह कब से चला, इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में अनादित्व ही अभिव्यक्त होता है। इसी भाँति आत्मा और कर्म का सम्बन्ध वैयक्तिक दृष्टया सादि होते हुए भी प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। आकाश और आत्मा का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। पर कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्ण मृत्तिका की भाँति अनादि सान्त है। अग्नि प्रयोग से स्वर्ण मिट्टी को पृथक्-पृथक् किया जाता है तो शुभ अनुष्ठानों से कर्म के अनादि सम्बन्ध को खण्डित कर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिलता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।'

कर्म फल का नियन्ता ईश्वर है। यह जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। जैन दर्शन यह स्वीकार करता है कि कर्म परमाणुओं के और आत्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम उत्पन्न होता है जिससे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भवगति, स्थिति प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक प्रदर्शन में समर्थ होकर आत्मा

के सस्कार को मलीन-कलुषित करता है। उससे उनका फलायोग होता है। अमृत और विष पथ्य और अपथ्य मे कुछ भी ज्ञान नही होता तथापि आत्मा का सयोग पाकर वे अपनी प्रकृत्यानुसार प्रभाव डालते हैं। जिस प्रकार गणित करने वाली मशीन जड होने पर भी अक गणना मे भूल नही करती वैसे ही कम जड होने पर भी फल देने मे भूल नही करते। अत ईश्वर का नियता मानने की आवश्यकता नही। कम के विपरीत वह कुछ भी देने मे समथ नही होगा।

एक तरफ ईश्वर को सव शक्तिमान मानना दूसरी तरफ अश मात्र भी परिवतन का अधिकार नही देना ईश्वर का उपहास है। इससे तो अच्छा है कि कम को ही फल प्रदाता मान लिया जाये।

कम बध और उसके भेद

माकन्दी ने अपनी जिज्ञासा के शमनाथ प्रश्न किया कि भगवन्! भाव-बध के भेद कितने हैं?

भगवान्—माकन्दी पुत्र, भाव बध दो प्रकार का है—

मूल प्रकृति बध और उत्तर प्रकृति बध।

बध आत्मा और कर्म के सम्बध की पहली अवस्था है। वह चतुर्रूप है। यथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। बन्ध का अथ है आत्मा और कम का सयोग। और कम का निर्मापणा व्यवस्थाकरण—बधनम निर्मापणम। (स्था० ८/५९६) ग्रहण के समय कम पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात व आत्म प्रदेशो के साथ एकीभूत हो जाते हैं। इसके पश्चात कम परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गो मे बट जाते हैं—ज्ञानावरण, दशनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अतराय।

कम दो प्रकार के हैं घाती कर्म और अघाती कम। ज्ञानावरण, दशनावरण मोहनीय और अतराय ये चार घनघाती, आत्म शक्ति के घातक, आवरक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। इनके दूर हो जाने पर ही आत्म गुण प्रकट होकर निज स्वरूप मे आत्मा आ जाती है। शेष चार अघाती कम हैं। ये मुख्यत आत्म गुणो का घात नही करते हैं। ये शुभ अशुभ पौद्गलिक दशा के निमित्त हैं। ये अघाती कम वाह्यार्थपेक्षी हैं। भौतिक तत्त्वो की इनसे प्राप्ति होती है। जीवन का अथ है—आत्मा और शरीर का सहभाव। शुभ-अशुभ शरीर निर्माणकारी कम वगणाए नाम कम। शुभ-अशुभ जीवन को बनाये रखने वाली कम वगणाए आयुष्य कम। व्यक्ति को सम्माननीय असम्माननीय बनाने वाली कर्म वगणाए गोत्र कम और सुख-दुखानुभूतिकारक कम वगणाएं वेदनीय कम कहलाती हैं।

तीसरी अवस्था काल मर्यादा की है। प्रत्येक कर्म प्रत्येक आत्मा के साथ निश्चित समय पर्यन्त रह सकता है। स्थिति परिपक्व होने पर वह आत्मा से अलग हो जाता है। चौथी अवस्था फल दान शक्ति की है। तदनुसार पुद्गलों में इसकी मन्दता व तीव्रता का अनुभव होता है।

आत्मा का स्वातन्त्र्य व पारतन्त्र्य -

सामान्यत यह कहा जाता है कि आत्मा कर्तृ त्वापेक्षा से स्वतन्त्र है पर भोगने के समय परतन्त्र। उदाहरणार्थ विष को खा लेना अपने हाथ की बात है पर मृत्यु से विमुख होना स्वय के हाथ में नहीं है। चूकि विष को भी विष से निर्विष किया जा सकता है। मृत्यु टल सकती है। आत्मा का भी कर्तापन में व भोगतेपन में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनो फलित होते हैं।

सहजतया आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इच्छानुसार कर्म कर सकती है। कर्म विजेता बन पूर्ण उज्ज्वल बन सकती है। पर कभी-कभी पूर्वजनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह इच्छानुसार कुछ भी नहीं कर सकती। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर चलना चाहती हुई भी चल नहीं सकती। यह है आत्मा का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के पश्चात् भी आत्मा कर्माधीन हो जाती है यह भी नहीं कहा जा सकता। उसमें भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित रहता है, उसमें भी अशुभ को शुभ में परिवर्तित करने की क्षमता निहित है।

कर्म का नाना रूपों में दिग्दर्शन

कर्म बद्ध आत्मा के द्वारा आठ प्रकार की पुद्गल वर्गणाएँ गृहीत होती हैं। औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस् वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा और मनोवर्गणा। इनमें कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल होते हैं वे कर्म बनने के योग्य होते हैं। उनके तीन लक्षण हैं—

१ अनन्त प्रदेशी स्कन्धत्व।

२ चतु स्पर्शित्व।

३ सत् असत् परिणाम ग्रहण सामर्थ्य।

असंख्यात्-असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात और आठ स्पर्श वाले पुद्गल स्कन्ध कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। आत्मा की शुभ अशुभ प्रवृत्ति (आस्रव) के बिना ग्रहण

प्रवत्ति से ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल स्कन्ध कम रूप मे परिणित नही हो सकते। कम योग्य पुद्गल ही आत्मा की सत् असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कम बनते हैं। कम की प्रथम अवस्था बन्ध है तो अन्तिम अवस्था वेदना है। कर्म की विसम्बन्धी निर्जरा है किन्तु वह कम की नही अकर्म की है। वेदना कम की और निर्जरा अकम की।

कम्म वेयणा जो कम्म निज्जरा।

—भग० ७/३

अत व्यवहार मे कम की अन्तिम दशा निर्जरा और निश्चय मे वह वेदना मानी गई है। बन्ध और वेदना या निजरा के मध्य मे भी अनेक अवस्थाए हैं जो उपयुक्त बद्धादि हैं।

कम-क्षय की प्रक्रिया

कम क्षय की प्रक्रिया जैन दशन मे गहराई लिये हुए है। स्थिति का परिपाक होने पर कर्म उदय मे आते हैं और झड जाते हैं। कर्मों को विशेषरूपेण क्षय करने के लिये विशेप साधना का मार्ग अवलम्बन करना पडता है। वह साधना स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि माग से होती है। इन मार्गों से सप्तम गुण-स्थान पर्यन्त कम क्षय विशेष रूप से होते हैं। अष्टम गुणस्थान के आगे कम क्षय की प्रक्रिया परिवर्तित हो जाती है। १ अपूव स्थिति घात, २ अपूर्व रसघात, ३ गुण श्रेणी, ४ गुण सक्रमण, ५ अपूर्व स्थिति बन्ध। सव प्रथम आत्मा अपवतन करण के माध्यम से कर्मों को अन्तमुहूत्त मे स्थापित कर गुण श्रेणी का निर्माण करती है। स्थापना का यह क्रम उदयकालीन समय को लेकर अन्तमुहूत्त पयन्त एक उदयात्मक समय का परित्याग कर शेप जितना समय है, उनमे कम दलिकों को स्थापित किया जाता है। प्रथम समय मे कर्म दलिक बहुत कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित कम दलिक उससे असख्यात गुण अधिक होते हैं। तृतीय समय मे उससे भी असख्यात गुण अधिक होने से इसे गुण श्रेणी कहा जाता है।

गुण सक्रमण अशुभ कर्मों की शुभ मे परिणति होती जाती है। स्थापना का क्रम गुण श्रेणी की भाँति ही है। अष्टम गुणस्थान से चतुदश गुणस्थान पर्यन्त ज्यों ज्यों आत्मा आगे बढती जाती है त्यों-त्यों समय स्वल्प और कर्मदलिक अधिक मात्रा मे क्षय हो जाते हैं। इस समय आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति कर्मों का बन्धन करती है जैसा उसने पहले कभी नहीं किया है। अत इस अवस्था का नाम अपूर्व स्थिति बन्ध कहलाता है। स्थितिघात और रसघात भी इस समय मे अपूव ही होता है, अत यह अपूर्व शब्द के साथ सलग्न हो गया।

"अविदुषो राग द्वेषवत प्रवर्तकाद् धर्मात प्रकृष्टात स्वल्पा धर्म-सहितात् ब्रह्मेन्द्रप्रजापतिपितृमनुष्यलोकेषु आशयानुरूपैरिष्ट शरीरेन्द्रियविषयसुखादिभियोगो भवति । तथा प्रकृष्टाद् धर्माद् स्वल्पधर्मसहितात प्रेततिर्यग्योनिस्थानेषु अनिष्ट शरीरेन्द्रियविषयदु खादिभियोगो भवति । एव प्रवृत्तिलक्षणाद् धर्माद् अधर्मसहिताद देवमनुष्यतिर्यङ नारकेषु पुन -पुन ससारबन्धो भवति ।"

(पृ २८०-२८१)

अर्थात् राग और द्वेष से युक्त अज्ञानी जीव कुछ अधर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट धर्ममूलक कार्यों के करने से ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक मे अपने आशय-कर्माशय के अनुरूप इष्ट शरीर, इन्द्रियविषय और सुखादिक को प्राप्त करता है तथा कुछ धर्मसहित किन्तु प्रकृष्ट अधर्ममूलक कामो के करने से प्रेतयोनि, तिर्यग्योनि वगैरह स्थानो मे, अनिष्ट शरीर, इन्द्रिय विषय और दु खादिक को प्राप्त करता है । इस प्रकार अधर्म सहित प्रवृत्तिमूलक धर्म से देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारको मे जन्म लेकर बारम्बार ससारबन्ध को करता है ।

न्याय मजरीकार ने भी इसी मत को व्यक्त करते हुए लिखा है—"योऽयम् देवमनुष्यतिर्यग्भूमिषुशरीरसर्ग , यश्च प्रतिविषय बुद्धिसर्ग , यश्चात्मना सह मनस ससर्ग, स सर्व प्रवृत्तेरेव परिणामविभव । प्रवृत्तेश्च सर्वस्या क्रियात्वात् क्षणिकत्वेऽपि तदुपहितो धर्माधर्मशब्दवाच्य आत्मसस्कार कर्मफलोपभोगपर्यन्तस्थितिरस्त्येव न च जगति तथाविध किमपि कार्यमस्तिवस्तु यन्न धर्माधर्माभ्यामाक्षिप्त सम्भवम ।" (पृ ७०)

अर्थात्—देव, मनुष्य और तिर्यग्योनि मे जो शरीर की उत्पत्ति देखी जाती है, प्रत्येक वस्तु को जानने के लिये जो ज्ञान की उत्पत्ति होती है, और आत्मा का मन के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह सब प्रवृत्ति का ही परिणाम है । सभी प्रवृत्तियाँ क्रियारूप होने के कारण यद्यपि क्षणिक हैं, किन्तु उनसे होने वाला आत्मसस्कार, जिसे धर्म या अधर्म शब्द से कहा जाता है, कर्म फल के भोगने पर्यन्त स्थित रहता है । ससार मे ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म या अधर्म से व्याप्त न हो ।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों के उक्त मन्तव्यो से यह स्पष्ट है कि कर्म नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है और उस प्रवृत्ति के मूल में राग और द्वेष रहते हैं तथा यद्यपि प्रवृत्ति, क्रिया या कर्म क्षणिक होता है तथापि उसका सस्कार फलकाल तक स्थायी रहता है । सस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आती है । इसी का नाम ससार है । किन्तु जैन दर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप किसी अश में उक्त मतो से विभिन्न है ।

साथ कर्मों का बन्ध हुआ, ऐसी मान्यता नही है। क्योकि इस मान्यता मे अनेक विप्रतिपत्तिया उत्पन्न होती हैं। 'पचास्तिकाय' मे जीव और कम के इस अनादि सम्बन्ध को जीव पुद्गल कर्म चक्र के नाम से अभिहित करते हुए लिखा है—

"जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होहि परिणामो।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायते।
तेहिं दु विसयगहण तत्तो रागो व दासो वा ॥ (२९)
जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥ (३०)

अथ —जो जीवन ससार मे स्थित है अर्थात जन्म और मरण के चक्र मे पडा हुआ है उसके राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामो से नये कर्म बधते हैं। कर्मों से गतियो मे जन्म लेना पडता है। जन्म लेने से शरीर होता है। शरीर म इन्द्रिया होती हैं। इन्द्रियो से विषयो को ग्रहण करता है। विषयो के ज्ञान से राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार ससार रूपी चक्र मे पडे हुए जीव के भावो से कम और कम से भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है।

इससे स्पष्ट है कि जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बधा हुआ है। जब जीव मूर्तिक कर्मों से बधा है, तब उसके नये कम बधते हैं वे कर्म जीव मे स्थित मूर्तिक कर्मों के साथ ही बधते हैं, क्योकि मूर्तिक का मूर्तिक के साथ सयोग होता है और मूर्तिक का मूर्तिक के साथ बध होता है। अत आत्मा मे स्थित पुरातन कर्मों के साथ ही नये कम बध को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार परम्परा से कदाचित मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कम द्रव्य का सम्बन्ध जानना चाहिये।

साराश यह है कि अन्य दर्शन क्रिया और तज्जन्य सस्कार को कर्म कहते हैं, किन्तु जन दर्शन जीव से सम्बद्ध मूर्तिक द्रव्य और निमित्त से होने वाले राग द्वेष रूप भावों को कम कहता है।

---

८ कर्म और उसका व्यापार

□ डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया

समूह और समुदाय में कर्म के अनेक अर्थ अभिप्राय प्रचलित हैं। कर्म कारक, क्रिया तथा जीव के साथ बंधने वाले विशेष जाति के पुद्गल-स्कंध आदि कर्म के रूप कहे जा सकते हैं। कर्मकारक लोक-प्रसिद्ध भाषा-परिवार में प्रयुक्त रूप प्रसिद्ध है। क्रियाएं समवदान तथा अध कर्म आदि के भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। जीव के साथ बंधने वाले विशेष जाति के पुद्गल स्कन्ध रूप कर्म का जैन सिद्धान्त ही विशेष प्रकार से निरूपण करता है।

कर्म का मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव, मन, वचन तथा काय के द्वारा कुछ न कुछ करता है, वह उसकी क्रिया या कर्म है और मन, वचन तथा काय ये तीन उसके द्वार हैं। सांसारिक आत्मा के इन तीन द्वारों की क्रियाओं से प्रतिक्षण सभी आत्म-प्रदेशों में कर्म होते रहते हैं। अनादि काल से जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। इन दोनों का पारस्परिक अस्तित्व स्वतः सिद्ध है।

मूलतः कर्म को दो भागों में बांटा गया है—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। पुद्गल के कर्मकुल को द्रव्यकर्म कहते हैं और द्रव्यकर्म के निमित्त से जो आत्मा के राग द्वेष, अज्ञान आदि भाव होते हैं, वे वस्तुतः भावकर्म कहलाते हैं। द्रव्य और भाव भेद से जो आत्मा को परतंत्र करता है, दुःख देता है, तथा संसार-चक्र में चक्रमण कराता है वह समवेत रूप में कर्म कहलाता है।

अनन्त काल में कर्म अनन्त हैं। कर्मों का एक कुल होता है। घातिया और अघातिया भेद से उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये शब्द भी अपना पारिभाषिक अर्थ रखते हैं। जीव के गुणों का पूर्णतः घात करने वाले कर्म घातिया कर्म कहलाते हैं और जिनके द्वारा जीव-गुणों का पूर्णतः घात नहीं हो पाता, उन्हें अघातिया कर्म कहा जाता है। घातिया कर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय और अघातिया कर्म—आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय मिलकर आठ प्रकार की कर्म जातियां बनाते हैं। अब यहां प्रत्येक कर्म की प्रकृति के विषय में संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक है।

आत्मा अनन्त ज्ञान रूप है। उसके ज्ञान गुण को प्रच्छन्न करनेवाला कर्म ज्ञानावरण कर्म कहलाता है। इसी प्रकार उसके दर्शन गुण को प्रच्छन्न

करने वाला कर्म दर्शनावरण कर्म कहलाता है। मोहनीय कर्म के आवरण होने
जीव अपने स्वरूप को विस्मृत कर अन्य को अपना समझने लगता है। अन्तराय
का शाब्दिक अर्थ है विघ्न। जिस कर्म के द्वारा दान, लाभ, व्यापार में वि
उत्पन्न होता है, उसे अन्तराय कर्म कहा जाता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य
देव विषयक विविध योनियों-आकार में जीव को घेरनेवाला रोकनेवाला
वस्तुत आयु कर्म कहलाता है। नाम कर्म के द्वारा शरीर और उसके वि
अंगों अवयवों की संरचना सम्पन्न होती है। जीव ऊँच तथा नीच कुल में ज
लेता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा को सुख-दुख का अनु
होता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

आत्मिक गुणों में कर्म का कोई स्थान नहीं है। अज्ञानता से कर्म आत्म
गुणों का प्रच्छन्न करता है। आत्म-गुणों को आकर्षित और प्रभावित करने
लिए कर्म-पुंज जिस मार्ग को अपनाता है उसे आस्रव द्वार कहा जाता है
आस्रव भी एक आगमिक तथा पारिभाषिक शब्द है। इसके अर्थ होते हैं कर्मों
आने का द्वार। कर्म-प्रचार वस्तुत आस्रव कहलाता है। पाप और पुण्य
दृष्टि से आस्रव को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—

१-पुण्यास्रव
२-पापास्रव।

जिनेन्द्र भक्ति, जीवदया आदि शुभ रूप कर्म क्रिया पुण्यास्रव कहलाती
जबकि जीव हिंसा, झूठ बोलना आदि कर्म क्रिया पापास्रव होती है। इनक
शुभ और अशुभ भी कहा जाता है। अब यहाँ हम आठ कर्मों के आस्रव क
संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

आस्रव मार्ग वस्तुत बहुमुखी होता है। ज्ञान केन्द्र तक पहुँचने के लि
आस्रव द्वार दसों दिशाओं में संचार हेतु सर्वदा खुला रहता है। आस्रव मार्ग
यहाँ ही सावधानीपूर्वक जानना और पहिचानना आवश्यक है। ज्ञान और
से ईर्ष्या करना, ज्ञान साधनों में विघ्न उत्पन्न करना, अपने ज्ञान को
करना तथा दूसरों को उसके अवसर न होने देना, गुरु का नाम छिपाना,
का नाश करना इत्यादिक कर्म-क्रियाएँ ज्ञानावरण कर्म का आस्रव कहलाती हैं।

जिनेन्द्र अथवा अर्हत् भगवान के दर्शनों में विघ्न डालना, कि
आँख फोड़ना, दिन में सोना, मुनिजनों को देखकर मन में ग्लानि करना
अपनी दृष्टि का अभिमान करना इत्यादिक कर्म-क्रियाओं से दर्शनावरण
का आस्रव प्रकट होता है।

अपने का तथा दूसरों का दुःख उत्पन्न करना, शोक करना, रोना, वि

इसके साथ ही जीव दया करना, दान करना, संयम पालना, वात्सल्य भाव करना, मुनिजनों की वैय्यावृत्ति (सेवा सुश्रुषा) करना आदि से साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

मोहनीय कर्म का दो तरह से आस्रव होता है—दर्शन और चारित्र। दर्शन मोहनीय कर्म-आस्रव हेतु सच्चे देव, शास्त्र गुरु तज्जन्य धर्म में दोष लगाना होता है और कषायों—क्रोध, मान, माया तथा लोभ की तीव्रता रखना, चारित्र में दोष लगाना तथा मलिन भाव करना चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

आयु कर्म का सीधा सम्बन्ध चतुर्गतियों में आगत जीव से होता है। बहुत आरम्भ एवं परिग्रह करने में नरकायु का आस्रव होता है। मायाचारी (मन से कुछ, वाणी से कुछ और करनी से कुछ और) से तिर्यंचगति का आयु आस्रव होता है। थोड़ा आरम्भ तथा परिग्रह से मनुष्यायु का आस्रव और सम्यक्त्व व्रत पालन, देश संयम, बालतप आदि से देव आयु का आस्रव होता है।

नाम कर्म शुभ और अशुभ दृष्टि से दो प्रकार से आस्रव होता है। मन, वचन, काय को सरल रखना, धर्मात्मा से विसंवाद नहीं करना, षोडश कारण भावना आदि से शुभ नाम कर्म का आस्रव होता है और कुटिल भाव, झगड़ा-कलह आदि से अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

नीच और ऊँच भेद से गोत्र कर्म का आस्रव दो प्रकार का होता है। परनिन्दा, स्वप्रशंसा करना, पर-गुणों को छिपाना और मिथ्या गुणों का बखान करना आदि से नीच गोत्र का आस्रव होता है, जबकि पर प्रशंसा, अपनी निन्दा, पर-दोषों को ढकना और अपने दोषों को प्रकट करना, गुरुओं के प्रति नम्र वृत्ति रखना, विनय करना आदि से उच्च गोत्र कर्म का आस्रव होता है।

दान-दातार को रोकना, आश्रितों को धर्म साधन न करने देना, देव-दर्शन, मंदिर के द्रव्य को हड़पना, दूसरों की भोगादि वस्तु या शक्ति में विघ्न डालना आदि से वस्तुतः अंतराय कर्म का आस्रव होता है।

इस प्रकार कर्म और उसके व्यापार परक स्थिति का संक्षेप में यहाँ विश्लेषण किया गया है। इन सभी कारणों से आए हुए कर्म पुद्गल-परमाणु आत्मा के साथ एक रूप हो जाते हैं, उसी का नाम बंध है। तीव्र-मंद आदि भावों से होने वाला आस्रव योग और कषाय आदि के निमित्त से १०८ भेद रूप भी माना जाता है। मन, वचन तथा काय समारम्भ अर्थात् हिंसादि करने का प्रयत्न अथवा संकल्प। सारंभ अर्थात् हिंसादि करने के साधन जुटाना, आरम्भ अर्थात् हिंसादि पाप शुरू करन देना, कृत अर्थात् स्वयं करना, कारित अर्थात्

९ कर्म-विचार

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

मिथ्यात्व आदि हेतुओ से निष्पन्न क्रिया कम है ।[1] कम आत्मा को मलिन करते हैं । उनकी गति गहन है ।[2] वह दु ख परम्परा का मूल है ।[3] कम मोह मे उत्पन्न होता है और वह ज म-मरण का मूल कारण भी है ।[4] ससारी जीव के रागद्वे प रूप परिणाम होते हैं । परिणामो से कमबध के कारण जीव ससार चक्र मे परिभ्रमण करता है ।[5] वस्तुत कमबध मे आत्मपरिणाम (भाव) ही कारण है पर वस्तु बिल्कुल नही ।[6] कम बध वस्तु से नही, राग और द्वेष के अध्यवसाय (सकल्प) मे होता है ।[7] जो अन्दर मे रागद्वे प रूप भाव कम नही करता, उसे नए कम का बध नही होता ।[8] जिस समय जीव जैसे भाव करता है वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बध करता है ।[9]

कम कर्त्ता का अनुगमन करता है ।[10] जीव कर्मों का बध करने मे स्वतन्त्र है परन्तु उस कम का उदय होने पर भोगने मे उसके अधीन हो जाता है । जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर तो चढ जाता है किन्तु प्रमादवश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है ।[11] कहीं जीव कम के अधीन होते हैं तो कही कम जीव के अधीन होते हैं ।[12] जैसे कहीं ऋण देते समय धनी बलवान होता है तो कही ऋण लौटाते समय कजदार बलवान होता है ।[13] सामान्य की अपेक्षा कम एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा दो प्रकार का है । कम पुद्गला का पिण्ड द्रव्यकम है और उसमें रहने वाली शक्ति या उसके निमित्त से जीव मे होने वाले रागद्वे प रूप विकार भावकम है ।[14] जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय (ज्ञानदशनमय) आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मों से नही बधता । अत पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् उसे नया ज म धारण नही करना पडता है ।[15]

ज्ञानावरण, दशनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये सक्षेप मे आठ कम हैं ।[16] इन कर्मों का स्वभाव पर्दा, द्वारपाल, तलवार, मद्य, हलि, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारी के स्वभाव सदृश है ।[17] जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकट न होने दे उसे ज्ञानावरण कहते हैं । जो दशनगुण का

दूसरो से कराना, अनुमोदना अर्थात् करते हुए दूसरों को अनुमति देना तथा कपाय अर्थात् क्रोध, मान माया तथा लोभ तथा तीव्र-मद आदि भावों से यह एक सौ आठ भेद रूप भी माना जाता है। अर्थात् मनवचनकाया-३×समारम्भादि ३×कृतकारित-३×क्रोधादिकपाय-४=१०८।

इन कारणो से आए हुए कम पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ एकमेव हो जाने से बध तत्त्व का रूप ग्रहण हो जाता है। कर्म और उसके व्यापार विषयक सक्षेप मे चर्चा करने से ज्ञात होता है कि कम एक महान शक्ति है। विधि, स्रष्टा विधाता, दैव पुराकृत कम और ईश्वर ये सब कम के पर्याय हैं। कम बध ससार का भ्रमण का कारण है। कर्म क्षय कर अर्थात् कर्म-मुक्ति होना वस्तुत मोक्ष का प्राप्त करना है।

कर्म के दोहे

ढाई अक्षर नाम के, अतर तू पहचान ।
एक देत है नर्क गति, दूजा शिव सुखधाम ।।

को सुख को दुख देत है, देत कम झकझोर ।
उलझे-सुलझे आपही, ध्वजा पवन के जोर ।।

कम कमण्डलु कर लिये, तुलसी जहँ तहँ जात ।
सागर सरिता कूप जल, अधिक न बूँद समात ।।

राम किसी को मारे नही, मारे सो नही राम ।
आपो आप मर जायेगा, कर-कर खोटा काम ।।

आडो न आवे मायडो, आडो न आवे बाप ।
क्रिया कर्म जो भागवे, भुगते आपो आप ।।

प्लेटफाम पर हैं खडे, सरसे लोग हजार ।
किन्तु मिलेगो क्लास तो, टिकटो के अनुसार ।।

---

९ कर्म-विचार

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

मिथ्यात्व आदि हेतुओं से निष्पन्न क्रिया कर्म है।[1] कर्म आत्मा को मलिन करते हैं। उनकी गति गहन है।[2] वह दुःख परम्परा का मूल है।[3] कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म मरण का मूल कारण भी है।[4] संसारी जीव के रागद्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामों से कर्मबंध के कारण जीव संसार चक्र में परिभ्रमण करता है।[5] वस्तुतः कर्मबंध में आत्मपरिणाम (भाव) ही कारण है पर वस्तु बिल्कुल नहीं।[6] कर्म बंध वस्तु से नहीं, राग और द्वेष के अध्यवसाय (संकल्प) से होता है।[7] जो अन्दर में रागद्वेष रूप भाव कर्म नहीं करता, उसे नए कर्म का बंध नहीं होता।[8] जिस समय जीव जैसे भाव करता है वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करता है।[9]

कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।[10] जीव कर्मों का बंध करने में स्वतन्त्र है परन्तु उस कर्म का उदय होने पर भोगने में उसके अधीन हो जाता है। जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर तो चढ़ जाता है किन्तु प्रमादवश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है।[11] कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं।[12] जैसे कहीं ऋण देते समय धनी बलवान होता है तो कहीं ऋण लौटाते समय कर्जदार बलवान होता है।[13] सामान्य की अपेक्षा कर्म एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा दो प्रकार का है। कर्म पुद्गलों का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसमें रहने वाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव में होने वाले रागद्वेष रूप विकार भावकर्म है।[14] जो इन्द्रिय आदि पर विजय प्राप्त कर उपयोगमय (ज्ञानदर्शनमय) आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मों से नहीं बंधता। अतः पौद्गलिक प्राण उसका अनुसरण कैसे कर सकते हैं? अर्थात उसे नया जन्म धारण नहीं करना पड़ता है।[15]

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये संक्षेप में आठ कर्म हैं।[16] इन कर्मों का स्वभाव परदा, द्वारपाल, तलवार मद्य, हलि, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारी के स्वभाव सदृश है।[17] जो आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकट न होने दे उसे ज्ञानावरण कहते हैं। जो दर्शनगुण को

आवृत्त करे उसे दर्शनावरण कहते हैं। जो सुख-दु ख का कारण हो उसे वेदनीय कहते हैं। जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर पर पदार्थों म अहकार तथा ममकार करे उसे मोहनीय कहते हैं। जिसके उदय से जीव नरकादि योनियो में परतन्त्र हो उसे आयुकम कहते हैं। जिसके उदय से शरीरादि की रचना हो वह नाम कम है। जिसके उदय से उच्च नीच कुल मे जन्म हो उसे गोत्रकम कहते हैं और जिसके द्वारा दान, लाभ आदि मे बाधा प्राप्त हो उसे अन्तराय कम कहते हैं।[१८] ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरणी की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तिरानवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ अडतालीस उत्तर प्रकृतियां हैं।[१९] शुभोपयोग रूप निमित्त से जो कर्म बधते हैं वे पुण्य कम तथा अशुभोपयोग रूप निमित्त से जो कम बधते हैं वे पाप कर्म कहलाते हैं। इस प्रकार निमित्त की अपेक्षा कर्मों के दो भेद हैं।[२]

कम आत्मा का गुण नही है क्योकि आत्मा का गुण होने से वह अमूर्तिक होता और अमूर्तिक का बध नही हो पाता। अमूर्तिक कम, अमूर्तिक आत्मा का अनुग्रह और निग्रह उपकार और अपकार करने मे समर्थ नही होता।[२१] यद्यपि कम सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगोचर नही होता तथापि वह मूर्तिक है क्योकि उसका काय जो औदारिक आदि शरीर है वह मूर्तिक है। मूर्तिक की रचना मूर्ति से ही हो सकती है इसलिए दृश्यमान औदारिकादि शरीरो से अदृश्यमान कर्म मे मूर्तिपना सिद्ध होता है।[२२]

निश्चय नय से आत्मा और कम दोनो द्रव्य स्वतन्त्र, स्वतन्त्र द्रव्य हैं इसलिए इनमें बध नही है परन्तु व्यवहार नय से कम के अस्तित्वकाल म आत्मा स्वतन्त्र नही है इसलिए दोनो मे बध माना जाता है। व्यवहार नय से आत्मा और कर्मों मे एकता का अनुभव होता है इसलिए आत्मा को मूर्तिक माना जाता है। मूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मों के साथ बध होने में आपत्ति नही है।[२३]

इस प्रकार ससार का प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है। यह पौद्गलिक (भौतिक) शरीर ही उसकी परतन्त्रता का द्योतक है। पराधीनता का कारण कर्म है जगत मे अनेक प्रकार की विषमताए हैं। आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के अतिरिक्त जो प्राकृतिक विषमताए हैं उनका हेतु मनुष्यकृत नही हो सकता। विषमताओ का कारण प्रत्येक आत्मा के साथ रहने वाला कोई विजातीय पदार्थ है और वह पदार्थ कर्म है। कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जसे आग मे तपाने की विशिष्ट प्रक्रिया से सोने का विजातीय पदार्थ उससे पृथक् हो जाता है वैसे ही तपस्या से कम दूर हो जाता है।

संदर्भ संकेत—

१—क्रियन्ते मिथ्यात्वादिहेतुभिर्जीवेनेति कर्माणि ।

—उशाटी प ६४१

२—गहना कर्मणो गति ।

—ब्रह्मानंद गीता ४४

३—(क) कम्मेहिं लुप्पति पाणिणो ।

—सूत्र कृताग २।१।४

(ख) कम्मुणा उवाहि जायइ ।

—आचाराग ३।१

४—कम्म च मोहप्पभवं वयंति,
कम्म च जाइ मरणस्स मूलं ।

—उत्तराध्ययन ३२।७

५—अज्झत्थहेउं नियमस्स बंधो,
ससार हेउं च वयंति बंधं ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १४।१६

६—अणुमित्तो वि न बधो,
परवत्थुपच्चओ भणिओ ।

—ओघनियुक्ति गाथा ५३

७—ण य वत्थुदो दु बंधो
अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।

—समयसार २६५

८—अबुद्धओ नव णत्थि ।

—सूत्रकृतांग १।१५।७

९—ज जं समय जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तमि तमि समए, सुहासुह बंधए कम्म ॥

समणसुत्त, ज्योतिर्मुख, ब्र० जिनेन्द्रवर्णी,
सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी १,
प्रथम संस्करण २४ अप्रैल १९८५ श्लोकांक ५७,
पृष्ठांक २० २१

१०—(क) असारमेव अणुजाइ कम्म ।

—उत्तराध्यन १३।२३

(ग) मेते मह गयानेन, गच्छन्तमनु गच्छति ।
नराणां प्राक्तन कर्म, निष्ठत्यव महात्मन ॥

—[illegible]

(ग) यथोधेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दतिमातरम् ।
तथवेह कृत कम, मर्तार मनुगच्छति ॥
—चाणक्यनीति १३।१५

११—कम्म चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उपरव्वसा होंति ।
रुक्ख दुरुहइ सवसा, विगलइ स परव्वसो तत्तो ॥
—समणसुत्त ज्योतिमुख, वही श्लोकांक ६०,
पृष्ठांक २० २१

१२—कर्मयित्त फल पुंसा, बुद्धि कर्मानुसारिणी ।
—चाणक्यनीति १३।१०

१३—कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्माइं ।
कत्थइ धणिओ बलव, धारणिओ कत्थई बलव ॥
—समणसुत्त ज्योतिमुख, वही श्लोकांक ६१,
पृष्ठांक २०-२१

१४—(क) कम्मत्तणेण एक्क, दव्व भावोत्ति होदि दुविह तु ।
पोग्गल पिंडो दव्वं, तस्सत्ती भावकम्म तु ॥
—समणसुत्त ज्योतिमुख वही, श्लोकांक ६२
पृष्ठांक २० २१

(ख) अर्हत्प्रवचन, सम्पादक–चनसुखदास न्यायतीर्थ आत्मोदय ग्रथमाला जयपुर, सितम्बर १९६२ श्लोकांक ७ पृष्ठांक १८

१५—(क) जो इदियादि विजई, भवीय उवओग मप्पग झादि ।
कम्मेहिं सो ण रजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥
—समणसुत्त, ज्योतिमुख, वही, श्लोकांक ६३
पृष्ठांक २० २१

(ख) कम्मक्खीणसु दढेसु न जायति भवकुरा ।
—दशाश्रुत स्कध ५।१५

(ग) अकम्मस्स ववहारो न विज्जई ।
—आचारांग ३।१

१६—(क) नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरण तहा ।
वेयणिज्ज तहा मोह आउकम्मं तहेव य ॥
नाम कम्मं च गोय च अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइ, अट्ठेव उ समासओ ॥
—समणसुत्त ज्योतिमुख, वही श्लोकांक ६४ ६५
पृष्ठांक २२ २३

(ख) ज्ञानदर्शनयो रोधौवेद्य मोहायुषी तथा ।
नाम गोत्रान्तरायाश्चैं मूल प्रकृतय स्मृता ॥

—तत्त्वार्थसार, पचमाधिकार, सम्पादक पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रथमाला, डुमराव बाग, अस्सी वाराणसी ५, प्रथम सस्करण १६ अप्रैल १६७०, श्लोकाक २२, पृष्ठाक १४५

(ग) अटठ कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ, त जहा णाणावरणिज्ज दसणावरणिज्ज वयणिज्ज, मोहणिज्ज, आउय, नाम गोय, अतराइय ।

—प्रज्ञापना २१।१

१७—(क) घड पडिहार मि मज्ज, हड-चित्त-कुलाल भडगारीण ।
जह एर्एसि भावा, कम्माण वि जाग तह भावा ॥

—समणसुत्त ज्योतिमुख वही, श्लोकाक ६६ पृष्ठांक २२ २३

(ख) अर्हत्प्रवचन, सम्पादक प० चनसुखदास न्यायतीर्थ, वही, श्लोकाक १० पृष्ठाक १६ ।

१८—अपभ्रश वाङमय म व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, डॉ आदित्य प्रचण्डिया दीति परामर्श खड ५ अक ८ सितम्बर १६८४ सम्पादक सुरेन्द्र बारलिगें आदि पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन, पुणे पृष्ठाक ३२४ ।

१६—प्रथमा पञ्च नव द्वे च तथाष्टाविशति क्रमात ।
चतस्रश्च त्रिसयुक्ता नवतिर्द्वे च पञ्च च ॥

—तत्त्वार्थसार पचमाधिकार वही, श्लोकांक २३, पृष्ठाक १४६ १५५ ।

२० —(क) शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा ।
पुण्य पाप तया द्वेधा सर्व कर्म प्रभिद्यत ॥

—तत्त्वार्थसार पचमाधिकार श्लोकाक ५१ पृष्ठाक १५८ ।

(ख) सुह परिणामा पुण्ण, असुहा पाव ति हवदि जीवस्स ।

— पचास्तिकाय १३२

२१—न कर्मात्म गुणोऽमूर्तं स्तस्य बन्धाप्रसिद्धित ।
अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तं कर्तु महति ॥

—तत्त्वार्थसार, पञ्चमाधिकार, श्लोकांक १४,
पृष्ठांक १४३

२२—औदारिकादि कार्याणां कारण कर्ममूर्तिमत ।
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भ क्वापि दृश्यते ॥

—तत्त्वार्थसार, पचाधिकार, श्लोकांक १५
पृष्ठांक १४३

२३—तत्त्वार्थसार, पञ्चमाधिकार, वही, श्लोकांक १६ २०, पृष्ठ १४४ १४५

□ □ □

कर्म-सूक्तियाँ

सकम्मुणा किच्चइ पावकारी,
कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ।

—उत्तराध्ययन ४।३

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीडित होता है क्योंकि कृतकर्मों का फल भोग बिना छुटकारा नहीं है ।

पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फल बज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥

—समयसार १६८

जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुन वृन्त से नही लग सकता उसी प्रकार कर्म भी आत्मा से विमुक्त होने के बाद पुन, आत्मा (वीतराग) को नहीं लग सकते ।

रागो य दोसो वि य कम्मबीय,
कम्म च मोहप्पभव वयंति ।
कम्म च जाईमरणस्स मूलं
दुक्ख च जाईमरण वयति ॥

—उत्तराध्ययन ३२।७

राग और द्वेष य दो कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म ही जन्म मरण का मूल है और जन्म मरण ही वस्तुत दुख है ।

१०

करण सिद्धान्त : भाग्य-निर्माण की प्रक्रिया

☐ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

जैन-दशन की दृष्टि मे कम भाग्य विधाता है, कर्म के नियम या सिद्धान्त विधान है। दूसरे शब्दो मे कहें तो कम ही भाग्य है। जैन कम ग्रथो मे कम वध और कम फल भोग की प्रक्रिया का अति विशद वणन है। उनमे जहाँ एक ओर यह विधान है कि बधा हुआ कर्म फल दिये बिना कदापि नही छूटता है, वही दूसरी ओर उन नियमो का भी विधान है, जिनसे बधे हुए कम मे अनेक प्रकार से परिवतन भी किया जा सकता है। कम बध से लेकर फल-भोग तक की इन्ही अवस्थाओ व उनके परिवतन की प्रक्रिया को शास्त्र मे करण कहा गया है। कम बध व उदय से मिलने वाले फल ही भाग्य कहा जाता है। कम मे परिवतन होने से उसके फल मे, भाग्य मे भी परिवतन हो जाता है। अत करण को भाग्य परिवतन की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। महापुराण मे कहा है—

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेती, पर्यायकमवेधस् ॥४३७॥

विधि, स्रष्टा, विधाता, दव, पुराकृतम्, ईश्वर ये कम रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात् कम ही वास्तव मे ब्रह्म या विधाता है।

करण आठ हैं

व्याकरण की दृष्टि मे करण उसे कहा जाता है जिसकी सहायता से क्रिया या काय हो। दूसरे शब्दो मे जो क्रिया या काय मे सहायक कारण हो। उक्त आठ प्रकार की क्रिया स कम पर प्रभाव पडता है और उनकी अवस्था व फलदान की शक्ति में परिवतन होता है। अत इन्हें करण कहा गया है। कम-शास्त्रो मे आगत इन करणो का विवेचन वनस्पति विज्ञान एव चिकित्सा शास्त्र के नियमो व दृष्टान्तो द्वारा मनोविज्ञान एव व्यावहारिक जीवन के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ बन्धन करण

कम परमाणुओ का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने को बंध कहा जाता है। यहाँ कम का बधना या सस्कार रूप बीज का पडना बधन करण है। इसे मनोविज्ञान की भाषा म ग्रथि निर्माण भी कहा जा सकता है। इसी कम-बीज के

२१—न कर्मात्म गुणोऽमूर्ते स्तस्य व घाशसिद्धित ।
अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्ते क्तु महेति ।।

—तत्त्वार्थसार, पचमाधिकार, श्लोकाक १४,
पृष्ठांक १४३

२२—औदारिकादि कार्याणा कारण कर्ममूर्तिमत ।
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भ क्वापि दृश्यते ।।

—तत्त्वार्थसार, पचाधिकार श्लोकांक १५
पृष्ठांक १४३

२३—तत्त्वार्थसार, पचमाधिकार वही, श्लोकाक १६ २०, पृष्ठ १४४ १४५

□ □ □

कर्म-सूक्तियाँ

सकम्मुणा किच्चइ पावकारी,
कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ।

—उत्तराध्ययन ४।३

पापात्मा अपने ही कर्मों स पीडित होता है क्योंकि कृतकर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है ।

पक्के फलम्हि पडिए, जह ण फल बज्झए पुणो विंटे ।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ।।

—समयसार १६८

जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुन वृन्त स नहीं लग सकता उसी प्रकार कम भी आत्मा स वियुक्त होने के बाद पुन, आत्मा (वीतराग) को नहीं लग सकते ।

रागो य दोसो वि य कम्मबीय
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्म च जाईमरणस्स मूलं
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ।।

—उत्तराध्ययन ३२।७

राग और द्वेष ये दो कम के बीज हैं । कम मोह से उत्पन्न होता है । कम ही जन्म मरण का मूल है और जन्म मरण ही वस्तुत दुःख है ।

१०

करण सिद्धान्त : भाग्य-निर्माण की प्रक्रिया

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

जैन-दर्शन की दृष्टि मे कर्म भाग्य विधाता है, कर्म के नियम या सिद्धान्त विधान है। दूसरे शब्दो मे कहें तो कर्म ही भाग्य है। जैन कर्म ग्रथो मे कर्म-बध और कर्म फल भोग की प्रक्रिया का अति विशद वर्णन है। उनमे जहाँ एक ओर यह विधान है कि बधा हुआ कर्म फल दिये बिना कदापि नही छूटता है, वही दूसरी ओर उन नियमो का भी विधान है, जिनसे बधे हुए कर्म मे अनेक प्रकार से परिवर्तन भी किया जा सकता है। कर्म बध से लेकर फल-भोग तक की इन्ही अवस्थाओ व उनके परिवर्तन की प्रक्रिया को शास्त्र मे करण कहा गया है। कर्म बध व उदय से मिलने वाले फल ही भाग्य कहा जाता है। कर्म मे परिवर्तन होने से उसके फल मे, भाग्य मे भी परिवर्तन हो जाता है। अत करण को भाग्य परिवर्तन की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। महापुराण मे कहा है—

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव कर्म पुराकृतम् ।
ईश्वरश्चेती, पर्यायकर्मवेधस् ॥४३७॥

विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृतम, ईश्वर ये कर्म रूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात कर्म ही वास्तव मे ब्रह्म या विधाता है।

करण आठ हैं

व्याकरण की दृष्टि से करण उसे कहा जाता है जिसकी सहायता से क्रिया या कार्य हो। दूसरे शब्दो मे जो क्रिया या कार्य में सहायक कारण हो। उक्त आठ प्रकार की क्रिया से कर्म पर प्रभाव पडता है और उनकी अवस्था व फलदान की शक्ति मे परिवर्तन होता है। अत इन्हें करण कहा गया है। कर्म-शास्त्रों मे आगत इन करणो का विवेचन वनस्पति विज्ञान एव चिकित्सा शास्त्र के नियमो व दृष्टान्तो द्वारा मनोविज्ञान एव व्यावहारिक जीवन के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ बधन करण

कर्म परमाणुओ का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने को बध कहा जाता है। यहाँ कर्म का बधना या संस्कार रूप बीज का पडना बधन करण है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में ग्रथि निर्माण भी कहा जा सकता है। इसी कर्म-बीज के

उदय या फलस्वरूप प्राणी सुख-दुःख रूप फल भोगता है। जिस प्रकार शरीर मे भोजन के द्वारा ग्रहण किया गया भला पदार्थ शरीर के लिए हितकर और बुरा पदार्थ अहितकर होता है। इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए शुभ कर्म परमाणु आत्मा के लिए सुफल सौभाग्यदायी एवं ग्रहण किए गए अशुभ कर्म परमाणु आत्मा के लिए कुफल दुर्भाग्यदायी होते हैं। अतः जो दुर्भाग्य को दूर रखना चाहते हैं उन्हें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया लोभ आदि पाप प्रवृत्तियों—अशुभ कर्मों से बचना चाहिये। क्योंकि इनके फलस्वरूप दुःख मिलता ही है और जो सौभाग्य चाहते हैं उन्हें सेवा, परोपकार, वात्सल्य भाव आदि पुण्य प्रवृत्तियों, शुभ कर्मों को अपनाना चाहिये। कारण कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल लगता है। यह प्राकृतिक विधान है, इसे कोई नहीं टाल सकता। किसी की हिंसा या बुरा करने वाले को फलस्वरूप हिंसा ही मिलने वाली है, बुरा ही होने वाला है। भला या सेवा करने वाले का उसके फलस्वरूप भला ही होता है।

किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के प्रति अनुकूलता मे राग रूप प्रवृत्ति करने से और प्रतिकूलता मे द्वेष रूप प्रवृत्ति करने से उसके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध ही बन्ध है, बन्धन है। इस प्रकार राग द्वेष करने का प्रभाव चेतना के गुणो पर तथा उन गुणो की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित माध्यम शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि पर पड़ता है। अतः राग-द्वेष रूप जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कर्म बंधते हैं तथा जितनी-जितनी राग द्वेष की अधिकता-न्यूनता होती है उतनी उतनी बंधन के टिकने की सबलता निर्बलता तथा उसके फल की अधिकता-न्यूनता होती है। इसलिए जो व्यक्ति जितना राग द्वेष कम करता है उतना ही कम कर्म बांधता है। जो समभाव रखता है, समदृष्टि रहता है, वह पाप कर्म का बंध नहीं करता है। अतः बंध से बचना है तो राग-द्वेष से बचना चाहिये।

नियम

(१) कर्म बन्ध का कारण राग द्वेष युक्त प्रवृत्ति है।
(२) जो जैसा अच्छा-बुरा कर्म करता है, वह वैसा ही सुख-दुःख रूप फल भोगता है।
(३) बंधे हुए कर्म का फल अवश्यमेव स्वयं को ही भोगना पड़ता है। कोई भी अन्य व्यक्ति व शक्ति उससे छुटकारा नहीं दिला सकती।

७ निधत्त करण

कर्म बन्ध की वह दशा जिसमें कर्म इतना दृढ़तर बंध जाय कि उसमें स्थिति और रस में फेरफार तथा घट-बढ़ हो सके परन्तु उसका आमूल-चूल परिवर्तन, संक्रमण और उदीरणा न हो सके, उसे निधत्त करण कहते हैं।

कर्म की यह स्थिति किसी प्रकृति या क्रिया मे अधिक रस लेने, प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति करने से होती है। जिस प्रकार किसी पौधे को बार-बार उखाडा जाय या हानि पहुँचाई जाये तो वह सूख सा जाता है और उसमे विशेष फल देने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अथवा जिस प्रकार बार-बार अफीम खाने से या शराब पीने से अफीम खाने या शराब पीने की आदत इतनी दृढतर हो जाती है कि उसका छूटना कठिन होता है भले ही मात्रा में कुछ घट-बढ हो जाय। अथवा इन्द्रिय सुख के आधीन हो कोई बार बार मिथ्या आहार-विहार करे, जिससे उसके जलदर, भगदर, क्षय जैसी दुसाध्य बीमारी हो जाय जो जन्म भर मिटे ही नही केवल उसमे कुछ उतार-चढाव आ जाय। इसी प्रकार जिस क्रिया मे योग अर्थात् मन-वचन-काया की प्रवृत्ति की पुनरावृत्ति की अधिकता हो एव रस की अर्थात् राग-द्वेष आदि कषाय की अधिकता हो तो कर्म की ऐसी स्थिति का बन्ध हो जाता है कि जिसमे कुछ घट-बढ़ तो हो सके परन्तु उसका रूपातरण व दूसरी प्रकृति रूप परिवतन न हो सके, उसके फल को भोगना ही पडे।

अत हमे किसी विषय सुख का बार-बार भोग करने एव अधिक रस लेने से बचना चाहिये ताकि कर्म का दृढतर बन्ध न हो।

नियम निधत्त कर्म मे सक्रमण व उदीरणा नही होती है।

३ निकाचित करण

कर्म-बन्ध की वह दशा जिसमे कर्म इतने दृढतर हो जाय कि उनमे कुछ भी फेर फार न हो सके, जिसे भोगना ही पडे, निकाचना कहलाती है। कर्म की यह दशा निधत्तकरण से अधिक बलवान होती है। कर्म की यह स्थिति अत्यधिक गृद्धता से होती है। जिस प्रकार पौधे को खाद रस आदि पूर्ण अनुकूलता मिलने से उसके फल मे स्थित बीज का ऐसा पोषण होता है कि उसके उगने की शक्ति पूर्ण विकसित हो जाती है। अथवा किसी रोगी द्वारा बार बार गलती दोहरायी जाय व परहेज इतना बिगाड दिया जाय कि रोग ऐसी स्थिति मे पहुँच जाय कि उसमे कमी आये ही नही। या कैसर जसे असाध्य रोग का हो जाने से उसके भोगे बिना छुटकारा नही होता है, वैसे ही जिस कर्म को भोगे बिना छुटकारा न हो, वह निकाचित कर्म है। जिस प्रकार कैंसर आदि असाध्य रोग से बचने, दूर रहने मे ही अपना हित है कारण कि उसका एक बार हो जाने पर फिर मिटना असम्भव है, इसी प्रकार कर्म बन्ध की ऐसी दशा से बचने या दूर रहने मे ही अपना हित है—जिसे बिना भोगे छुटकारा असम्भव है। इस घातक दशा से बचना तब ही सम्भव है जब किसी प्रवृत्ति मे अत्यन्त गृद्ध न हो। अत्यधिक आसक्त न हो।

निधत्त और निकाचित कर्म-बन्ध की ये दोनो दशाएँ असाध्य रोग के समान है परन्तु निधत्त मे निकाचित कर्म अधिक प्रबल व दुखद है। अत इनसे बचने मे ही निज हित है।

नियम

निकाचित कर्म मे सक्रमण व उदीरणा, उद्वर्तन, अपवर्तन करण नहीं होते हैं। कोई-कोई आचार्य सामान्य सा उद्वर्तन-अपवर्तन होना मानते हैं।

४. उद्वर्तना करण

जिस क्रिया या प्रवृत्ति से बन्धे हुए कर्म की स्थिति और रस बढता है, उसे उद्वर्तना करण कहते हैं। ऐसा ही पहले बांधे हुए कर्म प्रकृति के अनुरूप पहले से अधिक प्रवृत्ति करने तथा उसमे अधिक रस लेने से होता है। जैसे पहले किसी ने डरते डरते किसी की छोटी सी वस्तु चुरा कर लोभ की पूर्ति की फिर वह डाकुओ के गिरोह मे मिल गया तो उसकी लोभ की प्रवृत्ति का पोषण हो गया, वह बहुत बढ गई तथा अधिककाल तक टिकाऊ भी हो गई, वह निधड़क डाका डालने व हत्याएँ करने लगा। इस प्रकार उसकी पूर्व की लोभ की वृत्ति का पोषण होना, उसकी स्थिति व रस का बढ़ना उद्वर्तना कहा जाता है। जिस प्रकार खेत मे उगे हुए पौधे को अनुकूल खाद व जल मिलने से वह हृष्ट-पुष्ट होता है, उसकी आयु व फलदान शक्ति बढ़ जाती है इसी प्रकार पूर्व मे बन्धे हुए कर्मों को उससे अधिक तीव्ररस, राग-द्वेष, कषाय का निमित्त मिलने से उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति बढ जाती है। अथवा जिस प्रकार किसी ने पहले साधारण सी शराब पी, इसके पश्चात् उसने उससे अधिक तेज नशे वाली शराब पी तो उसके नशे की शक्ति पहले से अधिक बढ जाती है या किसी मधुमेह के रोगी ने शक्कर या कुछ मीठा पदार्थ खा लिया फिर वह अधिक शक्कर वाली मिठाई खा लेता है तो उस रोग की पहले से अधिक वृद्धि होने की स्थिति हो जाती है। इसी प्रकार विषय सुख मे राग की वृद्धि होने से तथा दुःख मे द्वेष बढ़ने से तत्सबंधी कर्म की स्थिति व रस अधिक बढ़ जाता है। अतः हित इसी मे है कि कषाय (रस) की वृद्धि कर पाप कर्मों की स्थिति व रस को न बढाया जाय और पुण्य कर्म को न घटाया जाय।

नियम

(१) सत्ता में स्थित कर्म की स्थिति व रस से वर्तमान में बध्यमान कर्म की स्थिति व रस का अधिक बंध होता है, तब ही उद्वर्तना करण सम्भव है।

(२) सक्लेश (कषाय) की वृद्धि से आयु कर्म को छोडकर शेष कर्मों की सब प्रकृतियों की स्थिति का एव सब पाप प्रकृतियों के अनुभाग (रस) मे उद्वर्तन होता है। विशुद्धि (शुभ भावों) से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग (रस) में उद्वर्तन होता है।

५ अपवर्तना करण

पूर्व में बन्धे हुए कर्मों की स्थिति और रस में कमी आ जाना अपवर्तना करण है। पहले किसी अशुभ कर्म का बन्ध करने के पश्चात् जीव यदि फिर

अच्छे कम (काम) करता है तो उसके पहले वांधे हुए कर्मों की स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है जैसे श्रेणिक ने पहले, क्रूर कम करके सातवीं नरक की आयु का वध कर लिया था परन्तु फिर भगवान् महावीर की शरण व समवशरण मे आया, उसे सम्यक्त्व हुआ जिससे अपने कृत कर्मों पर पश्चात्ताप हुआ तो शुभ भावो के प्रभाव से उसकी वाधी हुई सातवी नरक की आयु घटकर पहले नरक की ही रह गई । इसी प्रकार कोई अच्छे काम करे और उच्च स्तरीय देव गति का बध करे फिर शुभ भावो मे गिरावट आ जाय तो वह उच्च स्तरीय दवगति के बध म गिरावट आकर निम्न स्तरीय देवगति का हो जाता है । अथवा जिस प्रकार खेत मे स्थित पौधे को प्रतिकूल खाद, ताप व जलवायु मिले तो उसकी आयु व फलदान की शक्ति घट जाती है । इसी प्रकार सत्ता मे स्थित कर्मों का वन्ध कोई प्रतिकूल काम करे तो उसकी स्थिति व फलदान शक्ति घट जाती है । अथवा जिस प्रकार पित्त का रोग नीबू व आनूबुखारा खाने से, तीव्र क्रोध का वेग जल पीने से, ज्वर का अधिक तापमान वफ रखने से घट जाता है इसी प्रकार पूव मे किए गए दुष्कर्मों के प्रति सवर तथा प्रायश्चित आदि करने मे उनकी फलदान शक्ति व स्थिति घट जाती है ।

अत विषय कषाय की अनुकूलता मे हप व रति तथा प्रतिकूलता मे खेद (शोक) व अरति न करने मे अर्थात् विरति (सयम) को अपनाने मे ही आत्म हित है ।

नियम

सक्लेश (कषाय) की कमी एव विशुद्धि (शुभ भावो) की वृद्धि से पहले वधे हुए कर्मो मे आयु कम को छोड कर शेप सव कर्मों की स्थिति एव पाप प्रकृतिया के रस में अपवर्तन (कमी) होता है। सक्लेश की वृद्धि से पुण्य प्रकृतिया के रस मे अपवतन होता है ।

६ सक्रमण करण

पूव मे वधे कम की प्रकृति का अपनी जातीय अन्य प्रकृति में रूपांतरित हो जाना सक्रमण करण कहा जाता है । वतमान मे वनस्पति विशेषज्ञ अपने प्रयत्न विशेष से खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप मे परिवर्तित कर देते हैं । निम्न जाति के वीजो को उच्च जाति के वीजो मे वदल देते हैं । इसी प्रक्रिया से गुलाव की सैंकड़ो जातियाँ पदा की हैं । वर्तमान वनस्पति विज्ञान में इस सक्रमण प्रक्रिया को सकर-प्रक्रिया कहा जाता है जिसका अथ सक्रमण करना ही है । इसी सक्रमण करण की प्रक्रिया से सकर मक्का, सकर वाजरा, सकर गेहूँ के वीज पैदा किए गए हैं । इसी प्रकार पूव में वधी हुई कम प्रकृतियाँ वतमान मे वधने वाली कर्म प्रकृतियो में परिवर्तित हो जाती हैं, सक्रमित हो जाती हैं । अथवा जिस प्रकार चिकित्सा के द्वारा शरीर के विकार

... हृदय, नेत्र आदि को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ हृदय, नेत्र आदि ...पित कर अंधे व्यक्ति को सूझता कर देते हैं, रुग्ण हृदय को स्वस्थ हृदय बना ...ते हैं तथा अपच या मंदाग्नि का रोग, सिरदर्द, ज्वर निर्बलता, कब्ज या अतिसार में बदल जाता है। इससे दुहरा लाभ होता है—(१) रोग के कष्ट से बचना एवं (२) स्वस्थ अंग की शक्ति की प्राप्ति। इसी प्रकार पूर्व की बंधी हुई अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति में बदला जाता है और उनके दुःखद फल से बचा जा सकता है।

यह संक्रमण या रूपान्तरण कर्म के मूल भेदों में परस्पर में नहीं होता है। अर्थात् ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आदि किसी अन्य कर्म रूप में नहीं होता है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म, ज्ञानावरण, वेदनीय आदि किसी अन्य कर्म रूप में नहीं होता है। यही बात अन्य सभी कर्मों के विषय में भी जाननी चाहिये। संक्रमण किसी एक ही कर्म के अवान्तर में उत्तर प्रकृतियों में अपनी सजातीय अन्य उत्तर प्रकृतियों में होता है। जैसे वेदनीय कर्म के दो भेद हैं। सातावेदनीय और असातावेदनीय। इनका परस्पर में संक्रमण हो सकता है अर्थात् सातावेदनीय असातावेदनीय रूप हो सकता है और असातावेदनीय सातावेदनीय रूप हो सकता है परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं। जैसे दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दोनों मोहनीय कर्म की ही अवान्तर या उप-प्रकृतियाँ हैं—परन्तु इनमें भी परस्पर में संक्रमण नहीं होता है। इसी प्रकार आयु कर्म की चार अवान्तर प्रकृतियाँ हैं उनमें भी परस्पर में संक्रमण नहीं हो सकता है अर्थात् नरकायु का बंध कर लेने पर जीव को नरक में ही जाना पड़ता है। वह तिर्यंच, मनुष्य, देव गति में नहीं जा सकता है।

कर्म सिद्धान्त में निरूपित संक्रमण प्रक्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मार्गान्तरीकरण (Sublimation of mental energy) कहा जा सकता है। यह मार्गान्तरीकरण या रूपान्तरण दो प्रकार का है—१ अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति में और २ शुभ प्रकृति का अशुभ प्रकृति में। शुभ (उदात्त) प्रकृति का अशुभ (कुत्सित) प्रकृति में रूपान्तरण अनिष्टकारी है और अशुभ (कुत्सित) प्रकृति का शुभ (उदात्त) प्रकृति में रूपान्तरण हितकारी है। वर्तमान मनोविज्ञान में कुत्सित प्रकृति के उदात्त प्रकृति में रूपान्तरण को उदात्तीकरण कहा जाता है। यह उदात्तीकरण संक्रमण करण का ही एक अंग है। ...

... में उदात्तीकरण पर विशेष अनुसंधान हुआ है तथा ... है। राग या कुत्सित काम भावना का संक्रमण या ... की प्रवृत्ति को मोड़कर श्रेष्ठ कला, सुन्दर चित्र या महाकाव्य, ... किया जा सकता है। वर्तमान में उदात्तीकरण प्रक्रिया

का उपयोग व प्रयोग कर उद्दण्ड, अनुशासनहीन, तोड फोड करने वाले अपराधी-मनोवृत्ति के छात्रो एव व्यक्तियो को उनकी रुचि के किसी रचनात्मक काय मे लगा दिया जाता है। फलस्वरूप वे अपनी हानिकारक व अपराधी प्रवृत्ति का त्याग कर समाजोपयोगी काय मे लग जाते हैं, अनुशासनप्रिय नागरिक बन जाते हैं।

कुत्सित प्रकृतियो को सद् प्रवृत्तियो मे सक्रमण या रूपान्तरण करने के लिए आवश्यक है कि पहले व्यक्ति को इन्द्रिय-भोगो की वास्तविकता को उसके वतमान जीवन की दनिक घटनाओ के आधार पर समझाया जाये। भोग का सुख क्षणिक है, नश्वर है व पराधीनता में आबद्ध करने वाला है, परिणाम मे नीरसता या अभाव ही शेष रहता है। भोग जडता व विकार पैदा करने वाला है। नवीन कामनाओं को पैदा कर चित्त को अशात बनाने वाला है। सघष, द्वन्द्व, अ तद्व न्द्व पैदा करने वाला है। सुख के भोगी को दु ख भोगना ही पडता है। सुख मे दु ख अ तगर्भित रहता ही है। भोगो के सुख के त्याग से तत्काल शान्ति, स्वाधीनता प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इस प्रकार भोगो के सुख क्षणिक-अस्थायी सुख के स्थान पर हृदय मे स्थायी सुख प्राप्ति का भाव जागृत किया जाय। भावी दु ख से छुटकारा पाने के लिये वतमान के क्षणिक सुख क भोग का त्याग करने की प्रेरणा दी जाय। इसमे आत्म सयम की योग्यता पदा होती है फिर दूसरो को सुख देन के लिए भी अपने सुख व सुख सामग्री को दूसरा की सेवा मे लगाने की प्रवृत्ति होती है। दूसरो की नि स्वाथ सेवा से जो प्रेम का रस आता है उसका आन द सुखभोगजनित सुख से निराला होता है। उस सुख मे वे दोष या कमियाँ नही होती जो भोगजनित सुख मे होती हैं। प्रेम के सुख का यह बीज उदारता मे पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है और अन्त मे सव-हितकारी प्रवत्ति का रूप ले लेता है।

जिस प्रकार कम सिद्धान्त में सक्रमण केवल सजातीय प्रकृतियो में सम्भव है, इसी प्रकार मनोविज्ञान मे भी रूपान्तरण केवल सजातीय प्रकृतिया में ही सम्भव माना है। दोनों ही विजातीय प्रकृतिया के साथ सक्रमण या रूपान्तरण नही मानते हैं। सक्रमणकरण और रूपान्तरकरण दोनों ही मे यह सैद्धान्तिक समानता आश्चयजनक है।

कम सिद्धान्त के अनुसार पाप प्रवृत्तियाँ से होने वाले दु ख, वेदना, अशान्ति आदि से छुटकारा, परोपकार रूप पुण्य प्रवृत्तिया से किया जा सकता है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण वतमान मनोविज्ञानवेत्ता भी कर रहे हैं। उनका कथन है कि उदात्तीकरण शारीरिक एव मानसिक रोगो के उपचार मे बडा कारगर उपाय है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयो मे असाध्य प्रतीत होने वाले महारोग उदात्तीकरण से ठीक होते देखे जा सकते हैं।

करता है कि किसी ने पहले कितने ही अच्छे कर्म बांधे हो यदि वह वर्तमान मे दुष्प्रवृत्तिया कर बुरे (पाप) कम बाध रहा है तो पहले के अच्छे (पुण्य) कम बुरे (पाप) कम मे बदल जावेंगे, फिर उनका कोई अच्छा सुखद फल नही मिलने वाला है। इसके विपरीत किसी ने पहले दुष्कम (पाप) किए हैं, बांधे हैं परन्तु वतमान मे वह सत्कम कर रहा है तो वह अपने बुरे कर्मों के दु खद फल से छुटकारा पा लेता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो हम हमारे वतमान जीवन काल का सदुपयोग-दुरुपयोग कर अपने भाग्य को सौभाग्य या दुर्भाग्य मे बदल सकते हैं। इसकी हमें पूण स्वाधीनता है तथा हमारे मे सामथ्य भी है। इसे उदाहरण से समझें—

'क' एक व्यापारी है। 'ख' उसका प्रमुख ग्राहक है। 'क' को उससे विशेष लाभ होता है। 'क' के लोभ की पूर्ति होती है तथा 'ख' 'क' के व्यवहार की बहुत प्रशसा करता है जिससे 'क' के मान की पुष्टि होती है। अत 'क' का 'ख' के साथ लोभ और मान रूप घनिष्ठ सम्बन्ध या ब ध है परन्तु क' ने 'ख' को लोभ वश असली माल के बजाय नकली माल दे दिया। इस धोखे का जब 'ख' को पता चला तो वह रुष्ट हो गया और उस पर 'क' की जो रकम उधार थी उसने उसे देने से मना कर दिया। गाली गलोच कर 'क' का अपमान कर दिया। इससे 'क' को क्रोध आया। अब 'क' का 'ख' के प्रति लोभ व मान रूप जो राग का सम्बन्ध था वह क्रोध व द्वेष मे रूपान्तरित-सक्रमित हो गया।

नियम

(१) प्रकृति सक्रमण बध्यमान प्रकृति मे ही होता है।

(२) सक्रमण सजातीय प्रकृतियों में ही होता है।

नोट १ उद्वेलना सक्रमण, २ विध्यात सक्रमण, ३ अध स्तन सक्रमण, ४ गुण सक्रमण, ५ सव सक्रमण आदि सक्रमण के अनेक भेद प्रभेद कम शास्त्रो मे कहे गये हैं, विस्तार भय से यहाँ उसका वणन नही किया गया है।

७ उदीरणा करण

ब ध हुए कम का नियत काल मे फल देने को उदय कहा जाता है और नियत काल के पहले कर्म के फल देने को उदीरणा कहते हैं। जैसे आम बेचने वाला आमों को जल्दी पकाने के लिए पेड से तोड़कर भूसे आदि मे दबा देता है जिससे आम समय से पूव जल्दी पक जाते हैं। इसी प्रकार जो कर्म समय पाकर उदय म आने वाले हैं अर्थात् अपना फल देने वाले हैं उनका प्रयत्न विशेष से किसी निमित्त से समय से पूव ही फल देकर नष्ट हो जाना उदीरणा है।

जिस प्रकार शरीर मे स्थित कोई विकार कालान्तर में रोग के रूप में फल देने वाला है। टीका लगवाकर या दवा आदि के प्रयत्न द्वारा पहले ही उस विकार को उभार कर फल भोग लेने से उस विकार से मुक्ति मिल जाती है। उदाहरणार्थ—चेचक का टीका लगाने से चेचक का विकार समय से पहले ही अपना फल दे देता है। भविष्य मे उससे छुटकारा मिल जाता है। वमन रेचन (उल्टी या दस्त) द्वारा किए गए उपचार मे शरीर का विकार निकाल कर रोग से समय से पूर्व ही मुक्ति पाई जा सकती है।

इसी प्रकार अन्तस्तल मे स्थित कर्म की ग्रंथियो (बंधनों) को भी प्रयत्न से समय के पूर्व उदय मे लाकर फल भोगा जा सकता है। वैसे तो कर्मों की उदीरणा प्राणी के द्वारा किए गए प्रयत्नो से अपनाए गए निमित्तो से सहज रूप में होती रहती है परन्तु अन्तरतम मे अज्ञात अगाध गहराई मे छिपे व स्थित कर्मों की उदीरणा के लिए विशेष पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है, जिसे तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करना कहा जाता है।

वर्तमान मनोविज्ञान भी उदीरणा के उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान मे इस प्रक्रिया से अवचेतन मन मे स्थित मनोग्रंथियो का रेचन या वमन कराया जाता है। इसे मनोविश्लेपण पद्धति कहा जाता है। इस पद्धति से अज्ञात मन म छिपी हुई ग्रंथियाँ, कुंठाएँ, वासनाएँ, कामनाएँ ज्ञात मन म प्रकट होती हैं, उदय होती हैं और उनका फल भोग लिया जाता है तो वे नष्ट हो जाती हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिको का कथन है कि मानव की अधिकतर शारीरिक एवं मानसिक बीमारियो का कारण ये अज्ञात मन मे छिपी हुई ग्रंथियाँ ही हैं। जिनका सचय हमारे पहले के जीवन मे हुआ है। जब ये ग्रंथियाँ बाहर प्रकट होकर नष्ट हो जाती हैं तो इनसे सम्बन्धित बीमारियाँ भी मिट जाती हैं। मानसिक चिकित्सा म इस पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अपने द्वारा पूर्व मे हुए पापों या दोषो को स्मृति पटल पर लाकर गुरु के समक्ष प्रकट करना, उनकी आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना, उदीरणा या मनोविश्लेषण पद्धति का ही रूप है। इससे साधारण दोष-दुष्कृत मिथ्या हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, फल देने की शक्ति खो देते हैं। यदि दोष प्रगाढ़ हो, भारी हो तो उनके नाश के लिए प्रायश्चित लिया जाता है। प्रतिक्रमण कर्मों की उदीरणा मे बड़ा सहायक है। हम प्रतिक्रमण के उपयोग से अपने दुष्कर्मों की उदीरणा करते रहें तो कर्मों का संचय घटता जायगा जिससे आरोग्य म वृद्धि होगी। जो शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य, समता शान्ति एवं प्रसन्नता के रूप म प्रकट होगी।

उदीरणा की प्रक्रिया

उदीरणा के लिए पहले शुभ-भावो से अपवर्तना करण द्वारा पूर्व मे सचित कर्मों की स्थिति को घटा दिया जाता है। स्थिति घट जाने पर कम नियत समय से पूव उदय मे आ जाते हैं। उदाहरणाथ जब कोई व्यक्ति किसी दुर्घटना मे अपनी पूरी आयु भोगे बिना ही मर जाता है तो उसे अकाल मृत्यु कहा जाता है। इसका कारण आयु कम की स्थिति अपवतना करण द्वारा घटकर उदीरणा हो जाना ही है।

नियम

(१) बिना अपवतन के उदीरणा नही होती है।

(२) उदीरणा किये कर्म उदय मे आकर फल देते हैं।

(३) उदीरणा के उदय में आकर जितने कम कटते हैं (निजरित होते हैं) उदय मे कषाय भाव की अधिकता होने से उनसे अनेक गुणे कम अधिक भी बन्ध सकते हैं।

८ उपशमना करण

कम का उदय मे आने के अयोग्य हो जाना उपशमना करण है। जिस प्रकार भूमि मे स्थित पौधे वर्षा के जल से भूमि पर पपडी आ जाने से दब जाते हैं, बढ़ना रुक जाता है, प्रकट नही होते हैं। इसी प्रकार कर्मों को ज्ञान बल या सयम से दबा देने से उनका फल देना रुक जाता है। इसे उपशमना करण कहते हैं। इससे तत्काल शान्ति मिलती है। जो आत्मशक्ति को प्रकट करने में सहायक होती है। अथवा जिस प्रकार शरीर मे घाव हो जाने से या आपरेशन करने से पीडा या कष्ट होता है। उस कष्ट का अनुभव न हो इसके लिए इन्जेक्शन या दवाई दी जाती है जिससे पीडा या दद का शमन हो जाता है। घाव के विद्यमान रहने पर भी रोगी उसके परिणामस्वरूप उदय होने वाली वेदना से उस समय बचा रहता है। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया विशेष से कर्म प्रकृतियो के कुफल का शमन किया जाता है। यही उपशमना करण है। परन्तु जिस प्रकार इन्जेक्शन या दवा से दद का शमन रहने पर भी घाव भरता रहता है और घाव भरने का जो समय है वह घटता रहता है। इसी प्रकार कम प्रकृतियो के फल-भोग का शमन होने पर भी उनकी स्थिति, अनुभाग व प्रदेश घटता रह सकता है।

नियम उपशमना करण मोहनीय कर्म की प्रकृतिया मे ही होता है।

करण ज्ञान म महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वर्तमान में जिन कम प्रकृतियो का बन्ध हो रहा है। पुरानी बन्धी हुई प्रकृतिया पर उनका प्रभाव

पडता है और वे वर्तमान में बध्यमान प्रकृतियों के अनुरूप परिवर्तित हो जाती हैं। सीधे शब्दो मे कहें तो वर्तमान मे हमारी जो आदत बन रही है, पुरानी आदतें बदल कर उसी के अनुरूप हो जाती हैं। यह सबका अनुभव है। उदाहरणार्थ—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ले सकते हैं।

प्रसन्नचन्द्र राजा थे। वे ससार को असार समझ कर राजपाट और गृहस्थाश्रम का त्याग कर साधु बन गये थे। वे एक दिन साधुवेश म ध्यान की मुद्रा मे खडे थे। उस समय श्रेणिक राजा भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए उधर से निकला। उसने राजर्षि को ध्यान मुद्रा मे देखा। श्रेणिक ने भगवान् के दर्शन कर भगवान् से पूछा कि ध्यानस्थ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इस समय काल करें तो कहाँ जायें। भगवान् ने फरमाया कि सातवी नरक मे जावें। कुछ देर बाद फिर पूछा तो भगवान् ने फरमाया छठी नर्क में जावें। इस प्रकार श्रेणिक राजा द्वारा बार-बार पूछने पर भगवान् ने उसी क्रम से फरमाया कि छठी नर्क से पाचवी नर्क मे, चौथी नर्क मे, तीसरी नर्क मे, दूसरी नर्क मे, पहली नर्क में जायें। फिर फरमाया प्रथम देवलोक मे, दूसरे देवलोक मे, क्रमश बारहवें देवलोक म, नव ग्रैवेयक मे, अनुत्तर विमान मे जावें। इतने मे ही राजर्षि को केवलज्ञान हो गया।

हुआ यह था कि जहाँ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यानस्थ खडे थे। उधर से कुछ पथिक निकले। उन्होंने राजर्षि की ओर सकेत करके कहा कि अपने पुत्र को राज्य का भार सम्भला कर यह राजा तो साधु बन गया और यहाँ ध्यान में खडा है। परन्तु इसके शत्रु ने इसके राज्य पर आक्रमण कर दिया है। वहाँ भयकर सग्राम हो रहा है, प्रजा पीडित हो रही है। पुत्र परेशान हो रहा है। इसे कुछ विचार ही नही है। यह सुनते ही राजर्षि को रोष व जोश आया। होश हवाश खो गया। उसके मन मे उद्वेग उठा। मैं अभी युद्ध म जाऊँगा और शत्रु सेना का सहार कर विजय पाऊँगा। उसका धर्म ध्यान रौद्र-ध्यान मे सक्रमित हो गया। अपनी इस रौद्र और हिंसात्मक मानसिक स्थिति की कालिमा से वह सातवी नर्क की गति का बध करने लगा। ज्योंही वह युद्ध करने के लिए चरण उठाने लगा त्योंही उसने अपनी वेश भूषा को देखा तो उसे होश आया कि मैंने तो राजपाट त्याग कर सयम धारण किया है। मेरा राजपाट से अब कोई सबध नही। इस प्रकार उसने अपने आपको सम्भाला। उसका जोश रोष मन्द होने लगा। रोष या रौद्र ध्यान जैसे-जैसे मद होता गया, घटता गया, वैसे-वैसे नारकीय बन्धन भी घटता गया और सातवीं नर्क से घटकर क्रमश पहली नर्क तक पहुच गया। इसके साथ ही पूर्व म बधे सातवीं आदि नर्कों की बध की स्थिति व अनुभाग घटकर पहली नर्क मे सक्रमित हो गये। फिर भावों में और विशुद्धि आई। रोष जोश शांत होकर सतोष में परिवर्तित हो गया तो राजर्षि देव गति का बध करने लगा। इससे पूर्व ही मे बधा नर्क गति का बध

देव गति मे रूपान्तरित हो गया, सक्रमित हो गया। फिर श्रेणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगी तो भावों मे अत्यन्त विशुद्धि आई। कषायो का उपशमन हुआ तो अनुत्तर विमान देवगति का वन्ध होने लगा। फिर भावो की विशेष विशुद्धि से पाप कर्मों का स्थितिघात और रसघात हुआ। कर्मों की तीव्र उदीरणा हुई। फिर क्षीण कषाय होने पर पूर्ण वीतरागता आ गई और केवल-ज्ञान हो गया। इस प्रकार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपनी वर्तमान भावना की विशुद्धि व साधना के बल से पूर्व बन्ध कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण, उदीरणा आदि करण (क्रियाएँ) कर कृतकृत्य हुआ।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व जन्म मे दुष्प्रवृत्तियो से अशुभ व दु खद पाप कर्मों को बाँधे हुए उसकी स्थिति व अनुभाग को वर्तमान मे अपनी शुभ प्रवृत्तियो से शुभ कर्म बाधकर घटा सकता है तथा शुभ व सुखद पुण्य कर्मों मे सक्रमित कर सकता है। इसके विपरीत वह वर्तमान मे अपनी दुष्प्रवृत्तियो से अशुभ पाप कर्मों का बन्धन कर व पूर्व से बाधे शुभ व सुखद कर्मों को अशुभ व दु खद कर्मो के रूप मे भी सक्रमित कर सकता है। अत यह आवश्यक नही है कि पूर्व मे बन्धे हुए कर्म उसी प्रकार भोगने पडें। व्यक्ति अपने वर्तमान कर्मों (प्रवृत्तियो) के द्वारा पूर्व मे बन्धे कर्मों को बदलने, स्थिति, अनुभाग घटाने-बढ़ाने एव क्षय करने मे पूर्ण समर्थ व स्वाधीन है। साधक पराक्रम करे तो प्रथम गुणस्थान से ऊँचा उठकर कर्मो का क्षय करता हुआ अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। ☐

कर्म के सवैये

तारो की ज्योति में चन्द्र छिपे नहीं, सूर्य छिपे नहीं बादल छाये।
इन्द्र की घोर से मोर छुपे नहीं, सर्प छिपे नहीं पूगी बजाये।
जग जुडे रजपूत छुपे नहीं, दातार छुपे नही मागन आये।
जोगी का वेष अनेक करो पर, कर्म छुपे न भभूति रमाए॥

शरीर दोनो का सम्बन्ध हमारी विभिन्न मानवीय अवस्थाओं का निर्माण करते हैं। हम समस्या और उसके समाधान को स्थूल-शरीर मे खोजते हैं जबकि दोनों का मूल कर्म-शरीर मे होता है। कर्म-शरीर हमारे चिंतन, भावना, संकल्प और प्रवृत्ति से प्रकम्पित होता है। प्रकम्पनकाल मे वह नये परमाणुओं को ग्रहण (बन्ध) करता है और पूर्व गृहीत परमाणुओं का परित्याग (निर्जरण) करता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास की गति का, हमारी प्रभा, हमारी इन्द्रियों का शक्ति का तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श आदि अनुभवों के नियंत्रण का हेतु सूक्ष्म शरीर है। दूसरा को चोट पहुँचाने की हमारी क्षमता या दूसरा से चोट न खाने की हममे जो क्षमता है उसका नियंत्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण शक्ति का नियामक है सूक्ष्म शरीर।

प्राणी के मरने पर जब आत्मा एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल मे उसके साथ दो शरीर अवश्य ही होते हैं एक तैजस और दूसरा कार्मण शरीर। उन दोनो शरीरो के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँचती है। नये जन्म के प्रारम्भ से ही कर्म-शरीर आहार ग्रहण करता है चाहे वह ओज आहार हो या ऊर्जा आहार हो। जीव संसार मे होगा तब ही कर्म शरीर होगा। इस तरह जीव आहार का उपभोग कर शीघ्र ही उसका उपयोग भी कर लेता है। स्थूल शरीर का निर्माण शुरू हो जाता है। हमारे स्थूल शरीर का ज्यों-ज्यों विकास होता है त्यों त्यों नाडियाँ बनती हैं, हड्डियाँ बनती हैं, चक्र बनते हैं, और भी अनेक प्रकार के अवयव बनते रहते हैं व इन्द्रियों का विकास होता रहता है। इस तरह के विकास का मूल स्रोत है कर्म शरीर। कर्म शरीर मे जितने स्रोत हैं, जितने शक्ति-विकास के केंद्र हैं, उन सबका संवेद्य है स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्म शरीर म एक इन्द्रिय का विकास होता है तो स्थूल शरीर की संरचना में केवल एक इन्द्रिय का ही विकास होगा यानी केवल स्पर्श इन्द्रिय का ही विकास होगा। यदि कर्म शरीर म एक से अधिक इन्द्रियों का विकास होता है तो स्थूल शरीर में उतनी ही इन्द्रियो के संघटन विकसित होंगे। यदि कर्म शरीर में मन का विकास होता है तो स्थूल शरीर म भी मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवों के कर्म-शरीर म मन का विकास नहीं है उनके न तो मेद रज्जु होती है और न ही मस्तिष्क क्योंकि मन के विकास के साथ ही मेरु रज्जु और मस्तिष्क बनते हैं। इस प्रकार स्थूल शरीर की रचना का सारा उपक्रम सूक्ष्म-शरीर के विकास पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि सूक्ष्म शरीर बिम्ब है तो स्थूल शरीर उसका प्रतिबिम्ब और यदि सूक्ष्म शरीर प्रमाण है तो स्थूल शरीर उसका सवेदी प्रमाण है।

इस शरीर की रचना तब तक ही होती है जब तक आत्मा कर्मों से बंधी

है। कम बद्ध आत्मा से ही कम-पुद्गल सम्बन्ध जोडते हैं और कम-शरीर से चिपके हुए कम-पुद्गल, अच्छे या बुरे, चाहे इस जन्म के हो या पिछले जन्मो के हो, जीव के साथ चलते हैं और परिपक्व होने पर उदय मे आते हैं। जब आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है तो फिर कोई भी पुद्गल उस शुद्ध चैतन्यमय आत्मा से न तो सम्बन्ध जोड सकते हैं और न ही आवरण डाल सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है, उसका रस-स्राव शरीर की ग्रन्थियो के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियो को सचालित करता है और प्रभावित भी करता है। यदि हम इस तथ्य को उचित रूप में जान लेते हैं तो हम स्थूल शरीर पर ही न रुक कर उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुँच जाएँ। हमे उन रसायनो तक पहुँचना है जो कर्मों के द्वारा निर्मित हो रहे हैं। वहाँ भी हम न रुकें, आगे बढें और आत्मा के उन परिणामो तक पहुँचे, जो उन स्रावो का निर्मित कर रहे हैं। स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण हैं। मूल हैं आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढ कर आत्म परिणाम तक पहुँचे। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा और परिणामो को भी। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरन्तर चलते रहते हैं। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम विशुद्ध होंगे और वे ही आत्म परिणाम वासना की वृत्तियो को उत्तेजना देने वाले चैतन्य केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम कलुषित होंगे। जो चैतन्य केन्द्र क्रोध, मद, माया और लोभ की वृत्तियो को उत्तेजित करते हैं, जो चतन्य केन्द्र आहार सना, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञा को उत्तेजना देते हैं यदि उन चतन्य केन्द्रो की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी, तो उस समय वही वृत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार बनेंगे। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम निरन्तर अभ्यास द्वारा यह जानने की कोशिश करें कि शरीर के किस भाग मे मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और किस भाग मे मन को प्रवाहित करने से बुरे परिणाम उभरते हैं। यदि यह अनुभूति हो जाय तो हम अपनी सारी वृत्तियो पर नियन्त्रण पा सकते हैं और तब हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओ मे प्रवेश कर सकते हैं और अशुभ लेश्याओ से छुटकारा पा सकते हैं।

इस विषय में गुजराती मिश्रित राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रन्थ मे कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य लिखे हैं जो पता नही लेखक के निजी अनुभवो पर आधारित हैं अथवा दूसरे ग्रन्थो के आधार पर, लेकिन बहुत ही आश्चर्यकारी और महत्त्वपूर्ण हैं। उसमे लिखा है—नाभि कमल की अनेक पखुडियाँ हैं। जब आत्म-परिणाम अमुक पखुडी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब मान की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पखुडी पर जाता है तब लोभ

शरीर दोनो का सम्बन्ध हमारी विभिन्न मानवीय अवस्थाओ का निर्माण करते हैं। हम समस्या और उसके समाधान को स्थूल-शरीर मे खोजते हैं जबकि दर्द का मूल कर्म शरीर मे होता है। कर्म-शरीर हमारे चिंतन, भावना, सकल्प और प्रवृत्ति से प्रकम्पित होता है। प्रकम्पनकाल मे वह नये परमाणुओ को ग्रहण (बन्ध) करता है और पूर्व गृहीत परमाणुओ का परित्याग (निर्जरण) करता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास की गति का, हमारी प्रभा, हमारी इन्द्रियों की शक्ति का तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श आदि अनुभवो के नियत्रण का हेतु सूक्ष्म शरीर ह। दूसरो को चोट पहुँचाने की हमारी क्षमता या दूसरों से चोट न खाने की हममे जो क्षमता है उसका नियत्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण शक्ति का नियामक है सूक्ष्म शरीर।

प्राणी के मरने पर जब आत्मा एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल मे उसके साथ दो शरीर अवश्य ही होते हैं एक तैजस और दूसरा कार्मण शरीर। इन दोनो शरीरो के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँचती है। नये जन्म के प्रारम्भ से ही कर्म-शरीर आहार ग्रहण करता है चाहे वह ओज आहार हो या ऊर्जा आहार हो। जीव ससार मे होगा तब ही कर्म शरीर होगा। इस तरह जीव आहार का उपभोग कर शीघ्र ही उसका उपयोग भी कर लेता है। स्थूल शरीर का निर्माण शुरू हो जाता है। हमारे स्थूल शरीर का ज्यों-ज्यों विकास होता है, त्यो त्यो नाडियाँ बनती हैं, हड्डियाँ बनती हैं, चक्र बनते हैं, और भी अनेक प्रकार के अवयव बनते रहते हैं व इन्द्रियो का विकास होता रहता है। इस तरह के विकास का मूल स्रोत है कर्म शरीर। कर्म-शरीर में जितने स्रोत हैं, जितने शक्ति-विकास के केन्द्र हैं, उन सबका सवेद्य है स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्म शरीर मे एक इन्द्रिय का विकास होता है तो स्थूल शरीर की सरचना मे केवल एक इन्द्रिय का ही विकास होगा यानी केवल स्पर्श इन्द्रिय का ही विकास होगा। यदि कर्म शरीर म एक से अधिक इन्द्रियो का विकास होता है तो स्थूल शरीर मे उतनी ही इन्द्रियों के सघटन विकसित होंगे। यदि कर्म शरीर मे मन का विकास होता है तो स्थूल शरीर मे भी मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवों के कर्म शरीर मे मन का विकास नहीं है उनके न तो मेरु रज्जु होती है और न ही मस्तिष्क क्योंकि मन के विकास के साथ ही मेरु रज्जु और मस्तिष्क बनते हैं। इस प्रकार स्थूल शरीर की रचना का सारा उपक्रम सूक्ष्म शरीर के विकास पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि सूक्ष्म शरीर बिम्ब है तो स्थूल शरीर उसका प्रतिबिम्ब और यदि सूक्ष्म शरीर प्रमाण है तो स्थूल शरीर उसका संवेदी प्रमाण है।

इस शरीर की रचना तब तक ही होती है जब तक आत्मा कर्मों से मुक्त

है। कर्म बद्ध आत्मा से ही कर्म-पुद्गल सम्बन्ध जोड़ते हैं और कर्म-शरीर से चिपके हुए कर्म-पुद्गल, अच्छे या बुरे, चाहे इस जन्म के हो या पिछले जन्मो के हों, जीव के साथ चलते हैं और परिपक्व होने पर उदय मे आते हैं। जब आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है तो फिर कोई भी पुद्गल उस शुद्ध चैतन्यमय आत्मा से न तो सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और न ही आवरण डाल सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है, उसका रस-स्राव शरीर की ग्रन्थियो के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियो को सचालित करता है और प्रभावित भी करता है। यदि हम इस तथ्य को उचित रूप मे जान लेते हैं तो हम स्थूल शरीर पर ही न रुक कर उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुँच जाएँ। हमे उन रसायनो तक पहुँचना है जो कर्मों के द्वारा निर्मित हो रहे है। वहाँ भी हम न रुकें, आगे बढें और आत्मा के उन परिणामों तक पहुँचे, जो उन स्रावो को निर्मित कर रहे हैं। स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण हैं। मूल हैं आत्मा के परिणाम। हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढ कर आत्म परिणाम तक पहुँचे। उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा और परिणामो को भी। मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरन्तर चलते रहते हैं। आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम विशुद्ध होंगे और वे ही आत्म परिणाम वासना की वृत्तियो को उत्तेजना देने वाले चतन्य-केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम कलुषित होंगे। जो चैतन्य केन्द्र क्रोध, मद, माया और लोभ की वृत्तियो को उत्तेजित करते हैं, जो चतन्य केन्द्र आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञा को उत्तजना देते हैं यदि उन चैतन्य केन्द्रो की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी, तो उस समय वही वृत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार बनेंगे। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम निरन्तर अभ्यास द्वारा यह जानने की कोशिश करें कि शरीर के किस भाग में मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और किस भाग मे मन को प्रवाहित करने से बुरे परिणाम उभरते हैं। यदि यह अनुभूति हो जाय तो हम अपनी सारी वृत्तियो पर नियन्त्रण पा सकते हैं और तब हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओं मे प्रवेश कर सकते हैं और अशुभ लेश्याओं से छुटकारा पा सकते हैं।

इस विषय मे गुजराती मिश्रित राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रन्थ में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य लिखे हैं जो पता नही लेखक के निजी अनुभवो पर आधारित हैं अथवा दूसरे ग्रन्थों के आधार पर, लेकिन बहुत ही आश्चर्यकारी और महत्त्वपूर्ण हैं। उसमे लिखा है—नाभि कमल की अनेक पखुडियाँ हैं। जब आत्म-परिणाम अमुक पखुडी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है जब अमुक पखुडी पर जाता है तब मान की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पखुडी पर जाता है तब लोभ

न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्म फल संयोग, स्वभावास्तु प्रवर्तते ॥

हे अर्जुन ! न मैं कर्म करता हूं, न ही संसार को बनाता हूँ । जीवों को उनके कर्म का फल भी नहीं देता हूँ । इस संसार मे जो भी कुछ हो रहा है, वह स्वभाव से ही हो रहा है । इससे स्पष्ट है कि न तो भगवान् संसार का निर्माण करते हैं और न ही कर्मों का फल ही देते हैं । कर्म एक प्रकार की शक्ति है । आत्मा भी अपने प्रकार की एक शक्ति है । कर्म आत्मा करता है । जो कर्म उसने किए हैं । वे अपने-अपने स्वभावानुसार उसे फल देते हैं । यहां किसी भी न्यायाधीश की आवश्यकता नही । हमारे आत्मप्रदेशो मे मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग इन पाच निमित्तो से हलचल होती है । जिस क्षेत्र में आत्म प्रदेश हैं, उसी क्षेत्र मे कर्म योग्य पुद्गल जीव के साथ बंध जाते । हैं कर्म का यह मेल दूध और पानी जैसा होता है । 'कर्म ग्रंथ' मे कर्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है —कीरइ जीएण हे उहिं, जेण तो भण्णए कम्म' अर्थात कषाय आदि कारणो से जीव के द्वारा जो किया जाता है वह कर्म होता है । कर्म दो प्रकार के होते हैं । एक भाव कर्म और दूसरा द्रव्य कर्म । आत्मा मे राग, द्वेष आदि जो विभाव हैं, वे भाव कर्म हैं । कर्म वर्गणा के पुद्गलो का सूक्ष्म विकार द्रव्य कर्म कहलाता है । भाव कर्म का कर्त्ता उपादान रूप से जीव है और द्रव्य कर्म से जीव निमित्त कारण होता है । निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्त्ता भी जीव ही है । भाव कर्म में द्रव्य कर्म निमित्त होता है और द्रव्य कर्म में भाव कर्म निमित्त होता है । इस प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म दोनो का परस्पर बीज और अंकुर की भांति कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है ।

संसार में जितने भी जीव हैं, आत्मस्वरूप की दृष्टि से सब एक समान हैं फिर भी वे भिन्न भिन्न अनेक योनियो म, अनेक स्थितियों में शरीर धारण किए हुए हैं । एक अमीर है, दूसरा गरीब है । एक पंडित है, दूसरा अनपढ है । एक सबल है दूसरा निबल है । एक मां के उदर से जन्म लेने वाले दो बालकों में भी अन्तर देखा जाता है । अन्तर की इस विचित्रता म कोई न कोई कारण तो अवश्य ही है । वह कारण है कर्म । हमें सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह तो प्रत्यक्ष दिखता है किन्तु कर्म नहीं दिखते । जैन दर्शन मे कर्म को पुद्गल रूप माना है । इसलिए वह साकार है, मूर्त है । कर्म के जो कार्य हैं वे भी मूर्त हैं । जहां कारण मूर्त होता है, वहां उसका कार्य भी मूर्त ही होगा । जैसे घडा है, वह मिट्टी से बनता है । इसमे मिट्टी कारण है और घडा कार्य है । दोनों मूर्त हैं । जिस प्रकार मूर्त कारण की बात कही गई है, अमूर्त कार्य-कारण के लिए भी यही नियम है । जहां कारण अमूर्त होगा, वहां उसका कार्य भी अमूर्त होगा । ज्ञान का कारण आत्मा है, यहां ज्ञान और आत्मा दोनों अमूर्त हैं । आप पूछ सकते हैं कि जब अमूर्त से अमूर्त की ही उत्पत्ति होती है तो फिर मूर्त कर्मों से सुख-

दु ख आदि अमूत्त तत्त्वो की उत्पत्ति कसे होती है ? सुख आदि हमारी आत्मा के धम हैं और आत्मा ही उनका उत्पादन कारण है। कर्म तो केवल सुख दु ख मे निमित्त कारण रूप हैं। अत जो कुछ ऊपर कम के विषय मे कहा गया है वह इन पक्तियो से स्पष्ट हो जाता है।

यहा यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब कम तो मूत्त हैं और आत्मा अमूत्त हैं फिर दोनो का मेल कैसे खायेगा ? अमूर्त आत्मा पर कर्म कैसे प्रभावी हो सकते हैं ? आपने कभी मदिरा तो देखी होगी। मदिरा मूर्त होती है। जब मनुष्य मदिरा को पी लेता है तो जिस प्रकार आत्मा के अमूत्त ज्ञान आदि गुणो पर उसका प्रभाव होता है, ठीक उसी प्रकार मूत्त कर्मों का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव होता ह।

भारतीय दर्शन मे यह कर्मवाद सिद्धान्त अपना एक महत्त्वपूण स्थान रखता है। चार्वाकों को छोडकर समस्त दाशनिक किसी न किसी रूप मे कमवाद को अवश्य स्वीकार करते हैं। भारतीय दशन, धर्म, साहित्य, कला और विज्ञान आदि सब पर कर्मवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पडता है। जीव अनादि काल से कर्मों के वशीभूत होकर अनेक भवो मे भ्रमण करता चला आ रहा है। जीवन और मरण दोनो की जड कम है। इस ससार मे जन्म और मरण ही सबसे बडा दु ख है। जो जैसा करता है, वैसा ही फल भोगना पडता ह। एक प्राणी पर दूसरे प्राणी के कमफल का प्रभाव नही होता। कम स्व सम्बद्ध होता है, पर सम्बद्ध नही। यद्यपि सभी विचारको ने कमवाद को माना ह फिर भी जैन शास्त्रो में इसका जितना विशद विवेचन मिलता है, उसकी तुलना अन्यत्र दुलभ ही हैं। यही कारण है कि कमवाद जैन दशन का एक आत्मीय अग बन गया है। कमवाद के कुछ आधारभूत सिद्धान्त होते हैं जिन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं —

१ प्रत्येक क्रिया फलवती होती ह। कोई भी क्रिया निष्फल नही होती।
२ यदि किसी क्रिया का फल इस जन्म मे नही प्राप्त होता तो उसके लिए भविष्यकालीन जीवन अनिवाय है।
३ कर्मों का कर्त्ता और उनके फलो का भोक्ता यह जीव, कर्मों के प्रभाव से एक भव से दूसरे भव मे गमन करता रहता है। अपने किसी न किसी भव के माध्यम से ही वह एक निश्चित काल-मर्यादा मे रहता हुआ अपने पूर्व कृत कर्मों का फलभोग तथा नए कर्मों का बन्धन करता है। यहा यह बात उल्लेखनीय है कि कर्म बन्धन की इस परम्परा को तोडना भी उसकी शक्ति के अन्तगत ही है।
४ जन्मजात व्यक्ति-भेद और असमानता कर्मों के कारण ही होती है।

आत्मा की अनन्त शक्ति पर कर्मों का आवरण आया हुआ है जिसके कारण हम अपने आपसे परिचित नही हो पा रहे हैं। इन कर्मों से हम तभी मुक्त हो पाएँगे, जब हमें अपनी शक्ति का पूरा परिचय और भरोसा होगा। •

१३ कर्म और पुरुषार्थ

☐ युवाचार्य मह

हम चर्चा करते हैं स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की। कौन स्वतंत्र है? कौन परतंत्र, कौन उत्तरदायी है, इन प्रश्नों का उत्तर एकान्त की भाषा में नहीं दिया जा सकता। हम नहीं कह सकते कि हम पूर्ण स्वतंत्र हैं। हम यह भी नहीं कह सकते कि हम पूर्ण परतंत्र हैं। दोनों सापेक्ष हैं। हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी। जहां-जहां निरपेक्ष प्रतिपादन होता है वहां समस्या का समाधान *नहीं होता, सत्य उपलब्ध नहीं होता, सत्य के नाम पर असत्य उपलब्ध होता है।*

महान् वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया और उसका आधार माना प्रकाश की गति को। उन्होंने प्रकाश की गति को स्टेंडर्ड मानकर अनेक प्रयोग किए। प्रकाश की गति है एक सेकेण्ड में एक लाख छियासी हजार मील की। इस आधार पर जो निर्णय लिए गए वे सारे सापेक्ष निर्णय हैं, निरपेक्ष नहीं। प्रकाश की गति सापेक्ष निर्णय है। प्रकाश की गति और तीव्र होती तो सारे निर्णय बदल जाते। काल छोटा भी हो जाता है और बड़ा भी हो जाता है। काल सिकुड़ जाता है गतिशीलता से। काल पीछे सरकता है और छलांग भी भरता है। काल का प्रतिक्रमण भी होता है और अतिक्रमण भी होता है। यह सारा सापेक्षता के आधार पर होता है। इसलिए सारे निर्णय सापेक्ष होते हैं। जहां सापेक्षता की विस्मृति होती है वहां तनाव पैदा होता है।

काल, स्वभाव, नियति, कर्म—ये सारे तत्त्व स्वतंत्रता को सीमित करते हैं, परतन्त्रता को बढ़ाते हैं। आदमी काल से, स्वभाव से, नियति से और कर्म से बंधा हुआ है। बंधन के कारण वह पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। वह परतन्त्र है पर पूर्ण परतन्त्र भी नहीं है। यदि वह पूर्ण परतन्त्र होता तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता। उसका मनुष्यत्व ही समाप्त हो जाता और चेतना का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। चेतना रहती ही नहीं। उसका अपना कुछ रहता ही नहीं। वह कठपुतली बन जाता। कठपुतली पूर्णतः परतन्त्र होती है। उसे जैसे नचाया जाता है वह नाचती है। कठपुतली नचाने वाले के इशारे पर चलती है। उसका अपना कोई अधिकार या कर्तृत्व नहीं है [चेतना नहीं है।] जिसकी अपनी

चेतना नही होती वह परतंत्र हो सकता है, पर शतप्रतिशत परतन्त्र तो वह भी नही होता।

प्राणी चेतनावान है। उसकी चेतना है। जहाँ चेतना का अस्तित्व है वहाँ पूरी परतन्त्रता की बात नहीं आती। दूसरी बात है—काल, कर्म आदि जितने भी तत्त्व हैं वे भी सीमित शक्ति वाले हैं। दुनिया में असीम शक्ति संपन्न कोई नही है। सब मे शक्ति है और उस शक्ति की अपनी मर्यादा है। काल, स्वभाव, नियति और कर्म—ये शक्ति-संपन्न हैं, पर इनकी शक्ति अमर्यादित नही है। लोगो ने मान रखा है कि कर्म सर्वशक्ति संपन्न है। सब कुछ उससे ही होता है। यह भ्रान्ति है। यह टूटनी चाहिए। सब कुछ कर्म से नही होता। यदि सब कुछ कर्म से ही होता तो मोक्ष होता ही नही। आदमी कभी मुक्त नही हो पाता। चेतना का अस्तित्व ही नही होता। कर्म की अपनी एक सीमा है। वह उसी सीमा मे अपना फल देता है, विपाक देता है। वह शक्ति की मर्यादा मे ही काम करता है।

व्यक्ति अच्छा या बुरा कर्म अर्जित करता है। वह फल देता है, पर कब देता है, उस पर भी बंधन है। उसकी मर्यादा है, सीमा है। मुक्त भाव से वह फल नही देता। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये उसकी सीमाएँ हैं। प्रत्येक कर्म का विपाक होता है। माना जाता है कि दर्शनावरणीय कर्म का विपाक होता है तब नींद आती है। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, अभी आपको नींद नहीं आ रही है। आप दत्तचित्त होकर प्रवचन सुन रहे हैं। तो क्या दर्शनावरणीय कर्म का उदय या विपाक समाप्त हो गया ? दिन मे नींद नही आती तो क्या दिन मे दर्शनावरणीय कर्म का उदय समाप्त हो गया ?—रात को सोने का समय है। उस समय नींद आने लगती है, पहले नहीं आती। तो क्या दर्शनावरणीय कर्म का उदय समाप्त हो गया ? कर्म विद्यमान् है, चालू है, पर वह विपाक देता है द्रव्य के साथ, काल और क्षेत्र के साथ। एक क्षेत्र में नींद बहुत आती है और दूसरे क्षेत्र मे नींद नहीं आती। एक काल में नींद बहुत सताती है और दूसरे काल मे नींद गायब हो जाती है। क्षेत्र और काल—दोनों निमित्त बनते हैं कर्म के विपाक में। बेचारे नारकीय जीवों को नींद कभी आती ही नही। कहाँ से आएगी ? वे इतनी सघन पीड़ा भोगते है कि नींद हराम हो जाती है। तो क्या यह मान लें कि नारकीय जीवों मे दर्शनावरणीय कर्म समाप्त हो गया ? नहीं, उनमे दर्शनावरणीय कर्म का अस्तित्व है, पर क्षेत्र या वेदना का ऐसा प्रभाव है कि नींद आती ही नही। प्रत्येक कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, जन्म आदि आदि परिस्थितियों के साथ अपना विपाक देता है। ये सारी कर्म की सीमाएँ है। कर्म सब कुछ नहीं करता। जब व्यक्ति जागरूक होता है तब किया हुआ कर्म भी टूटने सा लगता है।

कर्म मे कितना परिवर्तन होता है, इसको समझना चाहिए। भगवान्

महावीर ने कर्म का जो दर्शन दिया, उसे सही नहीं समझा गया। अन्यथा कर्म-वाद के विषय में इतनी गलत मान्यताएँ नहीं होतीं। आज भारतीय मानस में कर्मवाद और भाग्यवाद की इतनी भ्रान्तिपूर्ण मान्यताएँ घर कर गई हैं कि आदमी उन मान्यताओं के कारण बीमारी भी भुगतता है, कठिनाइयाँ भी भुगतता है और गरीबी भी भुगतता है। गरीब आदमी यही सोचता है कि भाग्य में ऐसा ही लिखा है, अत ऐसे ही जीना है। बीमार आदमी भी यही सोचता है कि भाग्य में बीमारी का लेख लिखा हुआ है, अत रुग्णावस्था में ही जीना है। वह हर कार्य में कर्म का बहाना लेता है और दु ख भोगता जाता है। आज उसकी आदत ही बन गई है कि वह प्रत्येक कार्य में बहाना ढूँढता है।

एक न्यायाधीश के सामने एक मामला आया। लड़ने वाले थे पति और पत्नी। पत्नी ने शिकायत की कि मेरे पति ने मेरा हाथ तोड़ डाला। जज ने पति से पूछा—"क्या तुमने हाथ तोड़ा है?" उसने कहा—"हाँ! मैं शराब पीता हूँ। गुस्सा आ गया और मैंने पत्नी का हाथ तोड़ डाला।" जज ने सोचा—घरेलू मामला है। पति को समझाया, मारपीट न करने की बात कही और केस समाप्त कर दिया।

कुछ दिन बीते। उसी जज के समक्ष वे दोनों—पति-पत्नी पुन उपस्थित हुए। पत्नी ने शिकायत के स्वर में कहा—"इन्होंने मेरा दूसरा हाथ भी तोड़ डाला है।" जज ने पति से पूछा। उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा—"जज महोदय! मुझे शराब पीने की आदत है। एक दिन मैं शराब पीकर घर आया। मुझे देखते ही पत्नी बोली—शराबी आ गया। शराब की भाँति मैं उस गाली को भी पी गया। इतने में ही पत्नी फिर बोली—न्यायाधीश भी निरा मूर्ख है, आज वे शराबी यदि न होते तो मेरा दूसरा हाथ नहीं टूटता। जब पत्नी ने यह कहा तब मैं अपने आपे से बाहर हो गया। मैंने स्वयं का अपमान तो चुपचाप सह लिया पर न्यायाधीश का अपमान नहीं सह सका और मैंने इसका दूसरा हाथ भी तोड़ डाला। यह मैंने न्यायाधीश के सम्मान की रक्षा के लिए किया। मैं अपराधी नहीं हूँ।"

आदमी को बहाना चाहिए। बहाने के आधार पर वह अपनी कमजोरियाँ छिपाता है। और इस प्रक्रिया से अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं। यदि आदमी साफ होता, बहानेबाजी से मुक्त होता तो समस्याएँ इतनी नहीं होतीं।

कर्म और भाग्य का बहाना भी बड़ा बहाना बन गया है। इसमें हमारे अनेक समस्याएँ उभर रही हैं। इन समस्याओं का परिणाम आदमी को स्वयं भुगतना पड़ रहा है। वह परिणामों को भुगतता जा रहा है। जब इन्द्रियों,

मान्यताएँ और धारणाएँ गलत होती हैं तब उनके परिणामों से उबारने वाला कोई नहीं होता।

"सब कुछ कर्म ही करता है"—यह अत्यन्त भ्रान्त धारणा है। आदमी ने सापेक्षता को विस्मृत कर दिया। सब कुछ कर्म से नहीं होता।

काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत [हमारा किया हुआ] और पुरुषार्थ—ये पाँच तत्त्व हैं। इन्हें समवाय कहा जाता है। ये पाँचों सापेक्ष हैं। यदि किसी एक को प्रधानता देंगे तो समस्याएँ खड़ी हो जाएँगी। काल प्रकृति का एक तत्त्व है। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अपना-अपना होता है। नियति सार्वभौम नियम है, जागतिक नियम है। यह सब पर समान रूप से लागू होता है। व्यक्ति स्वयं कुछ करता है। मनसा, वाचा, कर्मणा, जाने अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्ति के द्वारा जो किया जाता है, वह सारा का सारा अंकित होता है। जो पुराकृत किया गया है, उसका अंकन और प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है। करो, उसकी प्रतिक्रिया होगी। गहरे कूए में बोलेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि अवश्य होगी। ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है। बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यह सिद्धान्त है दुनिया का। प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिणाम होता है और उसकी प्रवृत्ति होती है। कर्म अपना किया हुआ होता है। कर्म का कर्त्ता स्वयं व्यक्ति है और परिणाम उसकी कृति है, यह प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है। इसलिए इसे कहा जाता है—पुराकृत। इसका अर्थ है—पहले किया हुआ। पाँचवाँ तत्त्व है—पुरुषार्थ। कर्म और पुरुषार्थ—दो नहीं, एक ही हैं। एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। इनमें अन्तर इतना सा है कि वर्तमान का पुरुषार्थ "पुरुषार्थ" कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ "कर्म" कहलाता है। कर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही किया जाता है, कर्तृत्व के द्वारा ही किया जाता है। आदमी पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उस क्षण के बीत जाने पर वही पुरुषार्थ कर्म नाम से अभिहित होता है।

ये पाँच तत्त्व हैं। पाँचों सापेक्ष हैं। सब शक्तिमान एक भी नहीं है। सब की शक्तियाँ सीमित हैं, सापेक्ष हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हम स्वतन्त्र भी हैं और परतन्त्र भी हैं।

दूसरा प्रश्न है—उत्तरदायी कौन? काल, स्वभाव, नियति और कर्म—ये सब हमें प्रभावित करते हैं, पर चारों उत्तरदायी नहीं हैं। उत्तरदायी है व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ, अपना कर्तृत्व। आदमी किसी भी व्यवहार या आचरण के दायित्व से छूट नहीं सकता। यह बहाना नहीं बनाया जा सकता कि "योग ऐसा ही था, कर्म था, नियति और स्वभाव था, इसलिए ऐसा घटित हो गया।" ऐसा

दो भाई थे। एक बार दोनो एक ज्योतिषी के पास गए। बडे भाई ने अपने भविष्य के बारे मे पूछा। ज्योतिषी ने कहा—"तुम्हें कुछ ही दिनों के पश्चात् सूली पर लटकना पडेगा। तुम्हे सूली की सजा मिलेगी।" छोटे भाई ने भी अपना भविष्य जानना चाहा। ज्योतिषी बोला—तुम भाग्यवान हो। तुम्हें कुछ ही समय पश्चात राज्य मिलेगा, तुम राजा बनोगे। दोनो आश्चर्य चकित रह गए। कहाँ राज्य का लाभ और कहाँ सूली की सजा? असम्भव-सा था। दोनो घर आ गए। बडे भाई ने सोचा—ज्योतिषी ने जो कहा है, सम्भव है वह बात मिल जाए। अब मुझे सम्भल कर कार्य करना चाहिए। वह जागरूक और अप्रमत्त बन गया। उसका व्यवहार और आचरण सुधर गया। उसे मौत सामने दीख रही थी। जब मौत सामने दीखने लगती है तब हर आदमी बदल जाता है। बडे-से-बडा नास्तिक भी मरते-मरते आस्तिक बन जाता है। ऐसे नास्तिक देखे हैं जो जीवन भर नास्तिकता की दुहाई देते रहे, पर जीवन के अंतिम क्षणों मे पूर्ण आस्तिक बन गए। बडे भाई का दृष्टिकोण बदल गया, आचरण और व्यवहार बदल गया और उसके व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो गया।

छोटे भाई ने सोचा—राज्य मिलने वाला है, अब चिन्ता ही क्या है? वह प्रमादी बन गया। उसका मद उभर गया। अब वह आदमी को कुछ भी नही समझने लगा। एक-एक कर अनेक बुराइयाँ उसमे आ गई। भविष्य में प्राप्त होने वाली राज्य सत्ता के लोभ ने उसे अंधा बना डाला। सत्ता की मदिरा का मादकपन अनूठा होता है। उसकी स्मृति मात्र आदमी को पागल बना देती है। वह सत्ता के मद मे मदोन्मत्त हो गया। वह इतना बुरा व्यवहार और आचरण करने लगा कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कुछ दिन बीते। बड़ा भाई कहीं जा रहा था। उसके पैर में शूल चुभी और वह उसके दर्द को कुछ दिनों तक भोगता रहा। छोटा भाई एक मार्ग से गुजर रहा था। उसकी दृष्टि एक स्थान पर टिकी। उसने उस स्थान को खोदा और वहाँ गड़ी मोहरों की थैली निकाल ली।

चार महीने बीत गए। दोनों पुन ज्योतिषी के पास गए। दोनों ने कहा—ज्योतिषीजी! आपकी दोनों बातें नहीं मिली। न सूली की सजा ही मिली और न राज्य ही मिला। ज्योतिषी पहुँचा हुआ था। बडा निमित्तज्ञ था। उसने बड़े भाई की ओर मुड़कर कहा—"मेरी बात असत्य हो नहीं सकती। तुमने अच्छा आचरण किया अन्यथा तुम पकडे जाते और तुम्हें सूली की सजा मिलती। पर यह सूली की सजा शूल से टल गई। बताओ, तुम्हारे पैर में शूल चुभी या नहीं?" छोटे भाई से कहा—"तुम्हें राज्य प्राप्त होने वाला था। पर

तुम प्रमत्त बने, बुरा आचरण करने लगे। तुम्हारा राज्य लाभ मोहरों में टल गया।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि संचित पुण्य बुरे पुरुषार्थ से पाप में बदल जाते हैं और संचित पाप अच्छे पुरुषार्थ से पुण्य में बदल जाते हैं। यह संक्रमण होता है, किया जाता है।

मुनिजी को फिर मैंने कहा—यह जैन दर्शन का मान्य सिद्धान्त है और मैंने इसी का "जीव अजीव" पुस्तक में विमर्श किया है। 'स्थानांग' सूत्र में चतुर्भंगी मिलती है—

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—

सुभे नाम मेगे सुभविवागे,
सुभे नाम मेगे असुभविवागे,
असुभे नाम मेगे सुभविवागे,
असुभे नाम मेगे असुभविवागे। (ठाण ४/६०३)

एक होता है शुभ, पर उसका विपाक होता है अशुभ। दूसरे शब्दों में बंधा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका विपाक होता है पाप। बंधा हुआ है पाप कर्म, पर उसका विपाक होता है पुण्य। कितनी विचित्र बात है। यह सारा संक्रमण का सिद्धान्त है। शेष दो विकल्प सामान्य हैं। जो अशुभ रूप में बंधा है, उसका विपाक अशुभ होता है और जो शुभरूप में बंधा है, उसका विपाक शुभ होता है। इन दो विकल्पों में कोई विमर्शणीय तत्त्व नहीं है, किन्तु दूसरा और तीसरा—ये दोनों विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं और संक्रमण सिद्धान्त के प्ररूपक हैं। संक्रमण का सिद्धान्त पुरुषार्थ का सिद्धान्त है। ऐसा पुरुषार्थ होता है कि अशुभ-शुभ में और शुभ अशुभ में बदल जाता है।

इस संदर्भ में हम पुरुषार्थ का मूल्यांकन करें और सोचें कि दायित्व और कर्तृत्व किसका है? हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि सारा दायित्व और कर्तृत्व है पुरुषार्थ का। अच्छा पुरुषार्थ कर आदमी अपने भाग्य को बदल सकता है। अनेक बार निमित्तज्ञ बताते हैं—भाई! तुम्हारा भाग्य अच्छा है, पर अच्छा कुछ भी नहीं होता। क्योंकि वे अपने भाग्य का ठीक निर्माण नहीं करते, पुरुषार्थ का ठोस उपयोग नहीं करते। पुरुषार्थ का उचित उपयोग न कर सकने के कारण कुछ भी नहीं हुआ और बेचारा ज्योतिषी झूठा हो गया। उसकी भविष्यवाणी असत्य हो गई।

ज्योतिषी ने किसी को कहा कि तुम्हारा भविष्य खराब है। उस व्यक्ति

ने उसी दिन से अच्छा पुरुषार्थ करना प्रारम्भ कर दिया और उसका भविष्य अच्छा हो गया।

सुकरात के सामने एक व्यक्ति आकर बोला—"मैं तुम्हारी जन्म-कुंडली देखना चाहता हूँ।" सुकरात बोला—"अरे! जन्मा तब जो जन्म-कुंडली बनी थी, उसे मैं गलत कर चुका हूँ। मैं उसे बदल चुका हूँ। अब तुम उसे क्या देखोगे?"

पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति अपनी जन्म-कुंडली को भी बदल देता है। ग्रहों के फल-परिणामों को भी बदल देता है, भाग्य को बदल देता है। इस दृष्टि से मनुष्य का ही कर्तृत्व है, उत्तरदायित्व है। दूसरे शब्दों में पुरुषार्थ का ही कर्तृत्व है और उत्तरदायित्व है। महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धान्त पर बल दिया, पर एकांगी दृष्टिकोण की स्थापना नहीं की। उन्होंने सभी तत्त्वों के समवेत कर्तृत्व को स्वीकार किया, पर उत्तरदायित्व किसी एक तत्त्व का नहीं माना।

भगवान् महावीर के समय की घटना है। शकडाल नियतिवादी था। भगवान् महावीर उसके घर ठहरे। उसने कहा—"भगवन्! सब कुछ नियति से होता है। नियति ही परम तत्त्व है।" भगवान् महावीर बोले—"शकडाल! तुम घड़े बनाते हो। बहुत बड़ा व्यवसाय है तुम्हारा। तुम कल्पना करो, तुम्हारे आवे से अभी अभी पककर पाँच सौ घड़े बाहर निकाले गए हैं। वे पड़े हैं। एक आदमी लाठी लेकर आता है और सभी घड़ों को फोड़ देता है। इस स्थिति में तुम क्या करोगे?"

शकडाल बोला—"मैं उस आदमी को पकड़ कर मारूँगा, पीटूँगा।"

महावीर बोले—"क्यों।"

शकडाल ने कहा—'उसने मेरे घड़े फोड़े हैं, इसलिए वह अपराधी है।"

महावीर बोले—"बड़े आश्चर्य की बात है। सब कुछ नियति करवाता है। वह आदमी नियति से बंधा हुआ था। नियति ने ही घड़े फुड़वाए हैं। उस आदमी का इसमें दोष ही क्या है?"

यह चर्चा आगे बढ़ती है और अन्त में शकडाल अपने नियति के सिद्धान्त को आगे नहीं खींच पाता, वह निरुत्तर हो जाता है।

पुरुषार्थ का अपना दायित्व है। कोई भी आदमी यह कहकर नहीं बच सकता कि मेरी ऐसी ही नियति थी। इस सचाई की यथार्थता का अनुभव करना होगा।

इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अप्रमाद बढ़े और प्रमाद घटे, जागरूकता बढ़े और मूर्छा घटे। पुरुषार्थ का उपयोग नहीं किया जा रहा और गलत दिशा में जाने वाला पुरुषार्थ टूटे। हम अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करें। □

१४ कर्म, कर्मबन्ध और कर्मक्षय

☐ श्री राजीव प्रचण्डिया

सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का बना हुआ सूक्ष्म/अदृश्य शरीर वस्तुत कार्माण शरीर कहलाता है। यह कार्माण शरीर आत्मा मे व्याप्त रहता है। आत्मा का जो स्वभाव (अनन्त ज्ञान-दर्शन, अनन्त आनन्द-शक्ति आदि) है, उस स्वभाव को जब यह सूक्ष्म शरीर विकृत/आच्छादित करता है तब यह आत्मा सांसारिक/बद्ध हो जाता है अर्थात् राग द्वेषादिक कषायिक भावनाओ के प्रभाव में आ जाता है अर्थात् कर्मबन्धन मे बँध जाता है जिसके फलस्वरूप यह जीवात्मा अनादिकाल से एक भव/योनि से दूसरे भव/योनि में अर्थात् अनन्त-भवो/अनन्त योनियों मे इस ससार चक्र में परिभ्रमण करता रहता है।

कर्म जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक विश्लेषण जितना जैन दर्शन करता है उतना विज्ञान सम्मत अन्य दर्शन नही। जैन दर्शन के समस्त सिद्धान्त/मान्यताएँ वास्तविकता से अनुप्राणित, प्रकृति अनुरूप तथा पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। फलस्वरूप जैन धर्म एक व्यावहारिक तथा जीवनोपयोगी धर्म है।

'कर्मबन्धन' की प्रणाली को समझने के लिए जैनदर्शन मे निम्न पाँच महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख निरूपित है, यथा—

(१) आस्रव,
(२) बन्ध,
(३) सवर,
(४) निर्जरा, तथा
(५) मोक्ष।

मनुष्य जब कोई कार्य करता है, तो उसके आस-पास के वातावरण में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके कारण उसके चारो ओर उपस्थित कर्म-शक्ति युक्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणु/कार्माण वर्गणा/कर्म आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। इनका आत्मा की ओर आकर्षित होना आस्रव तथा आत्मा के साथ क्षेत्रावगाह/एक ही स्थान मे रहने वाला सम्बन्ध बन्ध कहलाता है। इन परमाणुओं को आत्मा की ओर आकृष्ट न होने देने की प्रक्रिया वस्तुत सवर है। 'निर्जरा'

आत्मा से इन सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं के छूटने का विधि-विधान है तथा आत्मा का सर्वप्रकार के कर्म-परमाणुओं से मुक्त होना मोक्ष कहलाता है। वास्तव में कर्मों के आने का द्वार आस्रव है जिसके माध्यम से कर्म आते हैं। संवर के माध्यम से यह द्वार बन्द होता है अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है तथा जो कर्म आस्रव-द्वार द्वारा पूर्व ही बद्ध/संचित किए जा चुके हैं, उन्हें निर्जरा अर्थात् तप/साधना द्वारा ही दूर/क्षय किया जा सकता है। इस प्रकार संवर और निर्जरा मुक्ति के कारण हैं, तथा आस्रव और बन्ध संसार परिभ्रमण के हेतु हैं। इन उपर्युक्त पाँच बातों को जैन दर्शन में तत्त्व कहा गया है। यह निश्चित है कि तत्त्व को जाने/समझे बिना कर्म रहस्य को समझ पाना नितान्त असम्भव है। मोक्ष मार्ग में तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते हैं।

'तस्यभावस्तत्त्वम्' अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानना तत्त्व कहलाता है अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु के प्रति वही भाव रखना, तत्त्व है, किन्तु वस्तु स्वरूप के विपरीत जानना/मानना मिथ्यात्व/उल्टी मान्यता/यथार्थ ज्ञान का अभाव है। यह मिथ्यात्व कषायिक भावनाओं (क्रोध, मान, माया और लोभ) तथा अविरति (हिंसा, झूठ, प्रमाद) आदि मनोविकारों को जन्म देता है, जिससे कर्मों का आस्रव बन्ध होता है। उपरोक्त तत्त्वों को सही सही रूप में जान लेने/सम्यग्दर्शन के पश्चात पर स्व भेद बुद्धि को समझकर/सम्यग्ज्ञान के तदनन्तर इन तत्त्वों के प्रति श्रद्धान तथा भेद विज्ञान पूर्वक इन्हें स्व में लय करने/सम्यग् चारित्र से कर्मों का संवर निर्जरा होता/होती है। निर्जरा हो जाने पर तथा समस्त कर्मों से मुक्ति मिलने पर ही जीव संसार के आवागमन से छूट जाता है। निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।

जैनदर्शन में कार्माण वर्गणा/कर्म शक्ति युक्त परमाणु/कर्म, को मूलतः दो भागों में विभक्त किया गया है। एक तो वे कर्म जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करते हैं, घाति कर्म कहलाते हैं जिनके अन्तर्गत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म आते हैं तथा दूसरे वे कर्म जिनके द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप के आघात को अपेक्षा जीव की विभिन्न योनियाँ, अवस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ निर्धारित हुआ करती हैं, अघाति कर्म कहलाते हैं, इनमें नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म समाविष्ट हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म

ज्ञान के आवरण/कर्म परमाणुओं का वह समूह जिससे आत्मा का ज्ञान गुण प्रच्छन्न रहता है ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के प्रभाव से आत्मा के अन्दर स्थित ज्ञान शक्ति आवृत हो जाती है। [illegible] और [illegible] बिना [illegible] में ही [illegible] सम्पूर्ण [illegible] रहता है। इस कर्म [illegible] के लिए [illegible] से बताया गया है।

दर्शनावरणीय कर्म

कर्म-शक्ति युक्त परमाणुओं का वह समूह जिसके द्वारा आत्मा का अनन्त दर्शन स्वरूप अप्रकट रहता है, दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के कारण आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहिचानने में सर्वथा असमर्थ रहता है। फलस्वरूप वह मिथ्यात्व का आश्रय लेता है।

मोहनीय कर्म

इस कर्म के अन्तर्गत वे कार्मण वर्गणाएँ आती हैं जिनके द्वारा जीव में मोह उत्पन्न होता है। यह कर्म आत्मा के शान्ति सुख आनन्द स्वभाव को विकृत करता है। मोह के वशीभूत जीव स्व-पर का भेद-विज्ञान भूल जाता है। समाज में व्याप्त संघर्ष इसी के कारण हैं।

अन्तराय कर्म

आत्मा में व्याप्त ज्ञान-दर्शन आनन्द के अतिरिक्त अन्य सामर्थ्य शक्ति को प्रकट करने में जो कर्म परमाणु बाधा उत्पन्न करते हैं, वे सभी अन्तराय कर्म के अन्तर्गत आते हैं। इस कर्म के कारण ही आत्मा में व्याप्त अनन्त शक्ति का ह्रास होने लगता है। आत्म विश्वास की भावनाएँ, संकल्प शक्ति तथा साहस-वीरता आदि मानवीय गुण प्रायः लुप्त हो जाते हैं।

नाम कर्म

इस कर्म के द्वारा जीव एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेता है तथा उसके शरीरादि का निर्माण भी इन्हीं कर्म वर्गणाओं के द्वारा हुआ करता है।

गोत्र कर्म

कर्म परमाणुओं का वह समूह जिनके द्वारा यह निर्धारित होता है कि जीव किस गोत्र, कुटुम्ब, वंश, कुल-जाति तथा देश आदि में जन्म ले, गोत्र कर्म कहलाता है। ये कर्म-परमाणु जीव में अपने जन्म की स्थिति के प्रतिमान स्वाभिमान तथा ऊँच नीच-हीन भाव आदि का बोध कराते हैं।

आयु कर्म

इस कर्म के माध्यम से जीव की आयु निश्चित हुआ करती है। स्वर्ग-मनुष्य तिर्यञ्च-नरक गति में कौनसी गति जीव को प्राप्त हो, यह इसी कर्म पर निर्भर करता है।

वेदनीय कर्म

इस कर्म के द्वारा जीव को सुख-दुःख की वेदना का अनुभव हुआ करता है।

गुणस्थान मोह से सम्बन्धित हैं तथा अन्तिम दो गुणस्थान योग से। इन गुण-स्थानों में कर्मबन्ध की स्थिति का वर्णन करते हुए जैनाचार्यों ने बताया कि प्रथम दश गुणस्थान तक चारों प्रकार के बन्ध उपस्थित रहते हैं किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध शेष रहते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में ये दोनों भी समाप्त हो जाते हैं। [illegible] चारों प्रकार के बन्ध से मुक्त होकर यह जीवात्मा सिद्ध/परमात्मा हो जाता है।

यह निश्चित है कि आत्मा कर्म और नोकर्म जो पौद्गलिक हैं, से [illegible] भिन्न है। इस पर पौद्गलिक वस्तुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, [illegible] अनुभूति भेद-विज्ञान कहलाती है, जो जीव को तप/साधना की ओर [illegible] करती है। आगम में तप की परिभाषा में कहा गया है कि 'कर्म [illegible] यत्तप्यते तत्तप स्मृतम्' अर्थात् कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाता है, तप है। जैन दर्शन में तप के मुख्यतया दो भेद किए गए हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप के अन्तर्गत अनशन/उपवास, अवमौदर्य/ऊनोदर, रस परित्याग, भिक्षाचरी/वृत्तिपरिसंख्यान, प्रतिसंलीनता/विविक्तशय्यासन और कायक्लेश तथा आभ्यन्तर तप में—विनय, वैयावृत्य/सेवा-सुश्रूषा, प्रायश्चित्त, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग/व्युत्सर्ग नामक तप आते हैं। आभ्यन्तर तप की अपेक्षा बाह्य तप व्यवहार में प्रत्यक्ष परिलक्षित हैं किन्तु कर्म क्षय और आत्म-शुद्धि के लिए तो दोनों ही प्रकार के तप का विशेष महत्त्व है। वास्तव में तप के माध्यम से ही जीव अपने कर्मों का परिणमन कर निर्जरा कर सकता है। इसके द्वारा कर्म आस्रव समाप्त हो जाता है और अन्ततः सर्वप्रकार के कर्म जाल से जीव सर्वथा मुक्त हो जाता है। कर्म मुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर जैन दर्शन का लक्ष्य रहा है—वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति। यह वीतरागता सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है। वस्तुतः श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र से कर्मों का निरोध होता है। जब जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र से युक्त होता है तब आस्रव से रहित होता है जिसके कारण सर्वप्रथम नवीन कर्म कटते/छँटते हैं फिर पूर्वबद्ध/संचित कर्म क्षय/[illegible] होने लगते हैं। क्रमान्तर में मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं [illegible] अन्तराय, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये तीन कर्म भी [illegible] सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। इसके उपरान्त शेष बचे चार अघाति कर्म [illegible] नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय/दूर कर जीव निर्वाण/मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जैसा कि आगम में कहा गया है कि 'कृत्स्न कर्म [illegible] [illegible]' उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म [illegible] [illegible] जीवन में रत्नत्रय की समन्वित साधना नितान्त उपयोगी [illegible]

१५ कर्म एवं लेश्या

□ श्री चांदमल कर्णावट

ससार के प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य बन्धनो से मुक्त होना और दु खो से छुटकारा पाना है। किसी भी प्राणी को दु ख अभीष्ट नहीं होता, सभी प्राणी सुख चाहते हैं, ऐसा सुख जो कभी दु ख रूप में परिणत न हो। इस स्थिति को दूसरे शब्दों मे मोक्ष या मुक्ति कहा गया है।

जैन दर्शन में तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति ने मोक्ष की परिभाषा दी है—'कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्ष ' अर्थात् समस्त कर्मों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है। इन कर्मों के क्षय से ही शाश्वत सुख की स्थिति प्राप्त होती है। अब यह समझना आवश्यक है कि यह कर्म क्या है जो आत्मा को बन्धनों मे जकड देता है ? उसके क्षय से किस प्रकार आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनती है तथा इस कर्म का और लेश्या का क्या सम्बन्ध है ?

कर्म क्या है ?

जैन दर्शन मे कर्म का अर्थ क्रिया करना नहीं है। यह एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है राग-द्वेषादि परिणामो से एकत्रित कार्मण वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ बंध जाना। आत्मा कर्म करते हुए शुभ और अशुभ पुद्गलो का बंध करती है और उसके फलस्वरूप उसके शुभाशुभ फलों को भोगते हुए ससार मे चक्कर लगाती रहती है अथवा जन्म-मरण करती रहती है। वह मुक्त दशा को प्राप्त नहीं होती।

कर्म के एक अपेक्षा से दो भेद किये गए हैं—(१) द्रव्य कर्म एव भाव कर्म। द्रव्य कर्म पुद्गल रूप हैं। भाव कर्म इन पुद्गलों को एकत्र करने म कारणभूत शुभाशुभ विचार हैं। द्रव्य कर्म, भाव कर्म के लिये एव भाव कर्म द्रव्य कर्म के लिए कारणभूत ह। दोनों ही परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैन-दर्शन की एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि' अर्थात कर्मों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता। निकाचित कर्मों की अपेक्षा यह उक्ति सही है क्योंकि निकाचित कर्म का विपाक या फल आत्मा को भोगना ही होता है। परन्तु नियत्त प्रकार के कर्मों मे पुरुषार्थ क द्वारा

गया है—'रागोयदोसो वियकम्मवियम्' ये राग और द्वेष की वृत्तियाँ योग का ही रूप हैं। और कषायों को समन्वित किये हुए हैं।

लेश्याओं के प्रकार और कर्मबन्ध

लेश्याएँ छः हैं—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या एवं शुक्ल लेश्या। इनमें प्रथम तीन अशुभ और अन्तिम तीन शुभ मानी गयी हैं।

(१) कृष्ण लेश्या—काजल के समान काले वर्ण के इस लेश्या के पुद्गलों का सम्बन्ध होने पर आत्मा मे ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं जिनसे आत्मा मिथ्यात्व आदि पाँच आस्रवों में प्रवृत्ति करती, तीन गुप्ति से अगुप्त रहती, छः काय की हिंसा करती है। वह क्षुद्र तथा कठोर स्वभावी होकर गुण-दोष का विचार किये बिना क्रूर कर्म करती रहती है।

(२) नील लेश्या—नीले रंग के इस लेश्या के पुद्गलों का सम्बन्ध होने पर आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, माया, कपट, निर्लज्जता, लोभ, द्वेष तथा क्रोध आदि के भाव जग जाते हैं। ऐसी आत्मा तप और सम्यग्ज्ञान से शून्य होती है।

(३) कापोत लेश्या—कबूतर के समवर्णी पुद्गलों के संयोग से आत्मा में बोलने, विचारने व कार्य करने में वक्रता उत्पन्न होती है। नास्तिक बनकर आत्मा अनार्य प्रवृत्ति करते हुए अपने दोषों को ढकती है, दूसरों की उन्नति नहीं सह सकती। चोरी आदि के कर्म करती है।

उक्त तीनों लेश्याएँ अशुभ होने से आत्मा की दुर्गति का कारण बनती हैं। ऐसे जीव नरक और तिर्यंच गति में जाते हैं यदि जीवन के अन्तिम काल में उनके परिणाम इतने अशुभ हों।

(४) तेजो लेश्या—इस लेश्या के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसे परिणाम उत्पन्न होते हैं कि आत्मा अभिमान का त्याग कर मन, वचन और कर्म से नम्र बन जाती है। गुरुजनों का विनय करती, इन्द्रियों पर विजय पाती हुई पापों से भयभीत होती है और तप संयम में लगी रहती है।

(५) पद्म लेश्या—इस लेश्या में स्थित आत्मा क्रोधादि कषायों को मन्द कर देती है। मितभाषी, सौम्य और जितेन्द्रिय बनकर अशुभ प्रवृत्तियों को रोक देती है।

(६) शुक्ल लेश्या—इस लेश्या के प्रभाव स्वरूप आत्मा आर्त, रौद्र,

ध्यान त्याग कर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करती है। अल्पराग या वीतराग होकर प्रशान्त चित्त वाली होती है।

उक्त अन्तिम तीन लेश्याएँ शुभ, शुभतर, शुभतम और शुद्ध होने से आत्मा की सुगति का कारण बनती हैं। इन परिणामों में रमण करते हुए आत्मा उत्थान करती है। उपर्युक्त परिणामों में विचरने वाला आत्मा तदनुरूप कर्मों का बन्ध करता और उन्हें भोगता है।

लेश्याओं के दो प्रकार हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। पदार्थों के शुभाशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द आदि से आत्मा में शुभाशुभ विचार उत्पन्न होते हैं। शुभ शब्द, वर्ण, रूप आदि को देखकर-सुनकर और गन्ध, स्पर्श को अनुभव करके आत्मा में राग दशा उत्पन्न होती है। यह वर्णादि आत्मा को अनुकूल लगते हैं और आत्मा उनमें आसक्त बनकर कर्मों में बंध जाती है। इसके विपरीत अशुभ वर्ण, गन्ध आदि वाले पदार्थों को देखकर और अनुभव करके उनके प्रति घृणा उत्पन्न होती है, द्वेष भाव जाग्रत होता है जिससे आत्मा अशुभ कर्मों से जकड़ जाती है। इस प्रकार ये भाव लेश्याएँ अर्थात् आत्मा के शुभाशुभ परिणाम कर्म-बन्ध के मूल कारण बनते हैं।

लेश्याओं का वैज्ञानिक विश्लेषण

मुनि नथमलजी ने अपनी पुस्तक 'समाधि की खोज' प्रथम भाग के पृ. १५७ में लेश्या व कर्म सम्बन्धी जो विवेचन किया है वह लेश्या और कर्म-बन्ध का वैज्ञानिक विश्लेषण है। उन्होंने लिखा है, "जब लेश्या बदलती है तब परिवर्तन घटित होता है। जब मन में तेजो लेश्या और पद्म लेश्या के भाव आते हैं तब तैजस शरीर से स्राव होता है और वह हमारी ग्रन्थियों में आता है। वह सीधा रक्त के साथ मिल जाता है और अपना प्रभाव डालता है। इन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रस हमारे समूचे स्वभाव को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति का चिड़चिड़ा होना या प्रसन्न होना, क्रोधी होना या शान्त होना, ईर्ष्यालु या उदार होना इन सबका व विभिन्न स्रावों पर निर्भर है। इस प्रकार इस आदि एवं रासायनिक विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हमारे शुभाशुभ परिणामों से किस प्रकार रासायनिक क्रियाएँ घटित होती हैं और किस प्रकार वे हमारे संस्कारों को प्रभावित करती हैं।

कर्म की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं लेश्याओं के प्रभाव :

'स्थानांग' सूत्र में एक चतुर्भंगी है—(१) एक कर्म शुभ और उसका विपाक भी शुभ (२) कर्म शुभ किन्तु विपाक अशुभ, (३) कर्म अशुभ परन्तु विपाक शुभ, (४) कर्म अशुभ और विपाक भी अशुभ। इस चतुर्भंगी को देखकर

कर्म सिद्धान्त की मान्यता वाले आश्चर्य करेंगे कि कर्म शुभ होते हुए विपाक अशुभ कैसे ? और कर्म अशुभ होते हुए विपाक शुभ कैसे ?

यहाँ कम की विभिन्न अवस्थाओ की जानकारी करा देना आवश्यक है जो लेश्याओ के फलस्वरूप उत्पन्न होती हे। कर्म की मुख्य अवस्थाएँ ग्यारह हैं—(१) बन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वतन या उत्कर्ष, (४) अपवतन या अपकष (५) सक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) उपशामन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचित व (११) अबाधाकाल। इनमे उद्वतन, अपवतन एव सक्रमण की महत्त्वपूण अवस्थाएँ लेश्याओ का ही परिणाम हैं। जिस परिणाम विशेष से जीव कर्म प्रकृति को बाँधता है उनकी तीव्रता के कारण वह पूर्व बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को वर्तमान मे बँधने वाली प्रकृति के दलिको मे सक्रान्त कर देता है। बध्यमान कम में कर्मान्तर का प्रवेश इसी सक्रमण का कारण है जो कम के बन्ध और उदय में अन्तर उपस्थित कर देता है, उसे बदल देता है।

उद्वतन या उत्कर्ष

आत्मा के साथ आबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग या रस आत्मा के तत्कालीन परिणामो के अनुरूप होता है। परन्तु इसके पश्चात् की स्थिति विशेष अथवा भाव विशेष के कारण पूव बद्ध कम स्थिति और कम की तीव्रता मे वृद्धि हो जाना उद्वतन है। लेश्या या आत्मा के परिणाम से पूर्वबद्ध स्थिति और रस अधिक तीव्र बना दिया जाता है।

अपवतन या अपकष

पूर्वबद्ध कम की स्थिति एव अनुभाग को कालान्तर मे नवीन कर्मबन्ध करते समय न्यून कर देना अपवतन है। यह आत्मा के नवीन बध्यमान कर्मों के समय के परिणामो मे शुद्धता आने से घटित होता है। इस प्रकार कर्म अशुभ होते हुए विपाक शुभ हो जाता है। और कम शुभ होते हुए विपाक अशुभ हो जाता है। यह आत्मा का पुरुषार्थ ही है और उसकी प्रबल शुद्ध विचारधारा है जिससे आश्चयकारी परिवतन घटित होते ह।

हमारा लक्ष्य अलेशी बनना

जब तक लेश्याएँ ह तब तक परिणामो की विविधता रहेगी, अत साधक का लक्ष्य होता है कि वह अलेशी बन सके। यह स्थिति साधना और वैराग्य भाव स उत्पन्न हो सकती है। लेश्याओ का परिणमन शुभतर लेश्याओं मे करने के लिये स्वाध्याय और ध्यान आवश्यक अग हैं। समभाव में रमण करना, अनासक्त भावों मे जीवन व्यवहार करना तथा इन पर नियन्त्रण का अभ्यास करते रहना भव्यात्माओ के लिये अलेशी बनने का माग प्रशस्त कर सकता है और कम-बन्ध की परम्परा को सदा-सदा के लिये खत्म कर सकता है। और यही शाश्वत सुख का राजमाग है। □

१६ कर्म-विपाक

□ श्री लालचन्द जैन

कर्मों के शुभाशुभ फल को सामान्यतः विपाक कहा जाता है। मिथ्यात्व आदि के सेवन से प्राणी जो कुछ पाप करता है, उसे कर्म कहते हैं। ये कर्म जब उदय में आते हैं, तब प्राणी को जो सुख-दुःख आदि भोगने पड़ते हैं, उसे कर्म विपाक कहा जाता है। शुभ कर्म का विपाक शुभ और अशुभ कर्म का विपाक अशुभ होता है।

कर्मों को बाँधने में जीव स्वतन्त्र है। वह अपनी इच्छानुसार शुभ व अशुभ कर्मों का बन्ध कर सकता है। जीव की बिना इच्छा के कोई कर्म स्वतः अपने आप नहीं बंधता। जब भी जीव राग-द्वेष की आसक्ति से कोई कार्य करता है, तब उस आसक्ति के तारतम्य के अनुसार नये कर्म बंधते हैं। ये ही कर्म जब उदय में आते हैं, तब जीव को उन कर्मों के फल को भोगना ही पड़ता है। उनसे वह किसी प्रकार छूट नहीं सकता। इसीलिए कहा गया है कि जीव कर्मों को बाँधने में स्वतन्त्र है, पर उनके फल को भोगने में परतन्त्र है। बंधे हुए कर्म यदि निकाचित हों तो करोड़ों सागरोपम समय के व्यतीत हो जाने पर भी वह कर्म नष्ट नहीं होता। संसार की सभी वस्तुएं नाशवान हैं, पर मात्र कर्म की जड़ ही ऐसी है जो कभी सड़ती गलती नहीं। उग्र तप-संयम के बल से ही इस जड़ को उखाड़ा जा सकता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि अठारह पाप कर्मों के विपाक का शास्त्रों में वर्णन है। पागलपन, कोढ़, अल्पायुष्य आदि हिंसा के भयानक विपाक हैं। यदि इन विपाकों से बचना हो तो बिना प्रयोजन सब स्थावर जीवों की हिंसा न करना चाहिये।

स्कंदक मुनि के जीव ने अपने पूर्व भव में स्थावर जीव की विराधना में इतना रस लिया कि स्कंदक मुनि के भव में उनके जीवित शरीर की चमड़ी उतारी गई। वे तो आत्मध्यान की उच्चतम भूमि पर पहुँचे हुए थे, अतः उन्होंने आनन्द से प्राप्त हुए कर्मबन्ध का समभाव से भोग किया और मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। किन्तु उदयकाल में समताभाव को रखना आसान नहीं है। जिनको यह स्पष्ट भान हो गया है कि आत्मा शरीर से भिन्न है, वे ही ऐसे कठिन समय में समभाव का आनन्द ले सकते हैं।

पाप कम कितना भी मामूली क्यो न हो पर उसमें रस की तीव्रता स उसका विपाक कितना दारुण होता है, यह खधक मुनि के उदाहरण से ज्ञात होता है। पाप कम तो करना ही नही चाहिये पर यदि प्रमादवश वैसा आचरण हो भी जाय तो उसमे रसासक्ति कतई नही होनी चाहिये।

गू गापन, मुखरोग, समझ मे न आने वाली भाषा बोलना आदि असत्य भाषण के विपाक हैं। वसुराजा असत्य भाषण के पाप से नरक मे गये। बात बात में झूठ बोलने वाले, झूठी गवाही देने वाले, झूठे दस्तावेज बनाने वाले, झूठी बहियें लिखने वाले नरक निगोद के दु ख को प्राप्त करते हैं। असत्य भाषण महान् पाप का कारण है, इससे जीव सुकृत के फल को भी हार जाता है।

दुर्भाग्य, दरिद्रता, गुलामी आदि चौय कर्म के फल हैं। चोरी करने वाले इस जन्म मे तो लाठी, घूंस आदि खाते ही हैं, राज्य दड स्वरूप जेल भी भुगतते ही हैं, किन्तु परभव मे नरक आदि की घोर वेदना को प्राप्त करते हैं। व्यापार मे अनीति का आचरण, स्मगलिंग द्वारा एक देश से दूसरे देश मे माल लाना-ले जाना ऐसे माल का क्रय-विक्रय, अच्छी वस्तु मे बुरी वस्तु की मिलावट करना, अत्यधिक भाव बताना, माप-तौल मे कम देना, ज्यादा लेना आदि सभी प्रकार के काय चोरी हैं। नीति और न्याय द्वारा किया गया विक्रय ही व्यापार है, अन्य सब तो दिन-दहाड़े लूटना है। बहुत से लोग यह दलील करते हैं कि न्याय-नीति से चलेंगे तो पेट ही नही भरेगा, परन्तु उनकी यह दलील थोथी है। नीति से पेट तो अवश्य भर जाता है, हाँ पेटी नहीं भरी जा सकती। पाप का मूल पेट नहीं है लोभ ही पाप का मूल है। पेट की भूख से धन की भूख बहुत भयकर है। लाखो, करोड़ो की सम्पत्ति हो जाने पर भी धन की भूख नही मिटती। शास्त्रा मे इच्छा को आकाश के समान अनन्त कहा है। इच्छाओ का अन्त हो जाय तो दु ख का भी अन्त हो सकता है। सन्तोष से इच्छाओ का निरोध हो सकता है। लोभ पाप का मूल है तो सन्तोष धम का फल है।

नपु सकता, दुर्भाग्य, तिर्यंच गति (पशु-पक्षी योनि) आदि अब्रह्मचय के फल हैं। असतोष, अविश्वास, महारभ आदि मूर्छारूपी परिग्रह के कटु फल हैं। परिग्रह परिमाण से अनेको पाप रुक जाते हैं और जीवन म अनुपम शांति का अनुभव होता है। स्व पत्नी सतोष और परिग्रह-परिमाण ये दोनों नीतियुक्त जीवन की आधारशिला हैं। इनके पालन के बिना जब मनुष्य नैतिक जीवन भी नहीं जी सकता तब धम सिद्धि की तो बात करना ही व्यर्थ है। जैसे कुपथ्य का सेवन करने वाले पर औषधि का कोई प्रभाव नहीं होता उसी तरह अधिक

तृष्णाग्रस्त व्यक्ति के सभी तप, जप, ध्यान, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि व्यर्थ हो जाते हैं।

एक बार आचरित सामान्य पाप कर्म का कम से कम फल दस गुना हो जाता है और यदि उसे तीव्र रस के साथ आचरित किया गया हो तो उसका विपाक करोड़ गुणा हो जाता है। अनन्तानुबन्धी कषाय के तीव्र उदय में कभी कभी अल्प कुछ से समय में भी ऐसा कठिन कर्म बंध हो जाता है कि जीव को उसके फल को अनेक जन्मों तक भोगना पड़ता है। कई बार व्यक्ति की क्षण मात्र की भूल अनन्त संसार को बढ़ा देती है। अतः कर्म बांधते समय व्यक्ति को अत्यधिक सावधान रहना चाहिये।

अपने कुटुम्बियों के लिए अथवा अन्य किसी के लिये किये गए कर्मों का फल उदय में आने पर मात्र कर्ता को ही भोगना पड़ता है। कर्मों के कटु विपाक भोगने के समय जीव अकेला हो जाता है। उस समय कुटुम्बियों में से कोई भी न तो उस विपत्ति से रक्षा करने में समर्थ हो सकता है और न ही दुःख में हिस्सा ही बँटा सकता है। हँसते-हँसते बांधे गये कर्मों को उदय में आने पर रोते रोते भोगना पड़ता है। कभी-कभी तो निकाचित बंधे हुए ये कर्म किसी भी प्रकार से नहीं छूटते। त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में भगवान् महावीर के जीव ने शय्या पालक के कानों में तपा हुआ सीसा डलवाया था, उसी जीव ने अपने २७वें नन्दन ऋषि के जन्म में ८० हजार से अधिक मासखमण के तप किए फिर भी त्रिपृष्ठ के जन्म में किये गए कर्म की सत्ता रह ही गई और महावीर के भव में ग्वाले द्वारा उनके कानों में कीलें ठोकी गईं।

इस जन्म में या अन्य किसी भी जन्म में किये गए कर्म कब-कब उदय में आवेंगे, यह हम नहीं जान सकते, केवलज्ञानी ही इसे जान सकते हैं। पर यह तो निश्चित ही है कि उनका अबाधाकाल पूरा होने पर बंधे हुए कर्म अवश्य ही उदय में आते हैं और जीव को उन्हें भोगना ही पड़ता [illegible] इतना तो प्रायः सभी जानते हैं कि कुछ कर्म उद[illegible] के [illegible] जन्म में [illegible] भोगने पड़ते हैं। इसके [illegible] में सन्देह [illegible] में [illegible] में किए गये कर्म [illegible] तो सामान्य [illegible] हुए [illegible] से [illegible] में [illegible] देखा [illegible]

प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति शुभ कर्म के उदय के समय नम्रता और अशुभ कर्म के उदय के समय समभाव को बनाये रख सके, उसका बेडा पार है।

सम्पूर्ण कर्मग्रथ का सार भी यही है कि कैसे भी अशुभ कर्म के उदयकाल मे अन्य किसी पर दोषारोपण न करते हुए उदय में आये हुए कर्म विपाक को समता भाव से भोग लेना। कर्म सत्ता का न्याय सब के लिए समान है। यदि जीव कर्म बाधने के समय सावधान हो जाय तो कर्मसत्ता का कोई नियम उसको प्रभावित नही कर सकता। उदयकाल में हाय-हाय करने से तो दुगुणी सजा भोगनी पडती है। क्योकि उदय में आये हुए कर्म विपाक के साथ आर्तध्यान का सम्मिलन हो जाने से अनेक नये कर्म बध जाते हैं। अज्ञानी के कर्म क्षय का क्या मूल्य है? वास्तविक निर्जरा तो ज्ञानी ही कर सकता है। कर्म के विपाक को समभाव पूर्वक भोग लेने से ज्ञानी को सकाम निर्जरा होती है, जबकि अज्ञानी को अकाम निर्जरा होती है। अकाम निर्जरा में बध अधिक और निर्जरा कम होती है, जबकि सकाम निर्जरा में निर्जरा (कर्मक्षय) अधिक होती है।

ज्ञानी सम्यकदृष्टि आत्मा अनेक जन्मो के सचित कर्मों को सम्यक् ज्ञान रूपी अग्नि में जलाकर भस्म कर देता है। इसीलिये ज्ञानी को नये कर्म नहीं बधते, यदि बधते हैं तो भी बहुत ही अल्प मात्रा मे बधते हैं। इस प्रकार ज्ञानी अपनी शृखला से धीरे धीरे मुक्त होता जाता है और एक समय ऐसा आता है जब वह अपने सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध बुद्ध हो जाता है।

जीव जो कर्म विपाक भोगता है, वह उन-उन कर्मों के उदय में आने पर भोगता है। प्रत्येक कर्म अपने-अपने स्वभाव के अनुसार फल-विपाक देते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के उदयकाल मे जीव का ज्ञान गुण आवरित हो जाता है, जिससे वह कुछ भी लिख पढ़ नही सकता। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का उदय जीव के दर्शन गुण (देखने की शक्ति) को ढँक देता है। वेदनीय कर्म सुख-दुःख का अनुभव करता है। इसके उदय में सुख के साधन विद्यमान होने पर भी जीव सुख का अनुभव नहीं कर सकता। कोई भी कर्म अन्य कर्म के स्वभावानुसार विपाक न देकर स्वय अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म फल देता है। सामान्यत कर्मफल को भोगने में मुख्य हेतु उस कर्म का उदय काल ही होता है, पर द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य सामग्री भी उसके भोग को प्रभावित करती है। जैसे किसी को गाली देने से अशुभ भाषा के पुद्गल कषाय के उदय का कारण बनते हैं और अयोग्य आहार शारीरिक अशान्ति के उदय का कारण बनता है।

जीव स्वय अज्ञान से कर्म बध करता है, अत उनके अच्छे या बुरे फल को भी उसे स्वय ही भोगना पडता है। बाह्य सामग्री भी उसमें कारणभूत

सत्ता उस पर अपना वर्चस्व जमा लेती है और जीव ऐसा समझने लगता है मानो उसने अपना वर्चस्व खो दिया हो।

उपशम और क्षपक श्रेणी

आरुढा प्रशमश्रेणि, श्रुतकेवलिनोऽपि च।
भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो! दुष्टेन कर्मणा॥

ग्यारहवें गुणस्थान उपशम श्रेणी पर चढे हुए श्रुतकेवली जैसे महापुरुष को भी यह दुष्ट कर्मसत्ता अनन्तकाल तक संसार मे परिभ्रमण करवाती है। प्रमादवश चौदह पूर्वधारी महापुरुष भी अनंतकाल तक भव भ्रमण करते हैं। इससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि कर्म का विपाक बडे से बडे व्यक्ति को भी भोगना पडता है। 'कर्म को शर्म नही' यह कहावत यहा चरितार्थ होती है।

श्रेणी दो प्रकार की है, क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी। आत्मा की उन्नति के क्रमश चढते हुए सोपानो को दर्शन की भाषा मे चौदह गुणस्थान कहा गया है। आत्मा के अध्यवसायो की उत्तरोत्तर होने वाली विशुद्धि को श्रेणी कहा जाता है। आठवें गुणस्थान से जीव श्रेणी पर चढना प्रारम्भ करता है। उपशम श्रेणी पर चढने वाली आत्मा मोहनीय कर्म की प्रकृतियो को उपशान्त करती जाती है, जबकि क्षपक श्रेणी पर चढने वाली आत्मा उनका क्षय करती जाती है। आत्मा के विशुद्ध अध्यवसाय ही उसे श्रेणी पर चढाते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना से आत्मा में ऐसे शुभ अध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। उपशम श्रेणी की अपेक्षा क्षपक श्रेणी अधिक विशुद्ध होती है।

क्षपक श्रेणी पर चढी हुई आत्मा आठवें गुणस्थान से नौवें और नौवें से दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर आती है। दसवें से वह लोभ के अंशो को क्षय कर सीधे बारहवें गुणस्थान पर चली जाती है। क्षपक श्रेणी वाला ग्यारहवें गुणस्थान पर नही जाता। उपशम श्रेणी वाला ही ग्यारहवें गुणस्थान पर जाता है। बारहवें गुणस्थान को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं। यहां पहुँचकर आत्मा इतनी विकसित हो जाती है कि वह मोहनीय कर्म को सदा के लिए समूल नष्ट कर देती है। मोहनीय कर्म का क्षय होते ही ज्ञानावरणीय आदि अन्य घाती कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और तेरहवें गुणस्थान पर पहुँचकर केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

उपशम श्रेणी पर चढने वाली आत्मा बारहवें गुणस्थान पर नहीं जाती, वह ११वें उपशांतमोह गुणस्थान पर ही जाती है। इस गुणस्थान पर मोहनीय कर्म का उदय तो थोडा भी नहीं रहता, पर वह सत्ता में अवश्य रहता है। इस गुणस्थान पर चढने वाले निश्चय ही एक बार फिर नीचे गिरते हैं। इस गुणस्थान को प्राप्त मुनि की यदि आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु हो जाय तो वह सर्वार्थ सिद्ध

बनती है। शुभ के उदयकाल में स्वतः ही शुभ संयोग प्राप्त हो जाते हैं और अशुभ के उदयकाल में अशुभ संयोग खड़े हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में यदि ज्ञान दृष्टि से गहन विचार किया जाय तो हर्ष और शोक अपने आप लुप्त हो जाते हैं। उदयकाल को समभाव से भोगने में ही जीव का वीरत्व है। बांधने में बहादुरी दिखाना और भोगने में कमजोरी दिखाना ही जीव की कायरता है। उदयकाल में ही वीरत्व की आवश्यकता है, बंधकाल में तो मात्र इतनी सावधानी की आवश्यकता है कि नये कर्म न बंध जायें।

दुःखं प्राप्य न दीनः स्यात् सुखं प्राप्य च विस्मितः।
मुनिः कर्मविपाकस्य, जानन् परवशं जगत्॥

सम्पूर्ण जगत् कर्म विपाक के अधीन है, यह जानकर मुनि दुःख में न दीन बनते हैं और न सुख में विस्मित होते हैं। सुख-दुःख में समभाव पूर्वक रहना ही सच्ची जीवन साधना है। सुख में उन्मत्त होना और दुःख में निराश होना ही अज्ञान है। स्वयं द्वारा किये गये कर्म के फल को भोगने में समय दीनता क्यों? ज्ञानी तो यही सोचता है कि कर्म बांधते समय जब मैंने विचार नहीं किया, तब उसके फल को भोगने के समय दीनता क्या दिखाऊँ? ऐसे ज्ञानी कर्म विपाक के अधीन नहीं रहते, किन्तु ऐसे ज्ञानी विरले ही होते हैं, इसीलिये सारे जगत् को कर्म विपाक के अधीन कहा गया है।

ज्ञानी तो शुभ के उदय में भी विस्मित नहीं होता। वह तो जानता है कि तत्त्व दृष्टि से शुभ और अशुभ दोनों आत्मा को ढँकने वाले हैं। धूप काले बादलों में छिपे या सफेद बादलों में, उसके प्रकाश की मन्दता के तारतम्य में अवश्य अन्तर आता है, पर आखिर वह बादलों के पीछे छिपता तो है ही। इसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनों आत्मा के गुणों को ढँकने वाले होने से अन्ततः त्याज्य ही हैं। साधक दशा में भले ही शुभ आदरणीय रहे, पर मोक्ष तो दोनों के क्षय से ही होगा। इसीलिए ज्ञानी शुभ या अशुभ किसी भी कर्म विपाक के अधीन नहीं रहते। वे तो मात्र तत्त्वविचार का पुरुषार्थ करते हैं और ऐसे ज्ञानी निश्चय ही कर्माई का छिद्र करता है।

कर्म कितना भी शक्ति सम्पन्न क्यों न हो, यदि जीव सतत पुरुषार्थ करता रहे तो वह उसका क्षय कर सकता है। कर्म बलवान है तो क्या हुआ? आखिर तो वह जड़ पुद्गल द्वारा निर्मित ही है, जबकि आत्मा चेतन गुण से [illegible] है। चेतन क्या जड़ से हार सकता है? यदि जीव सतत ज्ञान से पुरुषार्थ करे तो वह अवश्य कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकता है। [illegible] इसीलिए कर्म

जन्मान्तरों को बिगाड देते हैं। उपशम श्रेणी पर आरूढ जीव का भी ये दुष्ट कम अनन्त काल तक ससार मे भटकाते ह।

कम विपाक का सीधा सादा अर्थ यह है कि ससार मे जो पग पग पर विषमता दिखाई देती है, वह सब कम द्वारा ही उत्पन्न की गई है। एक उत्तम कुल मे तो दूसरा अधम कुल मे उत्पन्न होता है, एक ज्ञानी, दूसरा अज्ञानी, एक दीघ आयुष्य वाला, दूसरा अल्प आयुवाला, एक बलवान, दूसरा निर्बल, एक ऐश्वयवान, दूसरा निधन, एक रोगी, दूसरा निरोगी, इन सभी कमजन्य विषमताओं पर विचार करने पर ज्ञानी व्यक्ति को ससार से वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रह सकता।

कम विपाक के फलस्वरूप दड प्राप्त करने पर ऐसा सोचना कि हम से कम हमारे पाप का बदला ले रहा है, गलत धारणा है। हम अपने पाप कर्म द्वारा ही दड प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार पुण्य कर्म का उपभोग करते समय ऐसी सोचना कि हमारे अच्छे कार्यों के बदले मे कमसत्ता हमे सुख दे रही है, भी गलत है। अच्छे काय स्वय ही हमे सुखानुभाव कराते हैं। दड या पुरस्कार अथवा सुख या दु ख हमारी वत्ति के ही परिणाम ह। हमारी वृत्ति या चारित्र हमारी इच्छाओ का ही एकत्रित स्वरूप है। इच्छा ही कर्म की प्रेरक सत्ता है और इच्छा या वासना द्वारा ही हम अपने भावी जीवन को निश्चित करते हैं। अत हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारा भविष्य निर्मित नही हो सकता।

अनेक सुख-दु खो को भोगने के बाद ही आत्मा में वासना के दु खद परिणाम को समझने की निमल विवेक दृष्टि जागृत होती है। फिर वह उच्च जीवन की ओर आकर्षित होती है। अपने हृदय के ऊर्ध्वगामी वेग मे वह अपनी गति मिला देती है। आत्मा की स्वाभाविक गति अग्निशिखा की भांति ऊर्ध्व-गामिनि है, अत यह सब समझने के बाद वह अपनी स्वाभाविक गति को उचित दिशा मे मुक्त कर देती है।

आत्मा की इच्छा के बिना कोई भी सत्ता उसे तिलमात्र भी इधर-उधर नही कर सकती। जीव अपनी इच्छा से ही नया जन्म पाता है। इस नये जन्म के सयोग, परिवार, सगे-सम्बन्धी भी उसकी इच्छानुसार ही मिलते ह। उसकी अतृप्त वासना जहां जैसे सयोग जुटा सके, वैसे स्थान में ही वह जन्म लेती है। यह सत्य है कि इन इच्छाओ या वासनाओं को आत्मा समझपूर्वक नही बनाती, ये सब उसके अन्त करण मे अव्यक्त रूप से होती हैं।

जिनमें बहुत उत्कृष्ट कला म विकसित आत्मभान होता है, ऐसी आत्माएँ अपना पुनर्भव दृढ़सकल्प मे निश्चय करती हैं, क्योंकि उन्हें यह भान होता है कि

जन्मान्तरों को बिगाड देते हैं। उपशम श्रेणी पर आरूढ जीव को भी ये दुष्ट कम अनन्त काल तक ससार में भटकाते हैं।

कम विपाक का सीधा सादा अर्थ यह है कि ससार मे जो पग पग पर विषमता दिखाई देती है, वह सब कम द्वारा ही उत्पन्न की गई है। एक उत्तम कुल मे तो दूसरा अधम कुल में उत्पन्न होता है, एक ज्ञानी, दूसरा अज्ञानी, एक दीर्घ आयुष्य वाला, दूसरा अल्प आयुवाला, एक बलवान, दूसरा निर्बल, एक ऐश्वयवान, दूसरा निधन, एक रोगी, दूसरा निरोगी, इन सभी कर्मजन्य विषमताओं पर विचार करने पर ज्ञानी व्यक्ति को ससार से वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रह सकता।

कम विपाक के फलस्वरूप दड प्राप्त करने पर ऐसा सोचना कि हम से कम हमारे पाप का बदला ले रहा है, गलत धारणा है। हम अपने पाप कम द्वारा ही दड प्राप्त करते है। इसी प्रकार पुण्य कम का उपभोग करते समय ऐसी सोचना कि हमारे अच्छे कार्यों के बदले मे कमसत्ता हमें सुख दे रही है, भी गलत है। अच्छे काय स्वय ही हमे सुखानुभाव कराते ह। दड या पुरस्कार अथवा सुख या दु ख हमारी वृत्ति के ही परिणाम ह। हमारी वृत्ति या चारित्र हमारी इच्छाओ का ही एकत्रित स्वरूप है। इच्छा ही कम को प्रेरक सत्ता है और इच्छा या वासना द्वारा ही हम अपने भावी जीवन को निश्चित करते हैं। अत हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारा भविष्य निर्मित नहीं हो सकता।

अनेक सुख-दु खो का भोगने के बाद ही आत्मा में वासना के दु खद परिणाम को समझने की निमल विवेक दृष्टि जागृत होती है। फिर वह उच्च जीवन की ओर आकर्षित होती है। अपने हृदय के ऊर्ध्वगामी वेग में वह अपनी गति मिला देती है। आत्मा की स्वाभाविक गति अग्निशिखा की भांति ऊर्ध्व-गामिनि है, अत यह सब समझने के बाद वह अपनी स्वाभाविक गति को उचित दिशा मे मुक्त कर देती है।

आत्मा की इच्छा के बिना कोई भी सत्ता उसे तिलमात्र भी इधर-उधर नही कर सकती। जीव अपनी इच्छा से ही नया जन्म पाता है। इस नये जन्म के सयोग, परिवार, सगे-सम्बन्धी भी उसकी इच्छानुसार ही मिलते हैं। उसकी अतृप्त वासना जहां जैसे सयोग जुटा सके, वैसे स्थान में ही वह जन्म लेती है। यह सत्य है कि इन इच्छाओ या वासनाओ को आत्मा समझपूर्वक नही बनाती, ये सब उसके अन्त करण मे अव्यक्त रूप से होती हैं।

जिनमे बहुत उत्कृष्ट कक्षा मे विकसित आत्मभान होता है, वैसी आत्माएँ अपना पुनर्भव दृढ़सकल्प से निश्चय करती हैं, क्योंकि उन्हें यह भान होता है कि

१७ | अन्तर्मन की ग्रथियाँ खोलें*!

□ आचार्य श्री नानेश

सूर्य स्वय प्रकाशमान होता है, उसे अपने प्रकाश के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नही होती। फिर जिस आत्म तत्त्व को सूर्य से भी अधिक तेजस्वी माना गया है, आखिर उसी की चेतना इतनी चचल और अस्थिर क्यो बन जाती है ?

निज स्वरूप को विस्मृत कर देने के कारण ही चेतना शक्ति संज्ञाहीनता से दुर्बल हो जाती है। उसका कितना अमित सामर्थ्य है—उस को भी वह भूल जाती है। वह क्या भूल जाती है ? कारण, वह अपने मूल से उखड़ कर अपनी सीमाओं और मर्यादाओं से बाहर भटक जाती है और उन तत्त्वों के वशीभूत हो जाती है, जिन तत्त्वो पर उसे शासन करना चाहिये। यह परतन्त्रता आत्म-विस्मृति से अधिकाधिक जटिल होती चली जाती है। जितनी अधिक परतन्त्रता, उतनी ही अधिक ग्रंथियाँ मन को जकड़ती रहती हैं। जितनी अधिक ग्रंथियाँ, उतना ही मन बंधनग्रस्त होता चला जाता है। इसलिए दृष्टि का विकास करना है और चेतना को सुलझाना है तो अन्तर्मन की सारी ग्रंथियाँ खोल लीजिये।

विषमता की प्रतीक स्वरूप विभिन्न ग्रंथियाँ मानव-मन में मजबूती से बंध जाती हैं और विचारों के सहज प्रवाह को जकड़ लेती हैं। जब तक इन ग्रंथियों को खोल न सकें, तब तक आन्तरिक विषमता समाप्त नहीं होती और आन्तरिक विषमता रहेगी तो बाह्य विषमता के नानाविध रूप फूलते-फलते रहेंगे एवं दुःख-द्वन्द्वों की ज्वाला जलती रहेगी। व्यक्ति-व्यक्ति की इन आन्तरिक ग्रंथियों का खोल बिना चाहे हजार-हजार प्रयत्न किये जाय या आन्दोलन चलाए जाए बाहर की राजनैतिक, आर्थिक अथवा अन्य समस्याए सन्तोषजनक रीति से सुलझाई नहीं जा सकेंगी। मन सुलझ जाय तो फिर वाणी और कर्म के सुलझ जाने में अधिक विलम्ब नहीं लगेगा।

---

*श्री शान्तिचन्द्र मेहता द्वारा सम्पादित प्रवचन।

मूल समस्या है दृष्टि विकास की। यह विकास समता दशन की गूढ़ता में रग कर ही साधा जा सकेगा। दृष्टि इस रूप मे विकसित होगी तभी सामथ्य ग्रहण करेगी और अपने दृष्टा को स्वरूप-दशन की योग्यता प्रदान करेगी। मूल रूप मे ममता से हटने पर ही दृष्टि विकास का कार्यारभ हो सकेगा। स्वरूप दशन से परिवतन की प्रेरणा मिलती है। एक दपण को इतना स्वच्छ होना चाहिये कि उसमे कोई भी आकृति स्पष्टता से प्रतिबिम्बित हो सके। किन्तु कोई दर्पण ऐसा है या नहीं—उसे देखने से ही ज्ञात होगा। यथावत देखने से जब मैला रूप दिखाई देगा तो उसे धो-पोछ कर साफ बना लेने की प्रेरणा भी फूटेगी। विकासोन्मुख होने की पहली सीढी स्वरूप-दशन है—चाहे वह निजात्मा का हो या विश्व का। स्वरूप दशन से स्वरूप-सशोधन की ओर चरण अवश्य बढते हैं और समुच्चय मे समता दशन का यही सुफल है।

• • •

कर्मन की रेखा न्यारी रे

[राग मांड]

कर्मन की रेखा न्यारी रे, विधि ना टारी नाहिं टरै।

रावण तीन खण्ड को राजा, छिन मे नरक पड़ै।
छप्पन कोट परिवार कृष्ण के, वन में जाय मरे॥१॥

हनुमान की मात अन्जना, वन-वन रुदन करे।
भरत बाहुबलि दोऊ भाई, कैसा युद्ध करे॥२॥

राम अरु लक्ष्मण दोनो भाई, सिय के सग वन में फिरे।
सीता महासती पतिव्रता, जलती अग्नि परे॥३॥

पांडव महाबली से योद्धा, तिनकी त्रिया को हरे।
कृष्ण रुक्मणी के सुत प्रद्युम्न, जनमत देव हरे॥४॥

को लग कथनी कीजे इनकी, लिखतां ग्रन्थ भरे।
धर्म सहित ये करम कौनसा, 'बुधजन' यों उबरे॥५॥

—बुधजन

मूल समस्या है दृष्टि विकास की। यह विकास समता दर्शन की गूढता में रम कर ही साधा जा सकेगा। दृष्टि इस रूप में विकसित होगी तभी सामर्थ्य ग्रहण करेगी और अपने दृष्टा को स्वरूप-दर्शन की योग्यता प्रदान करेगी। मूल रूप मे ममता से हटने पर ही दृष्टि विकास का कार्यारंभ हो सकेगा। स्वरूप दर्शन से परिवर्तन की प्रेरणा मिलती है। एक दर्पण को इतना स्वच्छ होना चाहिये कि उसमे कोई भी आकृति स्पष्टता से प्रतिबिम्बित हो सके। किन्तु कोई दर्पण ऐसा है या नही—उसे देखने से ही ज्ञात होगा। यथावत देखने से जब मला रूप दिखाई देगा तो उसे धो-पोंछ कर साफ बना लेने की प्रेरणा भी फूटेगी। विकासोन्मुख होने की पहली सीढी स्वरूप-दर्शन है—चाहे वह निजात्मा का हो या विश्व का। स्वरूप दर्शन मे स्वरूप-संशोधन की ओर चरण अवश्य बढते हैं और समुच्चय मे समता दर्शन का यही सुफल है।

• •

करमन की रेखा न्यारी रे

[राग माड]

करमन की रेखा न्यारी रे, विधि ना टारी नाहि टरै।

रावण तीन खण्ड को राजा, छिन में नरक पडै।
छप्पन कोट परिवार कृष्ण के, वन मे जाय मरे ॥१॥

हनुमान की मात अन्जना, वन-वन रुदन करै।
भरत बाहुबलि दोऊ भाई, कैसा युद्ध करे ॥२॥

राम अरु लक्ष्मण दोना भाई, सिय के संग वन मे फिरै।
सीता महासती पतिव्रता, जलती अग्नि परे ॥३॥

पांडव महाबली से योद्धा, तिनकी त्रिया को हरे।
कृष्ण रुक्मणी के सुत प्रद्युम्न, जनमत देव हरै ॥४॥

को लग कथनी कीजे इनकी, लिखतां ग्रन्थ भरै।
धर्म सहित ये करम कौनसा, 'बुधजन' या उधरे ॥५॥

—बुधजन

मूल समस्या है दृष्टि विकास की। यह विकास समता दर्शन की गूढ़ता मे रग कर ही साधा जा सकेगा। दृष्टि इस रूप मे विकसित होगी तभी सामर्थ्य ग्रहण करेगी और अपने दृष्टा को स्वरूप-दर्शन की योग्यता प्रदान करेगी। मूल रूप मे ममता से हटने पर ही दृष्टि विकास का कार्यारभ हो सकेगा। स्वरूप दर्शन से परिवर्तन की प्रेरणा मिलती है। एक दर्पण को इतना स्वच्छ होना चाहिये कि उसमें कोई भी आकृति स्पष्टता से प्रतिबिम्बित हो सके। किन्तु कोई दर्पण ऐसा है या नही—उसे देखने से ही ज्ञात होगा। यथावत देखने से जब मैला रूप दिखाई देगा तो उसे धो-पोछ कर साफ बना लेने की प्रेरणा भी फूटेगी। विकासोन्मुख होने की पहली सीढ़ी स्वरूप-दर्शन है—चाहे वह निजात्मा का हो या विश्व का। स्वरूप दर्शन से स्वरूप-सशोधन की ओर चरण अवश्य बढते हैं और समुच्चय मे समता दर्शन का यही सुफल है।

• • •

कर्मन की रेखा न्यारी रे

[राग मांड]

कर्मन की रेखा न्यारी रे, विधि ना टारी नाहि टरै।

रावण तीन खण्ड को राजा, छिन मे नरक पडै।
छप्पन कोट परिवार कृष्ण के, वन मे जाय मरै ॥१॥

हनुमान की मात अन्जना, वन-वन रुदन करै।
भरत बाहुबलि दोऊ भाई, कैसा युद्ध करै ॥२॥

राम अरु लक्ष्मण दोनो भाई, सिय के सग वन मे फिरै।
सीता महासती पतिव्रता, जलती अग्नि परै ॥३॥

पांडव महाबली से योद्धा, तिनकी त्रिया को हरै।
कृष्ण रुक्मणी के सुत प्रद्युम्न, जनमत देव हरै ॥४॥

को लग कथनी कीजे इनकी, लिखतां ग्रन्थ भरै।
धर्म सहित ये करम कौनसा, 'बुधजन' यो उपरै ॥५॥

—बुधजन

५ आयु—समग्र कम प्रकृतियो से प्रभावित जीवन की अवस्था आयु है। उसका वणन ४ प्रकार से किया गया है—

१ नरकायु—जिस जीवन मे विषय भोगो की अत्यन्त चाह हैं, भोग इच्छा सदा बनी रहती है, अरति और शोक मे निमग्न चित्त सदा अशान्त रहता है यह नरकायु का लक्षण है।

२ तिर्यंच आयु—भोग से प्रवृत्त जीवन को तिर्यंच आयु कहते हैं जो विवक जागृत होने पर कभी त्याग की ओर भी अग्रसर हो सकता है।

३ मनुष्य आयु—जिस जीवन मे सकल्प की दृढता होती है वह मनुष्य जीवन है। सकल्प की दृढता के कारण भोग या त्याग मे से किसी मे लग जाने मे पूरा समर्थ हाना इसका लक्षण है।

४ देव आयु—त्याग की प्रवृत्ति होते हुए भी इच्छाओं से छुटकारा न पा सकना देव आयु का लक्षण है।

६ नाम कम—घाति कर्मों का प्रभाव मन, इन्द्रियो और देह पर प्रकट हाकर जिस प्रकार की क्रिया, क्रियाशक्ति का प्रयाग जिस क्रम से प्रकट होकर भागो की ओर प्ररित करता, वह नाम कम है। नाम कम मे आगत कर्म प्रकृतियों का आधार इस प्रकार प्रतीत होता है —

गतिया मन के परिणामो की जातियाँ इन्द्रियो की क्रियाओ की और शरीर, मन व इन्द्रियो के द्वारा होने वाली क्रियाओ के प्रकारो के द्योतक हैं। मन और इन्द्रिय की विभिन्न अवस्थाएँ सस्कारो के रूप में, इनकी निमित्त शक्तियाँ सहननो के रूप मे इनके विषय वण, गन्ध रस, स्पर्श के रूप मे, विषयो मे मन और इन्द्रिया की क्रियाएँ अगोपागा के रूप में, अगोपागो का शुभाशुभ प्रवृत्ति या विहायोगति के रूप म वणन की गई हैं। आगे की प्रकृतियाँ चेतन के अगुरु-लघुत्व गुण के कारण क्रमश प्रकट होने वाली अवस्थाओं की सूचक हैं। नाम कम की प्रकृतिया इस प्रकार हैं—

गति नाम कम—चित्त की सक्रियता का होना गति नाम कम है।

जाति नाम कम—इन्द्रियो की सक्रियता का होना जाति नाम कम है। यह एकेन्द्रिय, येन्द्रिय आदि पांच इन्द्रियों की अपक्षा पाँच प्रकार का है।

शरीर नाम कम—शरीर के अवयवो (क्रिया के साधनो) का कार्यरत होना शरीर नाम कम है। यह पांच प्रकार का है—

औदारिक—देह का सामान्य रूप से कायरत हाना औदारिक शरीर है।

वक्रिय—इन्द्रिया का सामान्य स अधिक विकृत होकर कायरत होना वक्रिय शरीर है।

अप्रत्याख्यान—त्यागवृत्ति का न होना अप्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यानावरण—कषायो के नष्ट न होने तक त्यागवृत्ति की शिथिल दशाओं को प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

सज्वलन—अर्थात् सामान्य कषाय युत भोग प्रवृत्ति, आहार, भय, मैथुन परिग्रह इन चार मूल सज्ञाओ से विरत नही होना।

क्रोध—कामना उत्पन्न होने पर क्षुभित होना अर्थात चित्त का कुपित होना क्रोध है।

मान—भोग भोगने की अभिलाषा या चित्त मे बस जाना मान है। इसकी प्रतिक्रिया अहकार रूप मे प्रकट होती है।

माया—भोग भोगने मे लग जाना माया है।

लोभ—भोग की लालसा का बना रहना लोभ है।

चारित्र मोहनीय के अनन्तानुबधी आदि प्रत्येक भेद के साथ क्रोध, मान, माया, लोभ इनका सबध रहता है।

नोकषाय—कषाय के सहायक कारणो को नोकषाय कहते हैं। सहायक कारणों के रहते कषायो का प्रभाव पूर्णत नष्ट नहीं होता है। यह ९ प्रकार की है यथा—

१ रति—भोग काल म जो सुखानुभूति होती है उसे रति कहते हैं।

२ हास—उस सुखानुभूति से जो उल्लास होता है उसे हास कहते हैं।

३ अरति—इच्छा वासना के बनी रहने के कारण चित्त का खिन्न होना अरति है।

४ शोक—खिन्नता के साथ क्लेश उत्पन्न होता है, उसे शोक कहते हैं।

५ भय—भोग के साधनों के नाश की आशका भय है।

६ जुगुप्सा—भोग साधनों के त्याग की भावना अथवा भोग के साधनों के नष्ट होने के कारणों से घृणा करना जुगुप्सा है।

७ पुरुष वेद—भोगों को सामान्य प्रकार से वेदना (भोगना) पुरुष वेद है।

८ स्त्री वेद—रागासक्ति सहित भोग प्रवृत्ति स्त्री वेद का लक्षण है।

९ नपु सक वेद—मिथ्यात्व व कषायों सहित भोग में लगे रहना नपुंसक वेद का लक्षण है।

५ आयु—समग्र कम प्रकृतियो से प्रभावित जीवन की अवस्था आयु है। उसका वणन ४ प्रकार से किया गया है—

१ नरकायु—जिस जीवन मे विषय भोगो की अत्यन्त चाह है, भोग इच्छा सदा बनी रहती है, अरति और शोक मे निमग्न चित्त सदा अशान्त रहता है यह नरकायु का लक्षण है।

२ तिर्यंच आयु—भोग से प्रवृत्त जीवन को तिर्यंच आयु कहते हैं जो विवेक जागृत होने पर कभी त्याग की ओर भी अग्रसर हो सकता है।

३ मनुष्य आयु—जिस जीवन मे सकल्प की दृढ़ता होती है वह मनुष्य जीवन है। सकल्प की दृढता के कारण भोग या त्याग मे से किसी मे लग जाने मे पूर्ण समर्थ होना इसका लक्षण है।

४ देव आयु—त्याग की प्रवृत्ति होते हुए भी इच्छाओ से छुटकारा न पा सकना देव आयु का लक्षण है।

६ नाम कम—घाति कर्मों का प्रभाव मन, इन्द्रियो और देह पर प्रकट होकर जिस प्रकार की क्रिया, क्रियाशक्ति का प्रयोग जिस क्रम से प्रकट होकर भोगो की ओर प्रेरित करता वह नाम कम है। नाम कम मे आगत कम प्रकृतियों का आधार इस प्रकार प्रतीत होता है —

गतियां मन के परिणामो की जातियाँ इन्द्रियों की क्रियाओ की और शरीर, मन व इन्द्रियों के द्वारा होने वाली क्रियाओ के प्रकारो के द्योतक हैं। मन और इन्द्रिय की विभिन्न अवस्थाएँ सस्कारो के रूप में, इनकी निमित्त शक्तियाँ सहननो के रूप मे, इनके विषय वर्ण, गध, रस, स्पर्श के रूप मे, विषयो मे मन और इन्द्रियो की क्रियाएँ अगोपागों के रूप में, अंगोपांगो का शुभाशुभ प्रवृत्ति या विहायोगति के रूप मे वणन की गई हैं। आगे की प्रकृतियाँ चेतन के अगुरु-लघुत्व गुण के कारण क्रमश प्रकट होने वाली अवस्थाओं की सूचक हैं। नाम कम की प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

गति नाम कम—चित्त की सक्रियता का होना गति नाम कम है।

जाति नाम कर्म—इन्द्रियो की सक्रियता का होना जाति नाम कर्म है। यह एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय आदि पाच इन्द्रियो की अपेक्षा पांच प्रकार का है।

शरीर नाम कम—शरीर के अवयवों (क्रिया के साधनों) का कायरत होना शरीर नाम कम है। यह पांच प्रकार का है—

औदारिक—देह का सामान्य रूप से कायरत होना औदारिक शरीर है।

वैक्रिय—इन्द्रिया का सामान्य स अधिक विकृत होकर कायरत होना वैक्रिय शरीर है।

आहारक—संयम पालन करने पर चित्त की प्रमत्ता का आवरण आहारक शरीर है।

तैजस—कर्मशक्ति चेतनशक्ति का प्रभाव तैजस शरीर है।

कार्मण—पूर्व संस्कारों की जागृति का प्रभाव कार्मण शरीर है।

बंधन नाम कर्म—उपर्युक्त पांचों शरीरों में से जो शरीर एक दूसरे से संयुक्त होकर बंधन को प्राप्त होते हैं, वह बंधन नाम कर्म है।

संघातन—पांचों शरीरों की संयुक्त काय शक्ति संघातन है।

संस्थान—संयुक्त काय शक्ति जीवन पर जिस प्रकार का प्रभाव प्रकट करती है, वह संस्थान है। यह छः प्रकार का है—

हुण्डक—अत्यंत तीव्र अभिलाषाओं के साथ भोग प्रवृत्तियों में (ग्राम शूकर की तरह) लगे रहने की वृत्ति हुण्डक संस्थान का लक्षण है।

वामन—भोग वृत्ति का कुछ कम होना, अल्प होना वामन है।

कुब्जक—अल्प आर्जव, मार्दव का प्रकट होना कुब्जक संस्थान है।

स्वाति—आत्ममनस्वी होना स्वाति संस्थान है।

न्यग्रोध परिमण्डल—भोग वृत्तियों का निग्रह करने की अवस्था न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान है।

समचतुरस्र—समान भाव का होना समचतुरस्र संस्थान है।

नोट।—उपर्युक्त संस्थानों के अर्थ 'शब्द कल्पद्रुम' कोष के आधार पर किये गये हैं।

अंगोपांग—संस्थानों से प्रभावित होकर औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर का आवरण होना।

संहनन—अंगोपांग की क्रिया शक्ति संहनन है। यह ६ प्रकार का है—वज्र ऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्ध नाराच, कीलिका और सेवार्त्तिका। ये सभी संस्थान पुरुषार्थ के वाचक हैं।

वर्ण गंध रस, स्पर्श—संहनन के अनुसार पांचों इन्द्रियों के विषयों में लगा रहना वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कहा गया है।

गत्यानुपूर्वी—इन्द्रियों के विषयों में तीव्रता या मन्दता के साथ लगे रहने की वृत्तियों के संस्कारों का होना गत्यानुपूर्वी है।

विहायोगति—अशुभ से शुभ की ओर और शुभ से अशुभ की ओर जाने के संस्कारों को क्रमशः शुभ अशुभ विहायोगति कहते हैं।

अगुरुलघु—चेतन गुण का प्रकट होना अगुरुलघु है।

उपघात—कर्म चेतना के पश्चात् इन्द्रियों का सचरण होकर भोग वस्तु से सम्बन्ध स्थापित करने को उपघात नाम कहते हैं।

पराघात—भोग वस्तुओ से सबंध स्थापित होने पर विषयों की ओर आकर्षित होना पराघात है।

उच्छ्वास—भोग पदार्थों में आकर्षित होने के कारण भोग पदार्थों को प्राप्त करने के लिये उत्सुक होने को उच्छ्वास कहते हैं।

आतप—उत्सुक होने पर भोगने की आकाक्षा का प्रकट होना जिससे देह मे ताप होता है, आतप नाम है।

उद्योत—प्रकट हुई आकांक्षाए पूर्ण करने को उद्यत या उत्सुक होना उद्योत नाम कर्म है।

त्रस, स्थावर, अशुभ और शुभ—उपघात की अवस्था मे इन्द्रियो का बाह्य रूप से काय रूप मे रत होना त्रस नाम कर्म है, आंतरिक सचरण स्थावर नाम कर्म है, शुभ या अशुभ में लगने के सस्कार शुभ, अशुभ प्रकृति है।

बादर, सूक्ष्म, सुभग, दुर्भग—पराघात की अवस्था मे बाह्य रूप से काय-रत होना बादर नाम और सूक्ष्म रूप से कायरत होने के सस्कार सूक्ष्म नाम कर्म है। पराघात अवस्था में नियत्रण करने के सस्कार सुभग और नियन्त्रण नहीं करने के सस्कार को दुर्भग नाम कर्म कहते हैं।

पर्याप्त अपर्याप्त—सुस्वर-दुस्वर उच्छ्वास अवस्था अर्थात् भोग भोगने के लिये पर्याप्त रूप से या अपर्याप्त रूप से उत्सुक होना पर्याप्त-अपर्याप्त नाम कर्म है। उस पर्याप्त-अपर्याप्त अवस्था मे शुभ की ओर या अशुभ की ओर जाने की अवस्था सुस्वर-दुस्वर है।

प्रत्येक साधारण, आदेय अनादेय—उच्छ्वास अवस्था मे प्रत्येक भोग्य वस्तु के प्रति उत्पन्न आकांक्षा प्रत्येक है और सामान्य आकांक्षा उत्पन्न होना साधारण है। आकांक्षाओ का नही करना आदेय है और आकांक्षाओं का करना अनादेय है।

स्थिर अस्थिर, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति—उद्योत अवस्था में सस्कारो के अनुसार प्रवृत्ति होना अस्थिरता है और भोगों मे प्रवृत्ति न होना स्थिरता है। शुभ प्रवृत्तियों में लगना यशःकीर्ति है और मन को नियन्त्रित नहीं करना अयशःकीर्ति है।

निर्माण—उक्त प्रकृतियो को नियमित करना निर्माण है।

तीर्थंकर—प्रवृत्तियां से उपरत होने की वृत्ति तीर्थंकर नाम कर्म है।

७ गोत्र—नाम कर्म की सब उत्तर प्रकृतियों की सम्मिलित शक्ति का प्रभाव देह की क्रियाओं पर प्रकट होता है, वह गोत्र कर्म है। यदि वे क्रियाएँ सद् प्रवृत्तियों के रूप में हैं तो वह उच्च गोत्र है। दुष्प्रवृत्तियों के रूप में तो वह नीच गोत्र है।

८ अंतराय—आयु नाम, गोत्र इनका उदय (वेदन होने पर भोग की कामना का पैदा होना) अंतराय कर्म है। भोगों को प्राप्त करने की अभिलाषा दानान्तराय है, भोगों के प्रति रुचि होने की अवस्था लाभान्तराय है, भोगने की अभिलाषा भोगान्तराय है, बार-बार भोगने की अभिलाषा, लालसा का बना रहना उपभोग अन्तराय और भोगों के प्रति पुरुषार्थ करने की वृत्ति वीर्यान्तराय है। भोगों के भोगने की इच्छा या वासना नहीं रहने पर अंतराय कर्म क्षय हो जाता है।

इस लेख में आयु, नाम, अन्तराय आदि कर्मों की मूल व उत्तर प्रकृतियों की परिभाषाएँ परम्परागत परिभाषाओं से भिन्न रूप में प्रस्तुत की गई हैं। इनका आधार यह है कि देह का हल्का, भारी, कठोर, नम्र, सबल निर्बल, सुन्दर असुन्दर होना, देह का काला, गोरा आदि वर्णों का होना, सुगंध-दुर्गंध युक्त होना, मीठा, खट्टा आदि आस्वादन करना आदि की उपलब्धि कर्म बन्ध के कारण नहीं है। अपितु इन्द्रिय और मन की प्रवृत्तियाँ व क्रियाएँ ही कर्म बन्ध के कारण होती हैं। इसी प्रकार आयु की कमी-अधिकता भी कर्म बन्ध का [illegible] नहीं है अपितु आयु जीवन की एक अवस्था है तथा भोगोपभोग संबंधी वस्तुओं का मिलना न मिलना सामान्य रूप से अन्तराय रूप है, परन्तु अन्तराय कर्म नहीं है।

आतम-ध्यान

राग—जगला

मैं निज आतम कब ध्याऊँगा।
रागादिक परणाम त्याग कै समता सौं लौ लगाऊँगा॥ मैं निज० १॥

मन वच काय जोग थिर करके ज्ञान समाधि लगाऊँगा।
कब हौं श्रेणि चढ़ि ध्याऊँ चारित मोह नशाऊँगा॥ मैं निज० २॥

चारों करम घातिया हन करि, परमातम पद पाऊँगा।
ज्ञान दरश सुख बल भण्डारा, चार अघाति बहाऊँगा॥ मैं निज० ३॥

परम निरंजन सिद्ध शुद्ध पद परमानन्द कहाऊँगा।
'द्यानत' यह सम्पति जब पाऊँ, बहुरि न जग में आऊँगा॥ मैं निज० ४॥

—द्यानतराय

---

१६ जीवन में कर्म-सिद्धान्त की उपयोगिता

☐ श्री कल्याणमल जैन

जीवन क्या है ?

आकाश में उड़ते हुए पंछी से एक मुसाफिर ने पूछा—"गगन विहारी, क्या आप बता सकते हैं कि जीवन क्या है ?" पंछी ने उत्तर दिया—"भले मानुष ! यह भी पूछने की बात है। वह जो तेरे पावों के नीचे आधार की मिट्टी है और जो मेरे सिर के ऊपर विहार का उन्मुक्त लोक है, यही तो जीवन है।" मुसाफिर यह समझकर बाग बाग हो उठा कि वास्तव में यथार्थ और कल्पना का मेल कराने वाली यात्रा ही जीवन है।

बाल्यकाल की चंचलता, जवानी का उत्साह और वृद्धावस्था की उदासीनता का समन्वय ही जीवन है।

जिसे हम आत्मा, चैतन्य कहते हैं, उसे भगवान् महावीर ने जीव कहा है। आगमों में अधिकतर जीव शब्द का ही प्रयोग मिलता है। जीव शब्द का अर्थ है—जो अनन्त काल से जीता आ रहा है और अनन्त-अनन्त अनागत काल की यात्रा के लिए जीता जा रहा है अर्थात् जो जीवित है, जीवित था और सदैव जीवित रहेगा, वह जीव है। वह अनन्त अनन्तकाल के प्रवाहमान प्रवाह में जीता जा रहा है। जीवन की कोई सीमा नहीं, अतः उसका मरण भी नहीं। मरण जन्म के साथ-साथ चलता है। जन्म और मरण के दो किनारों के मध्य में जो जिन्दगी के पथ हैं, उन्हें हम जीवन कहते हैं। यह जिन्दगी की धारा जन्म-मरण के किनारों के मध्य गतिशील है—वस्तुतः यही जीवन है।

चैतन्य की अपेक्षा आत्मा अजन्मा है, परन्तु अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार चैतन्य (आत्मा) देह धारण करता है। अतः आत्मा का नया जन्म नहीं होता, जन्म होता है तो देह का। किसी एक योनि से बंधे हुए आयु कर्म का उदय में आना जन्म है और उसका क्षय होना मरण है। उनके मध्य में देहवास की स्थिति जीवन है। आत्मा वही है—बदलता है केवल देह। जैसे एक व्यक्ति घर को छोड़कर अथवा तोड़कर नया घर बनाता है, बस इसी तरह संसार में परिभ्रमणशील आत्मा आयु कर्म का क्षय होते ही नये घर में प्रवेश करती है, इस नये घर के निर्माण को ही हम जन्म कहते हैं।

नये घर में जाने के लिए पुराने घर को छोड़ना होता है प्राणों का छोड़ना मरण है। इस जन्म और मरण के बीच जो सांसों का प्रकार है वही जीवन है।

कर्म क्या है?

साधारण रूप में जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे खाना पीना, बोलना, चलना, सोचना, विचारना, उठना, बैठना आदि। किन्तु यहाँ कर्म शब्द से केवल क्रिया रूप ही परिलक्षित नहीं है। 'महापुराण' में कर्म रूप ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं —

> विधि सृष्टा विधाता च दैव कर्मपुरा कृतम्।
> ईश्वर - ईश्वर चेतो पर्याय-कर्म वेधस्॥

अर्थात—विधि, सृष्टि, विधाता, दैवपुरा, कृतम्, ईश्वर ये कर्म रूपी ब्रह्मा के वाचक शब्द हैं। इस कर्म शब्द से इसी ब्रह्मा को ग्रहण किया है।

जैन दर्शन के अनुसार जीव के द्वारा हेतुओं से जो किया जाय, उस पुद्गल वर्गणा के संग्रह का नाम कर्म है। शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और सम्बन्धित होकर जो पुद्गल आत्मा के स्वरूप को आवृत करते हैं, विकृत करते हैं और शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं। उन गृहित पुद्गलों का नाम है—कर्म। यद्यपि यह पुद्गल एक रूप है, तथापि यह जिस आत्म गुण को प्रभावित करते हैं, उसके अनुसार ही उन पुद्गलों का नाम हो जाता है।

कर्म सिद्धान्त

जो नियम कभी नहीं बदलते और यथार्थता को लिए हुए होते हैं उन अटल नियमों को सिद्धान्त कहते हैं। उपर्युक्त जीवन का आधार कर्म व्यवस्था है और कर्म-व्यवस्था के जो अटल नियम हैं वही कर्म सिद्धान्त कहलाते हैं। जैसे कर्म दया में है, भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। ऐसे ही कर्म सिद्धान्त के नियम भी अटल हैं, जो इस प्रकार हैं —

(१) चेतन का सम्बन्ध पाकर जड़ कर्म स्वयं अपना फल देता है। आत्मा उस फल को भोगता है।

(२) किसी भी कर्म के फल भोगने के लिए कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि करते समय ही जीव के परिणामों के अनुसार एक प्रकार का संस्कार पड़ जाता है जिससे प्रेरित होकर जीव अपने कर्म का फल स्वयं भोगता है। कर्म भी चेतन

सम्बन्धित होकर अपने फल को अपने आप ही प्रकट करता है। जैसे—भंग घोटकर किसी बर्तन मे रख देने से उस बर्तन को नशा नही होता, पर ज्योंही उस बर्तन मे रखी हुई उस भंग को कोई व्यक्ति पीता है तो उसे समय पाकर अवश्य नशा होता है। उसमे तीसरी शक्ति की आवश्यकता नही होती। इसी प्रकार कर्म पुद्गल जीव का सम्बन्ध पाकर स्वयं अपना फल देता है—

को सुख को दुःख देत है, देत कर्म झकझोर ।
उलझत सुलझत आप ही, पता पवन के जोर ॥

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति इन पांच समवाय के मिलने से जीव कर्म फल भोगता है। इन सब तर्कों से यह सिद्ध होता है कि जीव के भोग से कर्म अपना फल स्वयं देता है। इस सिद्धान्त को भारतीय आस्तिक दर्शनों के साथ-साथ बौद्ध दर्शन जैसे अनात्मवादियों ने भी स्वीकार किया है। उदाहरण के रूप मे राजा मलिन्द और स्थविर नागसेन का संवाद इस प्रकार है—

राजा मलिन्द स्थविर नागसेन से पूछता है कि भन्ते ! क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नही होते, कोई कम आयु वाला और कोई दीर्घ आयु वाला, कोई रोगी, कोई नीरोगी, कोई भद्दा, कोई सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई प्रभावशाली, कोई निर्धन, तो कोई धनी, कोई नीच कुल वाला, तो कोई उच्च कुल वाला, कोई मूर्ख, तो कोई विद्वान् क्यों होते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर स्थविर नागसेन ने इस प्रकार दिया।

राजन् ! क्या कारण है कि सभी वनस्पति एक जैसी नही है। कोई खट्टी तो कोई नमकीन, तो कोई तीखी तो कोई कड़वी क्यों होती है ?

मलिन्द ने कहा—मैं समझता हूँ कि बीजों की भिन्नता होने से वनस्पति भी भिन्न भिन्न होती है।

नागसेन ने कहा—राजन् ! जीवों की विविधता का कारण भी उनका अपना अपना कर्म ही होता है। सभी जीव अपने अपने कर्मों का फल भोगते हैं। सभी जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार नाना गति-योनियों मे उत्पन्न होते हैं।

राजा मलिन्द और नागसेन के इस संवाद से भी यही सिद्ध होता है कि कर्म अपना फल स्वयं ही प्रदान करते हैं।[1]

इसी को राम भक्त महाकवि तुलसीदास ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है —

1—मलिन्द प्रश्न—बौद्ध ग्रंथ।

मुझे न कोई उठाने वाला है और न कोई गिराने वाला। मैं स्वयं अपनी शक्ति से उठता हूँ तथा अपनी शक्ति के ह्रास से गिरता हूँ। अपने जीवन में मनुष्य कुछ जैसा और जितना पाता है, वह सब कुछ उसकी बोई हुई खेती का अच्छा या बुरा फल है। अतः जीवन में हताश, निराश तथा दीन-हीन बनने की आवश्यकता नहीं है। यही कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता है।

मानव जीवन के दैनिक व्यवहार में कर्म सिद्धान्त कितना उपयोगी है, यह भी विचारणीय प्रश्न है। कर्म शास्त्र के विद्वानों ने अपने युग में इस प्रश्न पर विचार किया है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रतिदिन देखते हैं और अनुभव करते हैं तो महसूस होता है कि कभी-कभी तो जीवन में सुख के सुनहरे बादल छा जाते हैं और कभी-कभी दुःख की घनघोर घटाएँ सामने विकट स्वरूप धारण किये हुए खड़ी हैं। उस समय प्रतीत होता है कि यह जीवन विभिन्न बाधाओं, दुःख और विविध प्रकार के कष्टों से भरा पड़ा है, जिनके आने पर हम घबरा जाते हैं तथा हमारी बुद्धि कुंठित हो जाती है। मानव जीवन की वह घड़ी कितनी विकट होती है। जब एक ओर मनुष्य को उसकी बाहरी परिस्थितियाँ परेशान करती हैं और दूसरी ओर उसके हृदय में व्याकुलता बढ़ जाती है। इस प्रकार की परिस्थिति में ज्ञानी और धीर कहलाने वाले व्यक्ति भी अपने गन्तव्य मार्ग से भटक जाते हैं। हताश और निराश होकर अपने दुःख, कष्ट और क्लेश के लिए दूसरों को कोसने लगते हैं। वे उस समय भूल जाते हैं कि वास्तव में उपादान कारण क्या है, उनकी दृष्टि केवल बाह्य निमित्त पर जाकर टिकती है। इस प्रकार के विषम प्रसंग पर वस्तुतः कर्म सिद्धान्त ही हमारे लक्ष्य के पथ को आलोकित करता है और मार्ग से भटकती हुई आत्मा को पुनः सन्मार्ग पर ला सकता है।

सुख और दुःख का मूल कारण अपना कर्म ही है। वृक्ष का जैसे मूल कारण बीज ही है। वैसे ही मनुष्य के भौतिक जीवन का मूल कारण उसका अपना कर्म ही है। सुख-दुःख के इस कार्य-कारण भाव को समझकर कर्म सिद्धान्त मनुष्य को आकुलता एवं व्याकुलता के गहन गर्त से निकाल कर जीवन के विकास की ओर गमन को प्रेरित करता है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त आत्मा को निराशा के झंझावात से बचाकर कष्ट एवं क्लेश सहन की शक्ति प्रदान करता है। संकट के समय में भी बुद्धि को स्थिर रखने का दिव्य सन्देश देता है। कर्म सिद्धान्त में विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह विचार करता है कि जीवन में जो अनुकूलता एवं प्रतिकूलता आती है उसका उत्पादक मैं स्वयं हूँ। अतः उसका अनुकूल या प्रतिकूल परिणाम भी मुझे ही भोगना चाहिये।

यह दृष्टि मानव जीवन को शान्त, सन्तुष्ट और आनन्दमय बना देती है जिससे मानव आशा एवं स्फूर्ति के साथ अपने जीवन का विकास करता हुआ आगे बढ़ जाता है। यही जीवन में कर्म सिद्धान्त की उपयोगिता है। □

२० कर्म और कर्मफल

□ श्री राजेन्द्र मुनि

कम फल का भोग-अटल

कम और उसके फल का सम्बन्ध कारण और कायवत् है। कारण की उपस्थिति काय को अवश्य ही अस्तित्व मे लाती है। जहाँ अग्नि है वहाँ धूम्र की उपस्थिति भी सवनिश्चित है। बिना अग्नि के धूम्र नही हो सकता है उसी प्रकार सुख अथवा दु ख का भोग जब आत्मा द्वारा किया जा रहा है तो निश्चय ही उसकी पृष्ठभूमि मे कारणस्वरूप पूवकृत कम है। आत्मा को कर्मों का फल भोगना ही पडता है। इससे उसका निस्तार किसी भी स्थिति मे सभव नही है। यह भी तथ्य है कि सत्कर्मों के फल भी शुभ होते हैं और असत् कर्मों के फल अशुभ। सहज प्रवत्तिवश हम सुखोपभोग के लिये तो लालायित रहते हैं। पर दु खो को भोगने के लिये कौन तत्पर रहता है? किन्तु हमारी इच्छा-अनिच्छा से कमफल टलता या बढ़ता-घटता नही है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे जन-दर्शन सवथा स्पष्ट और दृढ है कि आत्मा को पूवकर्मानुसार फल का भोग अनिवायत करना पडता है। कारण उत्पन्न करना मनुष्य के वश की बात है, किन्तु इसके पश्चात् तज्जनित काय पर उसका वश नही हो सकता। अग्नि का स्पर्श करने पर हाथ का जलना सवथा निश्चित एव अटल होता है। उसी प्रकार कर्ता को कम का फल भोगना पडता है। शुभ कर्मों के सुखद फलो को भोगने के लिये सभी तत्पर रहें, यह स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार दु खद फलो से बचना भी चाहेंगे, किन्तु यह सभव नहीं है। साथ ही फल सदा कर्मानुरूप ही हुआ करते हैं। अशुभ कम से शुभ फल प्राप्त करना तनिक भी सभव नही है। जैसे बीज होग तदनुसार ही फल होगे। 'बोए पेड़ बबूल के' फिर कोई व्यक्ति 'आम' का रसास्वादन नही ले सकता। जैन धर्म मे कम सिद्धान्त को विशेष प्रतिष्ठा है। इससे व्यक्ति को वतमान आचरण भी शुद्ध और शुभ रखने की प्रेरणा मिलती है। भगवान् महावीर के इस कथन "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" से यह सिद्ध होता है कि किये गये कर्मों का फल भोग बिना आत्मा का छुटकारा नहीं होता। परिणामत सभी श्रेष्ठ फल प्राप्ति के अभिलाषीजन कर्म की श्रेष्ठता पर भी पूरा ध्यान देते हैं।

क्या ईश्वर कर्म फल प्रदान करता है ?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय जन एवं कतिपय दार्शनिकों की सामान्य मान्यता है कि ईश्वर ही फल का दाता है। जैनदर्शन की मान्यता इससे ठीक विपरीत है। जैन दर्शन ईश्वर जैसी किसी सत्ता को सुख-दुःख कर्त्ता नहीं स्वीकारता। इसमें तो आत्मा की ही सर्वोच्चता है। आत्मा स्वयं के लिये भविष्य तैयार करती है, वह स्वयं नियन्ता है। ईश्वर में विश्वास करने वाले मानते हैं कि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर फल तो वैसा ही मिलेगा जैसा ईश्वर चाहेगा। यही कारण है कि ईश्वर की कृपा के लिए अधिक प्रयत्न किये जाते हैं। इनके अनुसार तो अशुभ कर्मों के फल भी शुभ हो जाते हैं। जीवन भर पापाचार में लिप्त रहने वाला अजामिल भी ईश्वर कृपा से अन्ततः मोक्ष को प्राप्त हो गया। जैन धर्म इस विचार को प्रारम्भ से असत्य मानता है। इसका यह सिद्धान्त अटल है कि जैसे कर्म होंगे, उनके फल भी निश्चित रूप से वैसे ही होंगे। साथ ही अशुभ कर्मों के फल को कोई शक्ति टाल नहीं सकती। सत्य तो यह है कि कर्म स्वयं ही अपना फल देते हैं। अतः जैसा फल इच्छित हो, तदनुरूप ही कर्म किया जाना चाहिये।

"ईश्वर ही फल प्रदान करता है" इस धारणा के पीछे कदाचित् यह आधार रहा है कि प्रायः देखने में आता है कि अमुक जनों को उनके कर्मानुरूप फल नहीं मिलता। और तुरन्त यह धारणा बना ली जाती है कि कर्मों के फल तो जैसे ईश्वर चाहता है वैसे देता है किन्तु यह तात्कालिक विचार ही कहा जायेगा। अन्तिम सत्य का इसमें अभाव है। कर्मफल या कर्मानुरूप फल के अभाव से ईश्वर का मध्यस्थ या अधिकरण मानना उचित नहीं है। यहाँ यह स्पष्टतः समझ लेना उपयोगी रहेगा कि कर्म की फल प्राप्ति में विलम्ब हो सकता है। सम्भव है कि कुछ कर्म इसी जन्म में अपना फल देते हैं और कुछ कर्म आगामी जन्म में, यहाँ तक कि कभी-कभी तो फल प्राप्ति अनेक जन्मों के पश्चात् होती है। उदाहरणार्थ, गजसुकुमाल मुनि को ९९ लाख वर्षों के पूर्व के कर्मों का उपसर्ग भोगना पड़ा था। गौतम बुद्ध के पैर में काँटा चुभ गया था। इस पर उन्होंने कहा कि ९१ जन्म पूर्व मैंने एक व्यक्ति पर भाले का प्रहार किया था। उस अशुभकर्म का फल ही आज मुझे इस रूप में प्राप्त हुआ है। परन्तु मात्र इस कारण कि कर्मानुसार फल की प्राप्ति तत्काल होते न देखकर यह मानना अनुचित है कि फल कर्म के अनुसार नहीं होता, अथवा ईश्वर फल का दाता है। और वह अशुभ कर्मों के भी शुभ फल और शुभ कर्मों के भी अशुभ फल दे सकता है। अशुभ कर्मों का यदि हम शुभ फल भोगते हुए देखते हैं तो इसकी वास्तविकता यह रहती है कि इस समय जो फल भोगा जा रहा है, वह इस समय के कर्मों का फल नहीं है। पूर्वकृत शुभ कर्मों के फल उन्हें प्राप्त मिल रहे हैं। चाहे इस समय उनके अशुभ कर्म ही क्यों न हों? और

यह भी सवनिश्चित है कि इन अशुभ कर्मों के फलो से भी वह मुक्त नही रह सकेगा। इसका भोग उसे करना ही होगा और वह अशुभ ही होगा।

कम और उसके फल के मध्य ईश्वर की सक्रियता को स्वीकार करना उपयुक्त नही। ईश्वरवादीजन तो ईश्वर को सर्वशक्तिमान नियता मानते हैं। ऐसी स्थिति मे ईश्वर इस जगत से अशुभ कर्मों को समाप्त ही क्यो नही कर देता ? एसा क्यों है कि पहले तो वह आत्माओ को दुष्कर्मों मे प्रवृत्त करता है और फिर उन अशुभ कर्मों के फला को शुभ बनाने का काम भी करता है। एक प्रश्न यह भी महत्त्वपूर्ण है कि यदि ईश्वर ही फलदाता है तो कर्मों के फल वह तत्काल ही क्यो नहीं दे देता ताकि दुष्कर्मों के दुष्परिणाम देखकर अन्य जन सन्मार्गी हो सकें।

एक स्थिति और विचारणीय हैं। जो पर पीडक हैं, हिंसक हैं उन्हें अधर्मी समझा जाता है और उनके कम निन्दनीय तथा अनैतिक स्वीकार किये जाते हैं। वे अन्य प्राणियो को कष्ट देते हैं। यहाँ यह विचारणीय प्रसग है कि जिन प्राणियों को कष्ट मिल रहा है, क्या वह ईश्वर की इच्छानुसार ही मिल रहा है ? या उन प्राणियों को अपने कर्मों का फल मिल रहा है ? ये हिंसक जन तो ईश्वर की इच्छा को ही पूरा कर रहे हैं फिर इन्हे निन्दनीय क्यो समझा जाय और इनके इन हिंसापूर्ण कार्यों का अशुभ फल इन्हे क्यों मिले ?

इसी प्रकार दान को पुण्य कम कहा जाता है। भूखो को अन्नदान करना श्रेष्ठ कम है। भूखो को भूख का कष्ट भी तो ईश्वर ने ही दिया होगा फिर ईश्वर की व्यवस्था मे किसी व्यक्ति द्वारा हस्तक्षेप करना शुभ कम कसे कहा जा सकता है ? ईश्वर चाहता है कि अमुकजन भूख के कष्ट से पीड़ित रहे और हम उसे कष्ट से मुक्त कर दें तो ईश्वर की अप्रसन्नता ही होगी। ऐसी स्थिति में यह कम शुभ कैसे हो सकेगा ? ये सब भ्रामक स्थितियाँ हैं।

वस्तुत जैनदर्शन का यह मत असदिग्ध रूप से यथाथ है कि न तो कोई कर्ता कम के फलों से बच सकता है और न ही किसी स्थिति में फल कर्मानुसार होने से बच सकता है। कोई शक्ति कर्मानुसार फलों को परिवर्तित नहीं कर सकती। ईश्वर भी नहीं।

जैन दर्शन और भाग्यवाद

कम की प्रधानता स ऐसा आभास होने लगता है कि जैन दर्शन मे भाग्यवाद का प्राबल्य है। व्यक्ति का यह जीवन समग्र रूप से पूव निर्धारित एव अपरिवतनीय हो—यह भाग्यवाद का प्रभाव है। यदि कमफल का ही भोगते हुए

क्या ईश्वर कर्म फल प्रदान करता है ?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय जन एवं कतिपय दार्शनिकों की सामान्य मान्यता है कि ईश्वर ही फल का दाता है। जैनदर्शन की मान्यता इससे ठीक विपरीत है। जैन दर्शन ईश्वर जैसी किसी सत्ता को सुख-दुःख कर्त्ता नहीं स्वीकारता। इसमें तो आत्मा की ही सर्वोच्चता है। आत्मा स्वयं के लिये भविष्य तैयार करती है, वह स्वयं नियन्ता है। ईश्वर में विश्वास करने वाले मानते हैं कि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर फल तो उतना ही मिलेगा जैसा ईश्वर चाहेगा। यही कारण है कि ईश्वर की कृपा के लिए अधिक प्रयत्न किये जाते हैं। इनके अनुसार तो अशुभ कर्मों के फल भी शुभ हो जाते हैं। जीवन भर पापाचार में लिप्त रहने वाला अजामिल भी ईश्वर कृपा से अन्ततः मोक्ष को प्राप्त हो गया। जैन धर्म इस विचार को मानव के असत्य मानता है। इसका यह सिद्धान्त अटल है कि जैसे कर्म होंगे, उनके फल भी निश्चित रूप से वैसे ही होंगे। साथ ही अशुभ कर्मों के फल को कोई भी शक्ति टाल नहीं सकती। सत्य तो यह है कि कर्म स्वयं ही अपना फल देते हैं। अतः जैसा फल इच्छित हो, तदनुरूप ही कर्म किया जाना चाहिए।

"ईश्वर ही फल प्रदान करता है" इस धारणा के पीछे कदाचित् यह आधार रहा है कि प्रायः देखने में आता है कि अमुक जनों को उनके कर्मानुरूप फल नहीं मिलता। और तुरन्त यह धारणा बना ली जाती है कि कर्मों का फल तो जैसा ईश्वर चाहता है वैसे देता है किन्तु यह तात्कालिक विचार ही कहा जायेगा। अंतिम सत्य का इसमें अभाव है। कर्मफल या कर्मानुरूप फल के अभाव से ईश्वर का हस्तक्षेप या अभिकरण मानना उचित नहीं है। यहाँ यह स्पष्टतः समझ लेना उपयोगी रहेगा कि कर्म की फल प्राप्ति में विलम्ब हो सकता है। संभव है कि कुछ कर्म इसी जन्म में अपना फल देते हैं और कुछ कर्म आगामी जन्म में यहाँ तक कि कभी-कभी तो फल-प्राप्ति अनेक जन्मों के पश्चात् होती है। उदाहरणार्थ, गजसुकुमाल मुनि को ९९ लाख वर्षों के [illegible] कर्मों का उपभोग भोगना पड़ा था। गौतम बुद्ध के पैर में काँटा गड़ गया था। इस पर उन्होंने कहा कि ९१ जन्म पूर्व मैंने एक व्यक्ति पर भाले का प्रहार किया था। उस दुष्कर्म का फल ही आज मुझे इस रूप में प्राप्त हुआ है। अतः, मात्र इस कारण कि कर्मानुसार फल की प्राप्ति तत्काल होती न देखकर यह मानना अयोग्य है कि फल कर्म के अनुसार नहीं होते, अथवा ईश्वर फल का दाता है। और वह अशुभ कर्मों के भी शुभ फल और शुभ कर्मों के भी अशुभ फल दे सकता है। अशुभ कर्मों का यदि हम शुभ फल भोगते हुए देखते हैं तो इससे अभिप्राय यह रहता है कि इस समय जो फल भोगा जा रहा है वह इस समय के कर्मों का फल नहीं है। पूर्वकृत शुभ कर्मों का फल उसे इस रूप में मिल रहे हैं। चाहे इस समय उसके अशुभ कर्म ही क्यों न हों? और

और आत्मा में कौन अपेक्षाकृत अधिक बलवान है ? हम सामान्यत पाते हैं कि आत्मा कर्मों के फल भोगने मे लगी रहती है और एक के बाद एक जन्म ग्रहण करती रहती है। ये कर्म ही हैं जो आत्मा को काम, क्रोध, मोहादि मलो में लिप्त कर देते हैं। कर्म ही किसी आत्मा को उज्ज्वल हो सकने का अवसर देते हैं। इन परिस्थितियो मे कर्म की सबलता दिखायी देती है। कर्म ही आत्मा पर हावी रहते हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

पर यथार्थ में कर्म की शक्ति कुछ नही है। आत्मा ही बलवान है। आवश्यकता इस बात की है कि आत्मा को तेजोमय और ओजपूर्ण किया जाय फिर तो आत्मा कर्म पर नियन्त्रण करने की पात्रता अर्जित कर लेगी। आत्मा द्वारा बाह्य कर्मों के प्रवेश को निषिद्ध किया जा सकता है। यह आत्मा ही है जो अपने बंधन कर्मचक्र को स्थगित कर सकती है, काट सकती है। आत्मा की कर्मों पर विजय ही तो मोक्ष प्राप्ति है। कर्म क्षय की योग्यता जब आत्मा में है तो कर्म निश्चित ही आत्मा की अपेक्षा निर्बल हैं।

हाँ, कर्म का परिणाम फल और फल का परिणाम कर्मरूप में उदित अवश्य होता है और इस प्रकार कर्मचक्र अजस्र गति से चलता रहता है किंतु उपयुक्त पात्रता पाकर आत्मा इस गति को समाप्त कर देती है। संयम और तप से आत्मा को यह शक्ति प्राप्त होती है। कर्मचक्र की अटूट गति से यह नही समझना चाहिये कि प्रत्येक आत्मा के लिए उसका यह क्रम शाश्वत ही रहेगा। वस्तुत आत्मा कर्मचक्र मे ग्रस्त कैसे होती है, इस प्रसंग का समझना इस सारे प्रसंग को सुगम बना सकता है। राग, द्वेष, माया, लोभ, क्रोधादि आवेगों के कारण आत्मा कर्म के बंधनो मे बद्ध हो जाती है। व्यक्ति चाहे तो अपनी आत्मा को इस बंधन से मुक्त रख सकता है। उसे इन विकारो से ही बचना होगा। यह भी सत्य है कि एक बार आबद्ध हो जाने पर भी वह स्वयं अपने प्रयास से मुक्त हो सकता है। ऐसे संकल्पधारियो के लिए भगवान् महावीर का यह संदेश परम सहायक सिद्ध हो सकता है कि "आत्मा का हित चाहने वाला पापकर्म बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार विकारो को छोड़ दे।"

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वे मूल कारण हैं जिनके परिणामस्वरूप कर्म अस्तित्व मे आते है। जब ये ही नष्ट कर दिये जाते हैं तो इनकी नींव पर अवलम्बित कर्म अट्टालिका स्वत ही ध्वस्त हो जाती है। क्रोध को नष्ट करने के लिये क्षमा, मान को नष्ट करने के लिए कोमलता का व्यवहार प्रभावकारी रहता है। इसी प्रकार माया पर सादगी से और लोभ पर संतोष से विजय प्राप्त की जा सकती है।

वस्तुत भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म उदित होते रहते हैं। यही शृंखला अजस्रता के साथ चलती रहती है और परिणामत यह चक्र

उसे अपने जीवन को व्यतीत करना है तब तो जो कुछ पूर्व कर्मों द्वारा निर्धारित हो चुका है, जीवन का स्वरूप वैसा ही रहेगा। फिर जैनदर्शन के भाग्यवादी होने में क्या आशंका हो सकती है? इस प्रकार के प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। यह निश्चित है कि कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है और फल पूर्व निर्धारित होते हैं किन्तु साथ ही जैन दर्शन जीवन के स्वरूप-निर्माण में कर्म के साथ-साथ पुरुषार्थ की भूमिका को भी समान ही महत्त्व देता है। प्रारब्ध का होना तो इस दर्शन में माना ही जाता है किंतु यह भी माना गया है कि व्यक्ति अपने इसी जीवन के कर्मों द्वारा इसी जीवन के लिये शुभ-अशुभ का विधान भी कर सकता है। ये कर्म अविलम्ब फल देने वाले होते हैं और ये पुरुषार्थ हैं।

जैन दर्शन को एकांगी रूप से भाग्यवादी नहीं कहा जा सकता। पिछले कर्मों के फल विधान स्वरूप जो व्यवस्था निर्धारित हो जाती है वैसा ही मनुष्य का यह जीवन होता है और यह व्यवस्था प्रचलित भाग्य के नाम से जानी जाती है। जीवन धारण करते समय आत्मा का जो कर्म समुदाय होता है वह उसे फलानुसार एक रूप रंग, भावी जीवन के लिये तैयार कर देता है। यदि व्यक्ति भाग्यवादी ही रहा तो वह पूर्वकृत कर्मों के फल ही भोगता रह जाता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति पुरुषार्थ प्रयोग द्वारा अपने जीवन को इच्छित रंग, रूप देने लगता है तो उसके ये नये कर्म जीवन का पूर्व विधान की अपेक्षा कुछ और ही कर देते हैं। ये कर्म तुरन्त और इसी जीवन में फल देने वाले होते हैं। यही कारण है कि जीवन का पूर्व निर्धारित रूप बिगड़ जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा भी पूर्व कर्मों के फलों को स्थगित नहीं कर पाता। वे फल तो उसे भोगने ही पड़ेंगे। जब पुरुषार्थ दुर्बल हो जायगा तो कर्मफल उदित होने लगता है। ये कर्मफल बीच-बीच में पुरुषार्थ के फलों को भी अनुकूल प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते रहते हैं।

कर्मचक्र और उसका स्वरूप

कर्म के सम्बन्ध में जीवन को किसी उपन्यास के कथानक के समतुल्य कहा जा सकता है। कथानक की एक घटना अपने पहले वाली घटना के परिणाम स्वरूप ही घटित होती है और यह परिणाम स्वरूप घटित घटना भी आगामी घटना के लिए आधार बनती है। कर्मचक्र भी इसी प्रकार गतिशील रहता है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष का परिणाम पुनः बीज रूप में प्रकट हो जाता है। कर्म के परिणाम स्वरूप फल उदित होते हैं। इन फलों को भोगते भोगते आत्मा द्वारा नये कर्म और अर्जित हो जाते हैं जो वर्तमान में अथवा आगामी जन्म में अपने फल देते हैं।

स्पष्ट है कि इसमें [illegible] है। [illegible] है [illegible] हो जाता है कि [illegible]

और आत्मा में कौन अपेक्षाकृत अधिक बलवान है ? हम सामान्यत पाते हैं कि आत्मा कर्मों के फल भोगने मे लगी रहती है और एक के बाद एक जन्म ग्रहण करती रहती है। ये कर्म ही हैं जो आत्मा को काम, क्रोध, मोहादि मलो मे लिप्त कर देते हैं। कम ही किसी आत्मा को उज्ज्वल हो सकने का अवसर देते हैं। इन परिस्थितियों मे कम की सबलता दिखायी देती है। कम ही आत्मा पर हावी रहते हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

पर यथार्थ मे कम की शक्ति कुछ नही है। आत्मा ही बलवान है। आवश्यकता इस बात की है कि आत्मा को तेजामय और ओजपूर्ण किया जाय फिर तो आत्मा कम पर नियन्त्रण करने की पात्रता अर्जित कर लेगी। आत्मा द्वारा बाह्य कर्मों के प्रवेश को निषिद्ध किया जा सकता है। यह आत्मा ही है जो अपने बधन कमचक्र को स्थगित कर सकती है, काट सकती है। आत्मा की कर्मों पर विजय ही तो मोक्ष प्राप्ति है। कम क्षय की योग्यता जब आत्मा मे है तो कम निश्चित ही आत्मा की अपेक्षा निर्बल हैं।

हाँ, कम का परिणाम फल और फल का परिणाम कमरूप मे उदित अवश्य होता है और इस प्रकार कमचक्र अजस्र गति से चलता रहता है किंतु उपयुक्त पात्रता पाकर आत्मा इस गति को समाप्त कर देती है। सयम और तप से आत्मा को यह शक्ति प्राप्त होती है। कमचक्र की अटूट गति से यह नही समझना चाहिये कि प्रत्येक आत्मा के लिए उसका यह क्रम शाश्वत ही रहेगा। वस्तुत आत्मा कमचक्र मे ग्रस्त कैसे होती है, इस प्रसग का समझना इस सारे प्रसग को सुगम बना सकता है। राग, द्वेष, माया, लोभ, क्रोधादि आवेगो के कारण आत्मा कम के बधनो मे बद्ध हो जाती है। व्यक्ति चाहे तो अपनी आत्मा को इस बधन से मुक्त रख सकता है। उसे इन विकारो से ही बचना होगा। यह भी सत्य है कि एक बार आबद्ध हो जाने पर भी वह स्वय अपने प्रयास से मुक्त हो सकता है। ऐसे सकल्पधारियो के लिए भगवान् महावीर का यह सदेश परम सहायक सिद्ध हो सकता है कि "आत्मा का हित चाहने वाला पापकम बढ़ाने वाले क्रोध, मान माया, लोभ इन चार विकारो को छोड़ दे।"

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वे मूल कारण हैं जिनके परिणामस्वरूप कम अस्तित्व मे आते है। जब ये ही नष्ट कर दिये जाते हैं तो इनकी नींव पर अवस्थित कम अट्टालिका स्वत ही ध्वस्त हो जाती है। क्रोध को नष्ट करने के लिये क्षमा, मान को नष्ट करने के लिए कोमलता का व्यवहार प्रभावकारी रहता है। इसी प्रकार माया पर सादगी से और लोभ पर सतोष से विजय प्राप्त की जा सकती है।

वस्तुत भावकम मे द्रव्यकम और द्रव्यकम मे भावकम उदित होते रहते हैं। यही शृंखला अजस्रता के साथ चलती रहती है और परिणामत यह चक्र

अनुसार अशुभ से सीधे शुद्ध की प्राप्ति नहीं होती वरन् अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से भी पुण्य शुद्ध की प्राप्ति में सहायक होने से शुद्ध की प्राप्ति न होने तक उपादेय मानना उचित एव तर्कसगत है।

क्या पुण्य-पाप स्वतन्त्र तत्त्व हैं ?

'उत्तराध्ययन' सूत्र मे नव तत्त्वो (पदार्थों) का वर्णन है, उसमे पुण्य व पाप को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप मे प्ररूपित किया गया है।[1] किन्तु 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे उमास्वाति ने पुण्य-पाप को छोड जीव, अजीव, आस्रव, सवर, बन्ध और मोक्ष इन सातों को ही तत्त्व प्ररूपित किया है।[2] दिगम्बर जैन परम्परा मे ये सात तत्त्व ही माने गए हैं। किन्तु यह मत भेद विशेष महत्त्व का नहीं है। कारण जो परम्परा पुण्य-पाप को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानती है, वह उन्हें आस्रव के अन्तर्गत स्वीकारती है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से चिंतन करें तो पुण्य-पाप मात्र आस्रव (आत्मा मे कर्म आने का हेतु) ही नही वरन् उनका बन्ध भी होता है और विपाक (फल) भी होता है। अत आस्रव के मात्र दो विभाग-अशुभास्रव और शुभास्रव करने से उद्देश्य पूरा नही होता वरन् फिर आस्रव के बन्ध और विपाक के भी दो भेद शुभाशुभ के करने होंगे। इस वर्गीकरण और भेदाभेद की कठिनाई से बचने हेतु पुण्य-पाप को आगमो मे दो स्वतन्त्र तत्त्व प्ररूपित करना युक्ति एव तर्कसगत लगता है। अत पुण्य पाप को स्वतन्त्र तत्त्व ही मानना उचित है।

पुण्य-पाप बन्धन के कारण

कर्म सिद्धान्त के अनुसार बन्धन का मूल कारण आस्रव है। आस्रव शब्द क्लेश या मल का बोधक है। आत्मा मे क्लेश या मल ही कर्म वर्गणा के पुद्गलो को आत्मा के साथ जोडने मे हेतु होता है। इसी कारण से जैन परम्परा मे आस्रव का सामान्य अर्थ कर्म वर्गणाओं का आत्मा मे आना माना है। यह आस्रव भी दो प्रकार का है—(i) भावास्रव—आत्मा मे विकारी भावो का आना, (ii) द्रव्यास्रव—कर्म परमाणुओं का आत्मा मे आना। दोनो परस्पर कार्य कारण सम्बन्ध से जुडे हैं। वैसे मन, वचन एव काया की प्रवृत्तियाँ ही आस्रव हैं।[3] आस्रव का आगमन योग से तथा बन्ध मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय व प्रमाद से होता है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे आस्रव को दो प्रकार से इस प्रकार भी कहा है—

१—उत्तरा सू २८/१४।
२—तत्त्वार्थ सूत्र १/४।
३—तत्त्वार्थ सूत्र ६/१ २।

४	मोहनीय	—आत्मा की यथार्थ दृष्टि एवं सम्यग् आचरण (स्व स्वभाव प्रवर्तन) की शक्ति को कुण्ठित करता है। जैसे मदिरा सेवन व्यक्ति को बेभान कर देता है।	२८
५	आयुष्य	—आत्मा की अमरत्व शक्ति को कुण्ठित कर योनि एवं आयुष्य का निर्धारण करता है। जैसे कैदी और जेल का दृष्टान्त।	४
६	नाम	—आत्मा की अमूर्तित्व शक्ति को कुण्ठित करता है। यह व्यक्तित्व (शरीर रचना सुन्दर-असुन्दर) का निर्माण करता है। जैसे चित्रकार का दृष्टान्त।	१०३
७	गोत्र	—आत्मा की अगुरुलघु शक्ति को कुण्ठित करता है। यह प्राणी को ऊँचा-नीचा बनाता है। जाति, कुल, वंश आदि की अपेक्षा से। जैसे कुम्भकार विभिन्न प्रकार के कुम्भ बनाता है।	२
८	अंतराय	—आत्मा की अनन्त शक्ति को कुण्ठित करता है। यह उपलब्धि में बाधक बनता है। जैसे अधिकारी द्वारा भुगतान का आदेश देने पर भी रोकड़िया भुगतान में रोक लगा देता है।	५
		कुल प्रकृतियाँ	१५८

इस प्रकार आठ कर्मों की कुल १५८ अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें पुण्य एवं पाप की प्रकृतियों का विवरण नीचे दिया जाता है—

पुण्य प्रकृतियाँ—(१) वेदनीय की १ (साता वेदनीय), (२) आयुष्य ३ (नरकायु छोड़), (३) नाम ३७ [गति २ (देव, मनुष्य), पंचेन्द्रिय १, शरीर ५, अंगोपांग ३, वज्र ऋषभ संहनन १, सम चतुरस्र संस्थान १, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ४, आनुपूर्वी २ (देव, मनुष्य), अगुरु लघु १, पराघात १, उच्छ्वास १, आताप १, उद्योत १, शुभ विहायोगति १, निर्माण १, तीर्थंकर १, त्रसदशक १०] (४) गोत्र १ (ऊँच)। इस प्रकार कुल ४२ पुण्य प्रकृतियाँ (पुण्य भोगने की) मानी गई हैं।[1] किन्तु 'तत्त्वार्थ सूत्र' के अनुसार उक्त प्रकृतियों के अलावा कुछ मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ भी पुण्य प्रकृतियों में ली गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

1—नव तत्त्व से।

४	मोहनीय	—आत्मा की यथार्थ दृष्टि एवं सम्यग् आचरण (स्व स्वभाव प्रवर्तन) की शक्ति को कुण्ठित करता है। जैसे मदिरा सेवन व्यक्ति को बेभान कर देता है।	२८
५	आयुष्य	—आत्मा की अमरत्व शक्ति को कुण्ठित कर योनि एवं आयुष्य का निर्धारण करता है। जैसे कैदी और जेल का दृष्टान्त।	४
६	नाम	—आत्मा की अमूर्तित्व शक्ति को कुण्ठित करता है। यह व्यक्तित्व (शरीर रचना सुन्दर-असुन्दर) का निर्माण करता है। जैसे चित्रकार का दृष्टान्त।	१०३
७	गोत्र	—आत्मा की अगुरुलघु शक्ति को कुण्ठित करता है। यह प्राणी को ऊँचा-नीचा बनाता है। जाति, कुल, वंश आदि की अपेक्षा से। जैसे कुम्भकार विभिन्न प्रकार के कुम्भ बनाता है।	२
८	अंतराय	—आत्मा की अनन्त शक्ति को कुण्ठित करता है। यह उपलब्धि में बाधक बनता है। जैसे अधिकारी द्वारा भुगतान का आदेश देने पर भी रोकड़िया भुगतान में रोक लगा देता है।	५
		कुल प्रकृतियाँ	१५८

इस प्रकार आठ कर्मों की कुल १५८ अवान्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें पुण्य एवं पाप की प्रकृतियों का विवरण नीचे दिया जाता है—

पुण्य प्रकृतियाँ—(१) वेदनीय की १ (साता वेदनीय), (२) आयुष्य ३ (नरकायु छोड़), (३) नाम ३७ [गति २ (देव, मनुष्य), पंचेन्द्रिय १, शरीर ५, अंगोपांग ३, वज्र ऋषभ संहनन १, सम चतुरस्र संस्थान १, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श ४, आनुपूर्वी २ (देव, मनुष्य), अगुरु लघु १, पराघात १, उच्छ्वास १, आतप १, उद्योत १, शुभ विहायोगति १, निर्माण १, तीर्थंकर १, त्रसदशक १०] (४) गोत्र १ (ऊँच)। इस प्रकार कुल ४२ पुण्य प्रकृतियाँ (पुण्य भोगने की) मानी गई हैं।[1] किन्तु 'तत्त्वार्थ सूत्र' के अनुसार उक्त प्रकृतियों के अलावा कुछ मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ भी पुण्य प्रकृतियों में ली गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—नव तत्त्व से।

'सद्वेद्य सम्यक्त्व हास्यरति पुरुष वेद शुभायुर्नाम गोत्राणि पुण्यम्'[1] अर्थात् साता वेदनीय, समकित मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष वेद, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं, अन्य सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ बन्धने के हेतु

पुण्य प्रकृतियाँ नव प्रकार से बन्धती हैं, यथा—(१) अन्न पुण्य-अन्न दान करने से, (२) पान पुण्य—पानी या पीने की वस्तु देने से, (३) वस्त्र पुण्य-वस्त्र देने से, (४) लयन पुण्य-स्थान देने से, (५) शयन पुण्य-बिछौने के साधन देने से, (६) मन पुण्य-मन से शुभ भावना करने से, (७) वचन पुण्य-शुभ वचन बोलने से, (८) काया पुण्य-शरीर से शुभ कार्य करने से तथा (९) नमस्कार पुण्य—बड़ों व योग्य पात्रों को नमस्कार करने से।

पाप प्रकृतियाँ

कुल ८२ प्रकृतियाँ पाप भोगने की हैं, जो इस प्रकार हैं—[१] ज्ञानावरणीय ५ (समस्त), [२] दर्शनावरणीय ९ (समस्त), [३] वेदनीय १ (असाता), [४] मोहनीय २६ (समकित व मिश्र मोहनीय को छोड़), [५] आयुष्य १ (नरकायु) [६] नाम ३४ (५ संहनन+५ संस्थान+१० स्थावर दशक+२ नरक द्विक+२ तिर्यंच द्विक+४ चार इन्द्रिय (एकेन्द्रिय से चतुरेन्द्रिय)+४ अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श+१ उपघात+१ अशुभ विहायोगति), [७] गोत्र १ (नीच गोत्र), [८] अन्तराय ५ (समस्त)।

इस प्रकार से ८२ प्रकृतियाँ पाप पैदा करने की मानी गई हैं।[2] पुण्य की ४२ और पाप की ८२ दोनों मिलाकर १२४ प्रकृतियाँ होती हैं। शेष [illegible] प्रकृतियाँ बचती हैं। इसमें २ प्रकृति मोहनीय की (समकित मोहनीय व मिश्र मोहनीय) व ३२ प्रकृतियाँ नाम कर्म की (बन्धन नाम १५, ५ शरीर संघात, [illegible] वर्ण, [illegible] रस, [illegible] स्पर्श) सम्मिलित नहीं की गई हैं। दर्शन मोहनीय तीन (समकित मिश्र व मिथ्यात्व मोहनीय) का बन्ध एक होने से इसमें से दो प्रकृतियाँ छोड़ दी गई हैं तथा नाम कर्म की शेष ३२ प्रकृतियाँ शुभाशुभ उभयरूप मानी गई हैं जिससे इन्हें पुण्य-पाप प्रकृतियों में नहीं लिया गया है।

पुण्य-पाप प्रकृतियों पर चिन्तन करने से स्पष्ट होता है कि तिर्यंच की आयु को पुण्य प्रकृति में लिया है परन्तु तिर्यंच गति व तिर्यंचानुपूर्वी को पाप प्रकृतियों में। ऐसा क्यों? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तिर्यंच भी मरना नहीं चाहते। किसी का कीड़ा भी मरना नहीं चाहता। इस अपेक्षा तिर्यंच आयु को पुण्य प्रकृति माना गया है। यह इसी का प्रमाण है।

१—तत्त्वार्थ सूत्र ८-२६।

२—[illegible]

पाप प्रकृति बांधने के हेतु

पाप प्रकृतियाँ १८ प्रकार से बन्धती हैं। इन्हें अठारह पाप भी कहते हैं जो इस प्रकार हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (झूठा कलंक लगाना) (१४) पैशुन्य (चुगली), (१५) पर परिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) माया मृषावाद, (१८) मिथ्या दर्शन शल्य।

पुण्य-पाप के कुछ विशिष्ट कर्मबंध व उनके फल

यह भलीभांति समझने हेतु कि पुण्य-पाप के विविध कर्मों के कैसे परिणाम होते हैं, यहां कुछ विशिष्ट उदाहरण जो ग्रंथों मे मिलते हैं, दिये जाते हैं।

(अ) शुभ (सुखदायक) कर्म व उनके फल

(i) परोपकार या गुप्त दान से अनायास लक्ष्मी मिलती है।

(ii) सुविधा दान से मेधावी होता है।

(iii) रोगी, वृद्ध, ग्लान आदि की सेवा से शरीर निरोगी व स्वस्थ मिलता है।

(iv) देव, गुरु धर्म की विशिष्ट भक्ति से तीर्थंकर गोत्र का बंध होता है।

(v) जीव दया से सुख-सामग्री मिलती है।

(vi) वीतराग संयम से मोक्ष मिलता है जबकि सराग संयम देव गति का कारण होता है।

(ब) अशुभ (दु:खदायक) कर्म व उनके फल

(i) हरे वृक्षों के काटने-कटाने से व पशुओं के वध से संतान नहीं होती है।

(ii) गर्भ गलाने से या गिराने से बांझपना प्राप्त होता है।

(iii) कंद मूल या कच्चे फलों को तोड़े या तुड़ावे तथा उनमें खुशी मनाते गावे तो गर्भ मे ही मृत्यु का प्राप्त होता है या अल्पायुष्य वाला होता है।

(iv) मधु मक्खियों के छत्ते जलाने या तुड़ाने से या देव, गुरु की निन्दा से प्राणी अंधे, बहरे व गूंगे होते हैं।

(v) पर स्त्री पुरुष सेवन से पेट मे पथरी जमती है।

क्षुद्र होगा और दिए चनों से मछलियाँ मारेगा। अत वह इस पाप का भागीदार नही हो सकता। दाता के भावों में और क्रिया मे इस पाप की आंशिक कल्पना तब भी नही थी। अत वह सेठ सर्वथा निर्दोष है। जब माचिस विक्रेता से कोई माचिस खरीद कर घर जलावे तो वह विक्रेता उसके लिए अपराधी नही माना जाता, तब शुभ भाव से विवेकपूर्वक दिए हुए अनुकम्पा दान के दुरुपयोग का पाप दानदाता को किस प्रकार लग सकता है?

एक प्रबुद्ध वर्ग यह भी कथन करता है कि जिस तरह पाप से भौतिक हानि होती है वैसे ही पुण्य से भौतिक लाभ ही होता है, आत्मिक लाभ तो कुछ नहीं होता फिर पुण्य कर्म क्यो किए जावें? इसका उत्तर यह है कि वस्तुत पुण्य से आत्मिक लाभ कुछ नहीं होता हो, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। वस्तुतः पुण्य से जहाँ भौतिक लाभ होते हैं वहाँ आत्मिक लाभ भी। जैसे मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, धर्म श्रवण, धर्म प्राप्ति आदि सब पुण्य से ही होते हैं। बिना मनुष्य भव के जीव धर्म साधना ही नहीं कर सकता। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियादि दशाओं में तो जीव धर्म का स्वरूप ही नही समझ सकता। जीव को पुण्य के निमित्त से उत्तम साधन मिलने पर ही वह धर्म साधना मे गति करता है। माता मरुदेवी, जयती राजर्षि, परदेशी राजा, भृगुपुत्र आदि मिथ्यात्वी थे। उन्हें पुण्य के फलस्वरूप ही धर्म के उत्तम निमित्त मिले और वे धर्मात्मा बने। अनादि मिथ्यादृष्टि को जब प्रथम बार सम्यक्त्व लाभ होता है तब उसे उपशम भाव के साथ पुण्योदय की अनुकूलता रहना आवश्यक होती है, इसी निमित्त से उसके दर्शन मोहनीय का पर्दा हटता है। पुण्य क्रिया के साथ यदि वासना का विष न हो, तो उससे आत्मिक लाभ होता है और पुण्यानुबंधी पुण्य तो नियमत आत्मिक लाभ पूर्वक होता है।

अन्त में सभी आत्मार्थियो से निवेदन है कि पुण्य-पाप का यथार्थ स्वरूप जैसा सर्वज्ञ वीतराग भगवन्तो ने प्ररूपित किया है, उस पर कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे जानकारी के अनुसार यत्किंचित् प्रकाश डालने का इस लेख में प्रयास किया है। इसमें कुछ अन्यथा लिखने मे आया हो तो कृपा कर सूचित करावें जिससे भूल सुधार हो सके।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार पुण्य-पाप की अवधारणाओ को उनकी हेय, ज्ञेय एवं उपादेयता की वस्तुस्थितियो को ध्यान में लाकर उनसे हम अपने जीवन और समाज को लाभान्वित करें। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर अग्रसर होवें, बस यही हार्दिक सद्भावना है।

• □ •

भक्त के लिए आनुषंगिक और अनिवार्य उपलब्धि है—उसके लिए वह ज्ञान-मार्गियों की तरह श्रम नहीं करता। वह तो सर्वात्मना आराध्य के प्रति समर्पित हो जाता है और आराध्य कृपा करके वह स्वयं उसे उपलब्ध हो जाता है। वह मानता है कि जिसे माना है उसी में अपने को डुबो दो, लीन कर दो—समर्पित कर दो। उसे साधन से नहीं पाया जा सकता, हाँ वह स्वयं ही साधन बन जाय और अपने को उपलब्ध करा दे—यह संभव है। भक्ति वह तत्त्व है जो की नहीं जाती 'जेहि प बनि आवै'—हो जाती है—जिससे बन गई, बन गई अन्यथा प्रयत्न करते रहो—निष्फल। गज-राज सुरसरि की विपरीत धार में बह जाता है—लाख प्रयत्न के बावजूद—जबकि मछली निष्प्रयास तर जाती है। ज्ञान से 'स्वरूप का बोध हो जाता है भक्ति से स्वरूप' बोध के बाद कल्पित भेद की भूमि पर रस क्रीडा चलती रहती है। भक्ति कर्म नहीं है, भाव है, जो स्वरूप साक्षात्कार के अनन्तर अमर होती है। जब तक स्वरूप साक्षात्कार नहीं है, तब तक अविद्या का साम्राज्य है। अविद्या से अहंकार का प्रादुर्भाव होता है और 'अहंकार विमूढात्माकर्ताऽहमिति मन्यते'—अहंकार ग्रस्त व्यक्ति स्वयं को कर्ता मानता है यह अविद्या-जनित-अहंकार-मूलक-कर्तृत्व बोध जब तक रहेगा, तब तक जो कुछ भी होगा—वह कर्तृत्व सापेक्ष होने से 'कर्म' ही कहा जायगा—भक्ति' नहीं। फलत वास्तविक भाव राज्य का उदय अविद्या निवृत्ति एवं स्वरूप-साक्षात्कार के बाद होता है। यही 'भाव' प्रगाढ़ होकर 'प्रेम' बनता है—'भाव स एव सान्द्रात्मा बुध प्रेमा निगद्यते'—

यह सब कुछ चित्त की एकतानता में संभव है—जो तब तक संभव नहीं है जब तक मलात्मक आवरण जीर्ण न हो। मलशान्ति के निमित्त निष्काम भाव से कर्म का सम्पादन अपेक्षित है।

बात यह है कि 'कर्म' का त्याग तो सर्वात्मना संभव है नहीं। जहाँ मरना, जीना, सांस लेना और छोडना भी 'कर्म' है—वहां कर्म का स्वरूपत त्याग तो संभव नहीं। सच्चा कर्मत्याग फलासक्ति का त्याग है। कर्म रूपी बिच्छू का डंक है—आसक्ति। इसी के कारण आवरणों का होना संभव होता है। फलत इसी आसक्ति का त्याग होने से कर्म अकर्म हो जाते हैं—उनसे आवरणों का आना बंद हो जाता है—शेष को ज्ञानाग्नि भस्मसात् कर देती है। अनासक्त कर्म बंधक नहीं, मुक्ति का साधन बन जाता है—कर्म योग बन जाता है।

गीताकार ने सवाल खड़ा किया कि स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद कर्म छोड़ देना चाहिये या करना चाहिए? भगवान् कृष्ण ने सिद्धान्त रूप में कहा कि लोक संग्रह के लिए स्वरूपोपलब्धि के बाद भी कर्म करना चाहिए। इस प्रकार स्वरूप साक्षात्कार से पूर्व मलापहार के निमित्त अनासक्त भाव से और स्वरूप साक्षात्कार के बाद लोक संग्रह के निमित्त कर्म करते रहना चाहिए।

संक्षेप में यही ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग और कर्मयोग का आशय है। □

(४) पृष्ठ (कर्म करने के उपरान्त शेष कम) ।

कम करने की ये चार क्रमिक स्थितियाँ हैं । इसी तरह कर्म के अन्य प्रकार से भी भेद किये गये हैं—

(१) विज्ञप्ति कम (काय-वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति)

(२) अविज्ञप्ति कम (विज्ञप्ति से उत्पन्न कुशल-अकुशल कम)

'विसुद्धिमग्ग' में कम को अरूपी कहा गया है पर 'अभिधमकोश' मे उसे अविज्ञप्ति अर्थात् रूपी व अप्रतिघ माना गया है । सौत्रान्तिक दशन कम को अरूपी मानकर जैन दशन के समान उसे सूक्ष्म मानता है । बौद्ध दशन मे कम को मानसिक, वाचिक और कायिक मानकर उसे विज्ञप्ति रूप कहा है । उन्हे 'सस्कार' भी कहा जाता है । वे वासना और अविज्ञप्ति रूप भी हैं । मानसिक सस्कार कम 'वासना' कहलाता है और वाचिक तथा कायिक सस्कार कर्म 'अविज्ञप्ति' माना जाता है । ये दोनो विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कम भावों के अनुसार शुभ और अशुभ दोनो प्रकार क होते हैं । जनधम के द्रव्यकम और भावकर्म की तुलना किसी सीमा तक इनसे की जा सकती है । वासना और अविज्ञप्ति कम जैनधर्म का द्रव्यकम (कार्माण शरीर) और सस्कार तथा विज्ञप्ति कम जैनधर्म का भावकर्म माना जा सकता है । विज्ञप्तिवादी बौद्धधम का वासना के रूप मे स्वीकार करते हैं । प्रज्ञाकर गुप्त के अनुसार सारे काय वासनाजन्य होते हैं । शून्यवादी बौद्धदशन म वासना का स्थान माया या अविद्या को दिया गया है ।

जैनधम के समान बौद्धधम मे भी चेतनाकम को मुख्यकम माना गया है । उसे चित्त सहगत धम कहा है । मानसिक धम उसकी अपर सत्ता है । यह चेतना चित्त को आकार विशेष प्रदान करती है और प्रतिसधि (जन्म) मे योग्य बनाती है । चेतना क कारण ही शुभाशुभ कम होते हैं और तदनुसार ही उसका फल होता है । यह मनसिकार दो प्रकार का है—

(१) योनिशो मनसिकार (अनित्य का अनित्य तथा अनात्मा को अनात्म मानना)

(२) अयोनिशो मनसिकार (अनित्य को नित्य तथा नित्य का अनित्य मानना ।

इनमें प्रथम सम्यक्त्व और द्वितीय मिथ्यात्व कम है जनधम की परिभाषा में । मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म को यहाँ 'योग' की सज्ञा दी गई है ।

दु ख, शोक, ताप, ग्राक्रन्दन, वध, परिदेवन आदि कम असाता वेदनीय कम हैं। कृत्य सग्रह मे निर्दिष्ट प्रतिसधि, भवग आवजन, दर्शन, श्रवण घ्राण, आस्वादन, स्पर्श, मवरिच्छन ग्रादि सभी चित्त चैतसिक के काय हैं। इह जैनधम के शब्दा मे कमयुक्त ग्रात्मा के पस्पिन्द कह सकते हैं।

बौद्धधर्म में कम के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं। भूमिचतुष्क ग्रौर प्रतिसधि चतुष्क का सबध जीव ग्रथवा चित्त क परिणामो पर ग्राधारित ग्रग्रिम गतियो मे जन्म लेने से है। कुशल ग्रकुशल चेतना के आधार पर बौद्धधम मे जनककम, उपष्टम्भक कम (मरणान्तकाल मे भावों क अनुसार गति प्राप्तिक), उपपीडक कम (कम विपाक को गहरा करने वाला) तथा उपघातक कम (कमफल को समूल नष्ट करने वाला) ये चार भेद किये गये हैं। ये भेद वस्तुत कर्म की तरतमता पर आधारित हैं। किसी विषय विशेष से इनका सबध नही है। पाकदान पर्याय की दृष्टि से गरुक, आसन्न आदि चतुष्क कम समय पर ग्राधारित हैं। विपाक चतुष्क कम भी चार हैं—दृष्टधमवेदनीय उपपद्यवेदनीय, ग्रपरपर्यायवेदनीय ग्रौर ग्रहोसिकम। इन्हें हम प्रकृतिबध, स्थितिबध और अनुभागबध के साथ तुलना कर सकते हैं। जैनधम मे वर्णित प्रदेशबध जैसा विषय बौद्धधम मे दिखाई नही देता।

जैन-बौद्धधर्म मे अकुशल कर्मों मे मोह ग्रौर तज्जन्य मिथ्यादृष्टि का स्थान प्रमुख है। मिथ्यादृष्टि को ही दूसरे शब्दो मे 'शीलव्रत परामर्श' कहा गया है। जनधम इसी को 'मिथ्यात्व' सज्ञा देता है। सबसे बडा ग्रतर यह है कि जैन धम ग्रात्मवादी धम है जबकि बौद्धधम ग्रनात्मवादी धम है। बौद्धधर्म ग्रात्मवाद को मिथ्यात्व कहता है जबकि जैनधम ग्रात्मवाद को। इसके बावजूद ग्रन्त में चलकर दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

जैनधर्म और बौद्धधम दोनो पूर्णत कमवादी धम हैं इसलिए दोनो धर्मों और उनके दार्शनिको न कम की सयुक्तिक और गभीर विवेचना की है। दोनों का कमसाहित्य भी काफी समृद्ध है। प्रस्तुत लघु निबध म इतने विस्तृत विषय को समाहित नही किया जा सकता है। यह तो एक महाप्रबध का विषय है। ग्रत यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेय रहा है कि दोना धर्मों के पारिभाषिक शब्दो का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो हम पायेंगे कि उनके चिन्तन का विषय तो एक है पर शैली ग्रौर भाषा भिन्न है।

•□•

कम	पाश्चात्य आचार दर्शन	जैन	वौद्ध	गीता
१	शुद्ध अतिनैतिक कम	इर्यापथिक कम	अव्यक्त कम	अकम
२	शुभ नैतिक कम	पुण्य कम	कुशल (शुक्ल) कम	कम (कुशल कर्म)
३	अशुभ अनैतिक कम	पाप कर्म	अकुशल (कृष्ण) कम	विकम

आध्यात्मिक या नैतिक पूर्णता के लिए हमे क्रमश अशुभ कर्मों से शुभ कर्मों की ओर, शुभ कर्मों से शुद्ध कर्मों की ओर बढना होगा। आगे हम इसी क्रम से उन पर थोडी अधिक गहराई से विवेचन करेंगे।

अशुभ या पाप कम

जैन आचार्यों ने पाप की यह परिभाषा दी है कि वैयक्तिक सन्दर्भ मे जो आत्मा को बधन मे डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्म शक्तियो का क्षय करे वह पाप है।[1] सामाजिक सन्दभ मे जो परपीडा या दूसरो के दु ख का कारण हो वह पाप है (पापाय परपीडन) वस्तुत जिस विचार एव आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट प्राप्ति हो वह पाप है। नैतिक जीवन की दृष्टि से वे सभी कम जो स्वाथ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किए जाते हैं पाप कम हैं। मात्र इतना ही नही सभी प्रकार का दुविचार और दुर्भावनाएँ भी पाप कम हैं।

पाप या अकुशल कर्मों का वर्गीकरण

जैन दाशनिकों के अनुसार पाप कम १८ प्रकार के हैं —१ प्राणातिपात-हिंसा, २ मृषावाद–असत्य भाषण, ३ अदत्तादान–चौर्य कम, ४ मथुन–काम विकार या सैगिक प्रवृत्ति, ५ परिग्रह–ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या सचय वृत्ति, ६ क्रोध–गुस्सा, ७ मान–अहकार, ८ माया–कपट, छल, षडयन्त्र और कूटनीति, ६ लोभ–सचय या सग्रह की वृत्ति, १० राग–आसक्ति, ११ द्वेष–घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि, १२ क्लेश–कलह, कलह, लडाई, झगडा आदि, १३ अभ्याख्यान–दोषारोपण, १४ पिशुनता–चुगली, १५ परपरिवाद–परनिन्दा १६ रति अरति–हर्ष और शोक, १७ माया मृषा–कपट सहित असत्य भाषण, १८ मिथ्यादर्शनशल्य–अयथाथ श्रद्धा या जीवन दृष्टि।[2]

१—अभि० रा० खण्ड ५ पृष्ठ ८७६।

जैन और बौद्ध विचारणा मे पुण्य के स्वरूप को लेकर विशेष अन्तर यह है। जैन विचारणा मे संवर, निर्जरा और पुण्य मे अन्तर किया गया है। जबकि बौद्ध विचारणा मे ऐसा स्पष्ट अन्तर नही है। जैनाचार दर्शन मे सम्यक् दर्शन, (श्रद्धा) सम्यक् ज्ञान, (प्रज्ञा) और सम्यक् चारित्र (शील) को संवर और निर्जरा के अन्तर्गत माना गया है। जबकि बौद्ध आचार दर्शन मे धर्म, संघ और बुद्ध के प्रति दृढ श्रद्धा, शील और प्रज्ञा को भी पुण्य (कुशल कर्म) के अन्तर्गत माना गया है।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते हैं। (१) कर्म का बाह्य स्वरूप तथा समाज पर उसका प्रभाव, (२) दूसरा कर्ता का अभिप्राय। इन दोनो मे कौन सा आधार यथार्थ है यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन मे कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यो की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है जिसमे कर्तृत्व भाव नही है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह इन सब लोगो को मार भी डाले तथापि यह समझना चाहिए कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन मे आता है।[1] धम्मपद मे बुद्ध वचन भी ऐसा ही है। नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओ को एवं प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जीता है।[2] बौद्ध दर्शन मे कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतांग सूत्र के आर्द्रक बौद्ध सम्वाद मे भी मिलता है।[3] जहाँ तक जैन मान्यता का प्रश्न है विद्वानो के अनुसार उसमे भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं—शुभ-अशुभ कर्म के बंध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही हैं। एक डॉक्टर किसी को पीड़ा पहुँचाने के लिए उसका व्रण चीरता है, उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए परन्तु डॉक्टर तो पाप कर्म के बन्ध का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डॉक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है तो भी डॉक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।[4] प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी भी यही कहते हैं—पुण्य बन्ध और पाप बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नही है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[5]

१—गीता १८/१७।

२—धम्मपद २४९।

३—सूत्रकृतांग २/६/२७-४२।

४—जैन धर्म, पृष्ठ १६०।

पाश्चात्य आचार दर्शन में भी सुखवादी विचारक कर्म की फलश्रुति के आधार पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करते हैं जबकि मार्टिन्यू कर्म प्रेरक पर उनकी शुभाशुभता का निश्चय करता है। जैन विचारणा के अनुसार इन दोनो पाश्चात्य विचारणाओ में अपूर्ण सत्य रहा हुआ है। एक का आधार लोक दृष्टि या समाज दृष्टि है। दूसरी का आधार परमार्थ दृष्टि या शुद्ध दृष्टि है। एक व्यावहारिक सत्य है और दूसरा पारमार्थिक सत्य। नैतिकता व्यवहार से परमार्थ की ओर प्रयाण है अत उसमे दोनो का ही मूल्य है। कर्म के शुभाशुभत्व के निर्णय की दृष्टि से कर्म के हेतु और परिणाम के प्रश्न पर गहराई से विवेचन जन विचारणा मे किया गया है।

चाहे हम कर्ता के अभिप्राय को शुभाशुभता के निर्णय का आधार मानें, या कर्म के समाज पर होने वाले परिणाम को। दोनो ही स्थितियो मे किस प्रकार का कर्म पुण्य कर्म या उचित कर्म कहा जावेगा और किस प्रकार का कर्म पाप कर्म या अनुचित कर्म कहा जावेगा यह विचार आवश्यक प्रतीत होता है। सामान्यतया भारतीय चिन्तन मे पुण्य पाप की विचारणा के सन्दर्भ मे सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। जहाँ कर्म-अकर्म का विचार व्यक्ति सापेक्ष है, वहाँ पुण्य-पाप का विचार समाज सापेक्ष है। जब हम कर्म, अकर्म या कर्म के बन्धनत्व का विचार करते हैं तो वैयक्तिक कर्म प्रेरक या वैयक्तिक चेतना की विशुद्धता (वीतरागता) ही हमारे निर्णय का आधार बनती है लेकिन जब हम पुण्य-पाप का विचार करते हैं तो समाज कल्याण या लोकहित ही हमारे निर्णय का आधार होता है। वस्तुत भारतीय चिन्तन मे जीवनादर्श तो शुभाशुभत्व की सीमा से ऊपर उठना है उस सन्दर्भ में वीतराग या अनासक्त जीवन दृष्टि का निर्माण ही व्यक्ति का परम साध्य माना गया है और वही कर्म के बन्धकत्व या अबन्धकत्व का प्रमापक है। लेकिन जहाँ तक शुभ अशुभ का सम्बन्ध है उसमे 'राग' या आसक्ति का तत्व तो रहा हुआ है। शुभ और अशुभ दोनो ही राग या आसक्ति तो होती ही है अन्यथा राग के अभाव म कर्म शुभाशुभ से ऊपर उठकर अतिनतिक होगा। यहाँ प्रमुखता राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति की नही वरन् उसकी प्रशस्तता या अप्रशस्तता की है। प्रशस्त राग शुभ या पुण्य बन्ध का कारण माना गया है और अप्रशस्त राग अशुभ या पाप बन्ध का कारण है। राग की प्रशस्तता उसमे द्वेष के तत्व की कमी के आधार पर निर्भर होती है। यद्यपि राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं तथापि जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अल्प और कम तीव्र होगी वह राग उतना प्रशस्त होगा और जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा और तीव्रता जितनी अधिक होगी वह उतना ही अप्रशस्त होगा।

द्वेष विहीन विशुद्ध राग या प्रशस्त राग ही प्रेम कहा जाता है। उस प्रेम

जैन दृष्टिकोण

जैन दर्शन के अनुसार जिसकी संसार के सभी प्राणियो के प्रति आत्मवत दृष्टि है वही नैतिक कर्मों का स्रष्टा है।[1] दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है समस्त प्राणियो को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है वह पाप कर्म का बंध नही करता है।[2] सूत्रकृताग मे धर्माधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय मे अपने समान दूसरे को समझना यही दृष्टिकोण स्वीकार किया गया है।[3] सभी को जीवित रहने की इच्छा है, कोई भी मरना नही चाहता सभी को प्राण प्रिय है, सुख शान्तिप्रद है और दुःख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है जिसके द्वारा किसी भी प्राण का हनन नहीं हो।[4]

बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण

बौद्ध विचारणा मे भी सर्वत्र आत्मवत दृष्टि को ही धर्म के शुभत्व का आधार माना गया है। सुत्तनिपात मे बुद्ध कहते हैं—जैसा मैं हूँ वैसे ही ये दूसरे प्राणी भी हैं और जैसे ये दूसरे प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार सभी को अपने समान समझकर, किसी की हिंसा या घात नहीं करना चाहिए।[5] धम्मपद मे भी बुद्ध ने यही कहा है कि—सभी प्राणी दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, सबको जीवन प्रिय है अत सबको अपने समान समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करें। सुख चाहने वाले प्राणियो को, अपने सुख की चाह से जो दुःख देता है वह मरकर सुख नही पाता। लेकिन जो सुख चाहने वाले प्राणियो को, अपने सुख की चाह से दुःख नही देता वह मरकर सुख को प्राप्त होता है।[6]

गीता एवं महाभारत का दृष्टिकोण

मनुस्मृति, महाभारत और गीता मे भी हमें इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है। गीता में कहा गया है कि जो सुख और दुःख सभी में दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मवत दृष्टि रखकर व्यवहार करता है वही परमयोगी है।[7] महाभारत में अनेक स्थानो पर इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें मिलता है।

१—अनुयोगद्वार सूत्र १२९।

२—दशवै० ४/६।

३—सूत्रकृताग २/२/४ पृष्ठ १०४।

४—दशवै० ६/११।

५—सुत्तनिपात ३७/२७।

६—धम्मपद १२९-१३१-१३३।

७—गीता ६/३२।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण मार्ग के साधन के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है क्योंकि दोनों ही बन्धन का कारण हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य पाप से ऊपर उठ जाने में है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है नैतिक पूर्णता नहीं आती है। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा में स्थित हो जाता है।

जैन दृष्टिकोण

ऋषिभाषित सूत्र में ऋषि कहता है पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार-संतति के मूल हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हुए भी दोनों के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार ग्रन्थ में वे कहते हैं अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं। फिर भी पुण्य कर्म भी संसार (बन्धन) का कारण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेडी भी लोह बेडी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है। उसी प्रकार जीव कृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन का कारण होते हैं।[2] आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधीनता में बाधक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्य स्वर्ण बेडी है और पाप लोह बेडी। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण बेडी कहकर उसकी पाप से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से पुण्य और पाप दोनों में भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों ही बन्धन हैं।[3] इसी प्रकार प० जयचन्द्रजी ने भी कहा है—

> "पुण्य पाप दोऊ करम, बंधरूप दुइ मानि।
> शुद्ध आतमा जिन लह्यो, वदू चरन हित जानि ॥[4]

अनेक जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण के लक्ष्य, दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्व स्वीकार किया है। यद्यपि निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को छोडना होता है फिर भी वह निर्वाण में ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन, वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना जिस प्रकार अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है। उसे भी क्षय करना होता है। लेकिन जिस प्रकार साबुन मैल को साफ करता है और मल की सफाई होने पर स्वयं अलग हो जाता है—

१—ऋषि० ९/२।
२—समयसार १४५-१४६।
३—प्रवचनसार टीका १/७२।
४—समयसार टीका पृष्ठ २०७।

उसमे कहा गया है कि जो जैसा अपने लिए चाहता है वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे ।[1] त्याग-दान-सुख-दुःख, प्रिय अप्रिय सभी मे दूसरे को अपनी आत्मा के समान मान कर व्यवहार करना चाहिए ।[2] जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों के प्रति अपने समान व्यवहार करता है वही स्वर्ग के सुखो को प्राप्त करता है ।[3] जो व्यवहार स्वय को प्रिय लगता है वैसा ही व्यवहार दूसरो के प्रति किया जाए । हे युधिष्ठर धर्म और अधर्म को पहिचान का यही लक्षण है ।[4]

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य दर्शन मे भी सामाजिक जीवन में दूसरो के प्रति व्यवहार करने का यही दृष्टिकोण स्वीकृत है कि जैसा व्यवहार तुम अपने लिए चाहते हो वैसा ही दूसरे के लिए करो । काट ने भी कहा है कि केवल उसी नियम के अनुसार काम करो जिसे तुम एक सार्वभौम नियम बन जाने की इच्छा कर सकते हो। मानवता चाहे वह तुम्हारे अन्दर हो या किसी अन्य मे सदैव से साध्य बनी रहे, साधन कभी न हो ।[5] काट का इस वचन का आशय भी यही निकलता है कि नैतिक जीवन के सदर्भ मे सभी को समान मानकर व्यवहार करना चाहिए ।

शुभ और अशुभ से शुद्ध की ओर

जैन विचारणा म शुभ एव अशुभ अथवा मगल-अमगल की वास्तविकता स्वीकार की गई है । उत्तराध्ययन सूत्र मे नव तत्त्व माने गये हैं जिसमे पुण्य और पाप को स्वतत्र तत्त्व के रूप मे गिना गया ।[6] जबकि तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष इन सातो को ही तत्त्व कहा है । वहाँ पर पुण्य और पाप का स्वतत्र तत्त्व के रूप में स्थान नहीं है ।[7] लेकिन यह विवाद अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत नही होता क्योंकि जो परम्परा उन्हें स्वतत्र तत्त्व नहीं मानती है वह भी उनको आस्रव व बध तत्त्व के अन्तर्गत तो मान लेती है । यद्यपि पुण्य और पाप मात्र आस्रव नहीं हैं वरन् उनका बध भी होता है और विपाक भी होता है। अत आस्रव के दो विभाग शुभास्रव और अशुभास्रव करने मे काम पूर्ण नहीं होता वरन् बन्ध और विपाक में भी दो-दो भेद करने होंगे । इस वर्गीकरण की कठिनाई से बचने के लिए ही पाप एव पुण्य को दो स्वतत्र तत्त्व के रूप मे मान लिया है ।

१—म० भा० शा० २५८/२१ ।
२ ३—म० भा० अनु० ११३/६ १० ।
४—म० भा० सुभाषित सग्रह से उद्धृत ।
५—नीति शास्त्र पृष्ठ २६८ से उद्धृत ।
६—उत्तरा० २८/१४ ।
७—तत्त्वार्थ० १/४ ।

फिर भी जैन विचारणा निर्वाण मार्ग के साधन के लिए दोनों को हेय और त्याज्य मानती है क्योंकि दोनों ही बन्धन का कारण हैं। वस्तुत नैतिक जीवन की पूर्णता शुभाशुभ या पुण्य पाप से ऊपर उठ जाने मे है। शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) का भेद जब तक बना रहता है नैतिक पूर्णता नही आती है। अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही व्यक्ति शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध दशा मे स्थित हो जाता है।

जैन दृष्टिकोण

ऋषिभासित सूत्र में ऋषि कहता है पूर्वकृत पुण्य और पाप संसार-संतति के मूल हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द पुण्य पाप दोनों को बन्धन का कारण मानते हुए भी दोनो के बन्धकत्व का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं। समयसार ग्रन्थ में वे कहते हैं अशुभ कर्म पाप (कुशील) और शुभ कर्म पुण्य (सुशील) कहे जाते हैं। फिर भी पुण्य कर्म भी संसार (बन्धन) का कारण होता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेडी भी लोह बेडी के समान ही व्यक्ति को बन्धन में रखती है। उसी प्रकार जीव कृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन का कारण होते हैं।[2] आचार्य दोनों को ही आत्मा की स्वाधीनता में बाधक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुण्य स्वर्ण बेडी है और पाप लोह बेडी। फिर भी आचार्य पुण्य को स्वर्ण बेडी कहकर उसकी पाप से किंचित श्रेष्ठता सिद्ध कर देते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से पुण्य और पाप दोनों में भेद नही किया जा सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनो ही बन्धन हैं।[3] इसी प्रकार प० जयचन्द्रजी ने भी कहा है—

> "पुण्य पाप दोऊ करम, बंधरूप दुइ मानि।
> शुद्ध आतमा जिन लह्यो, वदू चरन हित जानि ॥[4]

अनेक जैनाचार्यों ने पुण्य को निर्वाण के लक्ष्य, दृष्टि से हेय मानते हुए भी उसे निर्वाण का सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। यद्यपि निर्वाण की स्थिति को प्राप्त करने के लिए अन्ततोगत्वा पुण्य को छोडना होता है फिर भी वह निर्वाण मे ठीक उसी प्रकार सहायक है जैसे साबुन, वस्त्र के मैल को साफ करने में सहायक है। शुद्ध वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना जिस प्रकार अनावश्यक है उसे भी अलग करना होता है, वैसे ही निर्वाण या शुद्धात्म दशा में पुण्य का होना भी अनावश्यक है। उसे भी क्षय करना होता है। लेकिन जिस प्रकार साबुन मैल को साफ करता है और मल की सफाई होने पर स्वयं अलग हो जाता है—

१—ऋषि० ६/२।
२—समयसार १४५–१४६।
३—प्रवचनसार टीका १/७२।
४—समयसार टीका पृष्ठ २०३।

नैतिकता हमें उससे परे ले जाती है।[1] नैतिक जीवन के क्षेत्र में शुभ और अशुभ का विरोध बना रहता है लेकिन आत्म पूर्णता की अवस्था में यह विरोध नहीं रहना चाहिए। अतः पूर्ण आत्म-साक्षात्कार के लिए हमें नैतिकता के क्षेत्र (शुभाशुभ के क्षेत्र) से ऊपर उठना होगा। ब्रेडले ने नैतिकता के क्षेत्र से ऊपर धर्म (आध्यात्म) का क्षेत्र माना है। उसके अनुसार नैतिकता का अन्त धर्म में होता है। जहाँ व्यक्ति शुभाशुभ के द्वन्द्व से ऊपर उठकर ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वे लिखते हैं कि अन्त में हम ऐसे स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ पर क्रिया एवं प्रक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहाँ से ही आरम्भ होती है। यहाँ पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य में चरम अवस्था में फलित होती है और सर्वत्र हम उस अमर प्रेम को देखते हैं, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमें विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।[2]

ब्रेडले ने जो भेद नैतिकता और धर्म में किया वैसा ही भेद भारतीय दर्शनों ने व्यावहारिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता में किया है। व्यावहारिक नैतिकता का क्षेत्र शुभाशुभ का क्षेत्र है। यहाँ आचरण की दृष्टि समाज सापेक्ष होती है और लोक मंगल ही उसका साध्य होता है। पारमार्थिक नैतिकता का क्षेत्र शुद्ध चेतना (अनासक्त या वीतराग जीवन दृष्टि) का है, यह व्यक्ति सापेक्ष है। व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति की ओर ले जाना ही इसका अन्तिम साध्य है।

शुद्ध कर्म (अकर्म)

शुद्ध कर्म का तात्पर्य उस जीवन व्यवहार से है जिसमें क्रियाएँ राग-द्वेष से रहित होती हैं तथा जो आत्मा को बन्धन में नहीं डालता है। अबन्धक कर्म ही शुद्ध कर्म है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन इस प्रश्न पर गहराई से विचार करते हैं कि आचरण (क्रिया) एवं बन्धन के मध्य क्या सम्बन्ध है? क्या कर्मणा बध्यते जन्तु की उक्ति सर्वांश सत्य है? जैन, बौद्ध एवं गीता की विचारणा में यह उक्ति कि कर्म से प्राणी बन्धन में आता है सर्वांश में निरपेक्ष सत्य नहीं है। प्रथमतः कर्म या क्रिया के सभी रूप बन्धन की दृष्टि से समान नहीं हैं फिर यह भी सम्भव है कि आचरण एवं क्रिया के होते हुए भी कोई बन्धन नहीं हो। लेकिन यह निर्णय कर पाना कि बन्धक कर्म क्या है और अबन्धक कर्म क्या है, अत्यन्त ही कठिन है। गीता कहती है कर्म (बन्धक कर्म) क्या है? और अकर्म (अबन्धक कर्म) क्या है? इसके सम्बन्ध में विद्वान् भी

१—एथिकल स्टडीज पृष्ठ ३१४।
२—एथिकल स्टडीज पृष्ठ ३४२।

माहित हो जाते हैं ।[1] कर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त गहन विषय है। यह कर्म समीक्षा का विषय अत्यन्त गहन और दुष्कर क्यो है, इस प्रश्न का उत्तर हमे जैनागम सूत्रकृताग में भी मिलता ह । उसमें बताया गया है कि कर्म, क्रिया या आचरण समान होने पर भी बन्धन की दृष्टि से वे भिन्न भिन्न प्रकृति के हो सकते हैं । मात्र आचरण, कम या पुरुषाथ को देखकर यह निणय देना सम्भव नहीं होता है, कि वह नैतिक दृष्टि से किस प्रकार का है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनो ही समान वीरता को दिखाते हुए (अर्थात समान रूप से कम करते हुए) भी अधूरे ज्ञानी और सवथा अज्ञानी का, चाहे जितना पराक्रम (पुरुषाथ) हो, पर वह अशुद्ध है और कम बन्धन का कारण है, परन्तु ज्ञान एव बोध सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल नही भोगना पडता । योग्य रीति से किया हुआ तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नही होता ।[2] कम का बन्धन की दृष्टि से विचार उसके बाह्य स्वरूप के आधार पर ही नही किया जा सकता है, उसम कर्ता का प्रयोजन, कर्ता का विवेक एव देशकालगत परिस्थितियाँ भी महत्त्वपूण तथ्य हैं और कर्मों का ऐसा सर्वांगपूर्ण विचार करने मे विद्वत् वर्ग भी कठिनाई मे पड जाता है। कम मे कर्ता के प्रयोजन को जो कि एक आन्तरिक तथ्य है, जान पाना सहज नहीं होता है।

लेकिन फिर भी कर्ता के लिए जो कि अपनी मनोदशा का ज्ञाता भी है यह आवश्यक है कि कम और अकम का यथाथ स्वरूप समझे क्योंकि उसके अभाव मे मुक्ति सम्भव नही है। गीता म कृष्ण अजु न से कहते हैं कि मैं तुझे कम के उस रहस्य का बताऊँगा जिसे जानकर तू मुक्त हो जावेगा ।[3] वास्तविकता यह है कि नैतिक विकास के लिए बन्धक और अबन्धक कम के यथाथ स्वरूप का जानना आवश्यक है । बन्धकत्व की दृष्टि से कम के यथाथ स्वरूप के सम्बन्ध मे समालोच्य आचार दर्शनो का दृष्टिकोण निम्नानुसार है ।

जन दशन मे कम अकर्म विचार

कम के यथाथ स्वरूप को समझने के लिए उस पर दो दृष्टियो से विचार किया जा सकता है—(१) उसकी बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर और (२) उसकी शुभाशुभता के आधार पर । कम की बन्धनात्मक शक्ति के आधार पर विचार करने पर हम पाते हैं कि कुछ कम बन्धन में डालते हैं जबकि कुछ कम बन्धन मे नही डालते हैं। बन्धक कर्मों को कम और अबन्धक कर्मों को अकम कहा जाता है । जन विचारणा म कम और अकम के यथाथ स्वरूप की

१—गीता ४/१६ ।
२—सूत्रकृतांग १/८/२२-२६ ।
३—गीता ४/१६ ।

विवेचना सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग मे मिलती है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं, कुछ अकर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं।[१] इसका तात्पर्य यह है कि कुछ विचारकों की दृष्टि में सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है जबकि दूसरे विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। इस सम्बन्ध मे महावीर अपने दृष्टिकोण का प्रस्तुत करते हुए, यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि कर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादि की चेष्टा का अभाव ऐसा नहीं मानना चाहिए। वे अत्यन्त सीमित शब्दों मे कहते हैं। प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है।[२] प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहकर महावीर यह स्पष्ट कर देते हैं कि अकर्म निष्क्रियता की अवस्था नहीं, वह तो सतत जागरूकता है। अप्रमत्त अवस्था या आत्म जागृति की दशा में सक्रियता अकर्म होती है जबकि प्रमत्त दशा या आत्म-जागृति के अभाव मे निष्क्रियता भी कर्म (बन्धन) बन जाती है। वस्तुतः किसी क्रिया का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं वरन् उसके पीछे रहे हुए कषाय भावों एवं राग-द्वेष की स्थिति पर निर्भर है।

जैन दर्शन के अनुसार राग द्वेष एवं कषाय जो कि आत्मा की प्रमत्त दशा है किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं। लेकिन कषाय एवं आसक्ति से रहित क्रिया हुआ कर्म-अकर्म बन जाता है। महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो आस्रव या बन्धन कारक क्रियाएँ हैं वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती हैं।[३] इस प्रकार जैन विचारणा मे कर्म और अकर्म अपने बाह्य स्वरूप की अपेक्षा कर्ता के विवेक और मनोवृत्ति पर निर्भर होते हैं। जैन विचारणा मे बन्धकत्व की दृष्टि से क्रियाओं को दो भागों में बांटा गया है। (१) ईर्यापथिक क्रियाएँ (अकर्म) और (२) साम्परायिक क्रियाएँ (कर्म या विकर्म) ईर्यापथिक क्रियाएँ निष्काम वीतराग दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धन कारक नहीं हैं जबकि साम्परायिक क्रियाएँ आसक्त व्यक्ति की क्रियाएँ हैं जो बन्धन कारक हैं। संक्षेप मे वे समस्त क्रियाएँ जो आस्रव एवं बन्ध का कारण हैं, कर्म हैं और वे समस्त क्रियाएँ जो संवर एवं निर्जरा का हेतु हैं अकर्म हैं। जैन दृष्टि मे अकर्म या ईर्यापथिक कर्म का अर्थ है राग द्वेष एवं मोह रहित होकर मात्र कर्तृत्व अथवा शरीर, निर्वाह के लिए किया जाने वाला कर्म। जबकि कर्म का अर्थ है राग-द्वेष एवं मोह सहित क्रियाएँ। जैन दर्शन के अनुसार जो क्रिया व्यापार राग-द्वेष और मोह से युक्त होता है बन्धन मे डालता है और इसलिए वह कर्म है और जो क्रिया-व्यापार राग-द्वेष और मोह से रहित होकर कर्तव्य निर्वाह या शरीर निर्वाह के लिए किया जाता है वह बन्धन का कारण

१—सूत्रकृतांग १/८/१ २।
२—सूत्रकृतांग १/८/३।
३—आचारांग १/४/२/१।

नही है अत अकम है। जिन्हें जैन दर्शन मे इर्यापथिक क्रियाएँ या अकम कहा गया है उन्हे बौद्ध परम्परा अनुपचित्त, अव्यक्त या अकृष्ण, अशुक्ल कम कहती है और जिन्हें जैन परम्परा साम्परायिक क्रियाएँ या कम कहती हैं उन्हें बौद्ध परम्परा उपचित कम या कृष्ण-शुक्ल कम कहती है। आएं, जरा इस सम्बन्ध म विस्तार से विचार करें।

बौद्ध दशन मे कम अकम का विचार

बौद्ध विचारणा मे भी कम और उनके फल देने की योग्यता के प्रश्न को लेकर महाकम विभग मे विचार किया गया है, जिसका उल्लेख श्रीमती सुमादास गुप्ता ने अपने प्रबन्ध "भारत मे नैतिक दशन का विकास" मे किया है।[1] बौद्ध दशन का प्रमुख प्रश्न यह है कि कौन से कम उपचित होते हैं। कम के उपचित से तात्पय सचित होकर फल देने की क्षमता के योग्य होने से है। दूसरे शब्दों मे कर्म के बन्धन कारक होने से है। बौद्ध परम्परा का उपचित कम जैन परम्परा के विपयोदयी कम से और बौद्ध परम्परा का अनुपचित कम जैन परम्परा के प्रदेशोदयी कम (इर्यापथिक कम) से तुलनीय है। महाकम विभग मे कम की कृत्यता और उपचितता के सम्बन्ध को लेकर कम का एक चतुर्विद वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।

१ वे कम जो कृत (सम्पादित) नहीं हैं लेकिन उपचित (फल प्रदाता) हैं—वासनाओ के तीव्र आवेग से प्रेरित होकर किये गये ऐसे कम सकल्प जो कार्य रूप मे परिणित न हो पाये हैं, इस वग मे आते है। जसे किसी व्यक्ति ने क्रोध या द्वेष के वशीभूत होकर किसी को मारने का सकल्प किया हो लेकिन वह उसे मारने की क्रिया को सम्पादित न कर सका हो।

२ वे कर्म जो कृत हैं लेकिन उपचित भी हैं—वे समस्त ऐच्छिक कम जिनको सकल्प पूवक सम्पादित किया गया है, इस कोटि में आते हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अकृत उपचित कम और कृत उपचित कम दोनों शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के हो सकते हैं।

३ वे कम जो कृत हैं लेकिन उपचित नहीं हैं—अभिधम्मकोष के अनुसार निम्न कम कृत होने पर उपचित नहीं होते हैं अर्थात अपना फल नहीं देते हैं —

(अ) वे कम जिन्हें सकल्प पूवक नहीं किया गया है अर्थात् जो सचिन्त्य नहीं है, उपचित नहीं होते हैं।

१—डेवलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इण्डिया पृष्ठ १६८ १६९।

(ब) वे कर्म जो सचिन्त्य होते हुए भी सहसाकृत हैं, उपचित नहीं होते हैं। इन्हें हम आकस्मिक कर्म कह सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान मे इन्हें विचार प्रेरित कर्म (आइडिया मोटर एक्टीविटी) कहा जा सकता है।

(स) भ्रान्ति वश किया गया कर्म भी उपचित नही होता।

(द) कृत कर्म के करने के पश्चात् यदि अनुताप या ग्लानि द्वारा उसका प्रकटन करके पाप विरति का व्रत लेने से कृत कर्म उपचित नहीं होता।

(ई) शुभ का अभ्यास करने से तथा आश्रय बल से (बुद्ध के शरणागत हो जाने से) भी पाप कर्म उपचित नही होता।

४ वे कर्म जो कृत भी नहीं हैं और उपचित भी नहीं हैं—स्वप्नावस्था मे किए गए कर्म इसी प्रकार के होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रथम दो वर्गों के कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं लेकिन अन्तिम दो प्रकार के कर्म प्राणी को बन्धन में नही डालते हैं।

बौद्ध आचार दर्शन में भी राग-द्वेष और मोह से युक्त होने पर कर्म को बन्धन कारक माना जाता है जबकि राग-द्वेष और मोह से रहित कर्म को बन्धन कारक नहीं माना जाता है। बौद्ध दर्शन भी राग-द्वेष और मोह रहित अर्हत के क्रिया व्यापार को बन्धन कारक नहीं मानता है। ऐसे कर्मों को अकृष्ण अशुक्ल या अव्यक्त कर्म भी कहा गया है।

गीता मे कर्म अकर्म का स्वरूप

गीता भी इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करती है कि कौन सा कर्म बन्धन कारक और कौन सा कर्म बन्धन कारक नहीं है? गीताकार कर्म को तीन भागों में वर्गीकृत कर देता है। (१) कर्म, (२) विकर्म, (३) अकर्म। गीता के अनुसार कर्म और विकर्म बन्धन कारक हैं जबकि अकर्म बन्धन कारक नहीं हैं।

(१) कर्म—फल की इच्छा से जो शुभ कर्म किये जाते हैं, उनका नाम कर्म है।

(२) विकर्म—समस्त अशुभ कर्म जो वासनाओं की पूर्ति के लिए किए जाते हैं, विकर्म हैं। साथ ही फल की इच्छा एवं अशुभ भावना से जो दान, तप, सेवा आदि शुभ कर्म किये जाते हैं वे भी विकर्म कहलाते हैं। गीता में कहा गया

है जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से मन, वाणी, शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की नीयत से किया जाता है वह तापस कहलाता है।[1] साधारणतया मन, वाणी एव शरीर से होने वाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्म मात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होने वाले कर्म भी कभी कर्ता की भावनानुसार कर्म या अकर्म के रूप मे बदल जाते हैं। आसक्ति और अहकार से रहित होकर शुद्ध भाव एव मात्र कर्तव्य बुद्धि से किये जाने वाले हिंसादि कर्म (जो देखने मे विकर्म से प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होने से अकर्म ही हैं।[2]

(३) अकर्म—फलासक्ति रहित हो अपना कर्तव्य समझ कर जो भी कर्म किया जाता है उस कर्म का नाम अकर्म है। गीता के अनुसार परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर कर्तापन के अभिमान से रहित पुरुष द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह मुक्ति के अतिरिक्त अन्य फल नही देने वाला होने से अकर्म ही है।[3]

अकर्म की अर्थ विवक्षा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैसा कि हमने देखा जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन, क्रिया व्यापार को बन्धकत्व की दृष्टि से दो भागो में बाट देते हैं। (१) बन्धक कर्म और (२) अबन्धक कर्म। अबन्धक क्रिया व्यापार को जैन दर्शन मे अकर्म या ईर्यापथिक कर्म। बौद्ध दर्शन मे अकृष्ण-अशुक्ल कर्म या अव्यक्त कर्म तथा गीता मे अकर्म कहा गया है। प्रथमत सभी समालोच्य आचार दर्शनो की दृष्टि में अकर्म कर्म अभाव नहीं है। जैन विचारणा के शब्दो में कर्म प्रकृति के उदय को समझ कर बिना राग-द्वेष के जो कर्म होता है, वह अकर्म ही है। मन, वाणी, शरीर की क्रिया के अभाव का नाम ही अकर्म नहीं। गीता के अनुसार व्यक्ति की मनोदशा के आधार से क्रिया न करने वाले व्यक्तियों का क्रिया त्याग रूप अकर्म भी कर्म बन सकता है। और क्रियाशील व्यक्तियों का कर्म भी अकर्म बन सकता है। गीता कहती है कर्मेन्द्रियों की सब क्रियाओ को त्याग, क्रिया रहित पुरुष जो अपने को सम्पूर्ण क्रियाओं का त्यागी समझता है, उसके द्वारा प्रकट रूप से कोई काम होता हुआ न दीखने पर भी त्याग का अभिमान या आग्रह रहने के कारण उससे वह त्याग रूप कर्म होता है। उसका यह त्याग का अभिमान या आग्रह अकर्म को भी कर्म बना देता है।[4] इसी प्रकार कर्तव्य प्राप्त

१—गीता १७/१६।
२—गीता १८/१७।
३—गीता ३/३०।
४—गीता ३/६।

होने पर भय या स्वार्थ वश कर्तव्य कर्म से मुँह मोडना, विहित कर्मों का त्याग कर देना आदि मे भी कर्म नही होते, परन्तु इस अकर्म दशा मे भी भय या राग भाव अकर्म को भी कर्म बना देता है।[1] जबकि अनासक्त वृत्ति और कर्तव्य की दृष्टि से जो कर्म किया जाता है। वह राग-द्वेष के अभाव के कारण अकर्म बन जाता है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कर्म और अकर्म का निर्णय केवल शारीरिक क्रियाशीलता या निष्क्रियता से नहीं होता। कर्ता के भावो के अनुसार ही कर्मों का स्वरूप बनता है।

इस रहस्य को सम्यक् रूपेण जानने वाला ही गीताकार की दृष्टि में मनुष्यो मे बुद्धिमान योगी है।[2] सभी विवेच्य आचार दर्शनो में कर्म-अकर्म विचार मे वासना, इच्छा या कर्तृत्व भाव ही प्रमुख तत्त्व माना गया है। यदि कर्म के सम्पादन मे वासना, इच्छा या कर्तृत्व बुद्धि का भाव नहीं है तो वह कर्म बन्धक कारक नही होता है। दूसरे शब्दो मे बन्धन की दृष्टि से वह कर्म अकर्म बन जाता है, वह क्रिया अक्रिया हो जाती है। वस्तुतः कर्म-अकर्म विचार में क्रिया प्रमुख तत्त्व नहीं होती है, प्रमुख तत्त्व है कर्ता का चेतन पक्ष। यदि चेतना जाग्रत है, अप्रमत्त है, विशुद्ध है, वासना शून्य है, यथार्थ दृष्टि सम्पन्न है तो फिर क्रिया का बाह्य स्वरूप अधिक मूल्य नही रख सकता। पूज्यपाद कहते हैं "जो आत्म तत्त्व में स्थिर है वह बोलते हुए भी नही बोलता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नही देखता है।[3]" आचार्य अमृतचन्द्र सूरी का कथन है रागादि (भावो) से मुक्त युक्त आचरण करते हुए यदि हिंसा (प्राणघात) हो जावे तो वह हिंसा नही है।[4] अर्थात् हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य बाह्य परिणामों पर निर्भर नहीं होते हैं वरन् उसमें कर्ता की चित्तवृत्ति ही प्रमुख है। उत्तराध्ययन सूत्र मे भी स्पष्ट रूप मे कहा गया है—भावो से विरक्त जीव शोक रहित हो जाता है, वह कमल पत्र की तरह ससार मे रहते हुए भी लिप्त नहीं होता।[5]

गीताकार भी इसी विचार दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए कहता है जिसने कर्म फलासक्ति का त्याग कर दिया है, जो वासना शून्य होने के कारण सदैव ही आकांक्षा रहित है और आत्म तत्त्व मे स्थिर होने के कारण आलम्बन रहित है, वह क्रियाओं का करते हुए भी कुछ नही करता है।[6] गीता का अकर्म जैन दर्शन के संवर और निर्जरा से भी तुलनीय है। जिस प्रकार जैन दर्शन में संवर एवं निर्जरा के हेतु किया जाने वाला समस्त क्रिया व्यापार मोक्ष का हेतु होने से अकर्म ही माना गया है। उसी प्रकार गीता मे भी फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरीय आदेश के पालनार्थ जो नियत कर्म किया जाता है वह अकर्म ही माना

१—गीता १८/७। २—गीता ४/१८। ३—इष्टोपदेश ४१।
४—पुरुषार्थ० ४५। ५—उत्तरा० ३२/९९। ६—गीता ४/२०।

गया है। दोनों में जो विचार साम्य है वह एक तुलनात्मक अध्येता के लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। गीता और जैनागम आचारांग मे मिलने वाला निम्न विचार साम्य भी विशेष रूपेण द्रष्टव्य है। आचारांग सूत्र मे कहा गया है 'अग्रकर्म और मूल कर्म के भेदो में विवेक रखकर ही कर्म कर।' ऐसे कर्मों का कर्ता होने पर भी वह साधक निष्कर्म ही कहा जाता है। निष्कर्मता के जीवन मे उपाधियो का आधिक्य नही होता, लौकिक प्रदर्शन नही होता। उसका शरीर मात्र योग क्षेत्र का (शारीरिक क्रियाओ) वाहक होता है।[1] गीता कहती है आत्म विजेता, इन्द्रियजित सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कर्म का कर्ता होने पर निष्कर्म कहा जाता है। वह कर्म से लिप्त नही होता। जो फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है वह नैष्ठिक शान्ति प्राप्त करता है। लेकिन जो फलासक्ति से बन्धा हुआ है वह कुछ नही करता हुआ भी कर्म बन्धन से बन्ध जाता है।[2] गीता का उपरोक्त कथन सूत्रकृतांग के निम्न कथन से भी काफी निकटता रखता है। सूत्रकृतांग मे कहा गया है मिथ्या दृष्टि व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ फलासक्ति से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है और बन्धन का हेतु है। लेकिन सम्यक् दृष्टि वाले व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ शुद्ध है क्योंकि वह निर्वाण का हेतु है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनो ही आचार दर्शनो मे अकर्म का अर्थ निष्क्रियता तो विवक्षित नही है लेकिन फिर भी तिलकजी के अनुसार यदि इसका अर्थ निष्काम बुद्धि से किये गये प्रवृत्तिमय सांसारिक कर्म माना जाय तो वह बुद्धि सगत नही होगा। जैन विचारणा के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त होकर अथवा वीतरागावस्था मे सांसारिक प्रवृत्तिमय कर्म का किया जाना ही सम्भव नही। तिलकजी के अनुसार निष्काम बुद्धि से युक्त हो युद्ध लडा जा सकता है।[4] लेकिन जैन दर्शन को यह स्वीकार नही।[5] उसकी दृष्टि मे अकर्म का अर्थ मात्र शारीरिक अनिवार्य कर्म ही अभिप्रेत है। जैन दर्शन की इर्या पथिक क्रियाएँ प्रमुखतया अनिवार्य शारीरिक क्रियाएँ ही हैं।[6] गीता म भी अकर्म का अर्थ शारीरिक अनिवार्य कर्म के रूप मे ग्रहित है (४/२१) आचार्य शंकर ने अपने गीता भाष्य मे अनिवार्य शारीरिक कर्मों को अकर्म की कोटि म माना है।

लेकिन थोडा अधिक गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि जैन विचारणा मे भी अकर्म अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त निरपेक्ष रूप

१—आचारांग १/३/२/४ १/३/१/११०—देखिए आचारांग (नवकाम) परिशिष्ट पृष्ठ ३६ ३७।

२—गीता ५/७, ५/१२। ३—सूत्रकृतांग १/८/२२-२३।

४—गीता रहस्य ४/१९ (टिप्पणी)।

५—सूत्रकृतांग २/२/१२। ६—गीता (शां०) ४/२१।

से जनकल्याणार्थ किये जाने वाले कर्म तथा कर्मक्षय के हेतु किया जाने वाला तप, स्वाध्याय आदि भी समाविष्ट है। सूत्रकृतांग के अनुसार जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद रहित हैं, वे अकर्म हैं। तीर्थंकरों की संघ प्रवर्तन आदि लोक कल्याणकारक प्रवृत्तियाँ एवं सामान्य साधक के कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु किये गये सभी साधनात्मक कर्म अकर्म हैं। संक्षेप में जो कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धन कारक नहीं हैं वे अकर्म ही हैं। गीता रहस्य में भी तिलकजी ने यही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो तो वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा। करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ—कर्म के बन्धकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म है या अकर्म।[1] जैन और बौद्ध आचार दर्शन में अर्हत के क्रिया व्यापार को तथा गीता में स्थितप्रज्ञ के क्रिया व्यापार को बन्धन और विपाक रहित माना गया है, क्योंकि अर्हत या स्थितप्रज्ञ में राग द्वेष और मोह रूपी वासनाओं का पूर्णतया अभाव होता है अतः उसका क्रिया व्यापार बन्धन कारक नहीं होता है और इसलिए वह अकर्म कहा जाता है। इस प्रकार तीनों ही आचार दर्शन इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि वासना एवं कषाय से रहित निष्काम कर्म अकर्म है और वासना सहित सकाम कर्म ही कर्म है बन्धन कारक है।

उपरोक्त आधारों पर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर्म अकर्म विवक्षा में कर्म का चैतसिक पक्ष ही महत्वपूर्ण रहता है। कौन सा कर्म बन्धन कारक है और कौन सा कर्म बन्धन कारक नहीं है इसका निर्णय क्रिया के बाह्य स्वरूप से नहीं वरन् क्रिया के मूल में निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। पं० सुखलालजी कर्म ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं कि साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा। इससे वे काम को छोड़ देते हैं पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नहीं है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन में रखने में समर्थ नहीं है। इससे उलटा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है, वह बन्धक नहीं होता है।[2] ○

१—गीता रहस्य पृष्ठ ९८४।

२—कर्मग्रन्थ—प्रथम भाग की भूमिका, पृष्ठ २५-२६।

२५ साख्यदर्शन में कर्म

□ श्री धर्मचन्द जन

साख्यदशन के प्रवर्तक थे महर्षि कपिल । कपिल ने सांख्यदर्शन का प्रणयन करते हुए मूल रूप से जैनदर्शन के सदृश दो ही तत्त्व स्वीकार किए—पुरुष और प्रकृति । कपिल के पुरुष को जैनदर्शन मे जीव एव प्रकृति को अजीव शब्द से पुकारा जा सकता है। जिस प्रकार जैनदर्शन मे जीव एव अजीव के सम्बन्ध से ही अन्य समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन मे पुरुष एव प्रकृति के सयोग से ही समस्त तत्त्वो की उत्पत्ति मानी गई है। सास्यदर्शन मे पच्चीस तत्त्व माने गए हैं—प्रकृति, बुद्धि, अहकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच महाभूत एव पुरुष। सेश्वर सास्य के अनुयायी ईश्वर को भी छब्बीसवाँ तत्त्व मानते हैं।

कर्म-परिचय

यद्यपि सास्यदर्शन मे 'कर्म' शब्द का प्रयोग कहीं नही हुआ है किन्तु जनदर्शन मे प्रयुक्त 'कर्म' शब्द की अर्थाभिव्यक्ति मिलती है। तभी तो ईश्वर-कृष्ण विरचित 'सांख्यकारिका' के प्रारम्भ मे ही आध्यात्मिक, आधिदैविक एव आधिभौतिक इन तीनो प्रकार के दु खों के आत्यन्तिक क्षय की बात कही गई है। जैनदर्शन मे दु खो का कर्मों का फल माना गया है और कर्मों का विभाजन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आदि रूपो से आठ भागो में किया गया है। सांख्यदर्शन मे भी जो कुछ सुख-दु ख होते हैं वे अविवेक अथवा अनादि अविद्या के कारण होते हैं। यह अविवेक ही कर्मों का अथवा ससार मे भ्रमण करने का मूल कारण है। इसकी समाप्ति होन पर कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है और दु ख-सुख से पुरुष सदा के लिए मुक्त हो जाता है। फिर यह जीवनमुक्ति (अरिहन्तावस्था) एव विदेहमुक्ति (सिद्धावस्था) को भी प्राप्त कर लेता है। शरीर मे रहते हुए जीवनमुक्ति की अवस्था रहती है तथा शरीर के छूटने के पश्चात् विदेहमुक्ति की अवस्था आजाती है।

पुरुष एव उसका सयोग

जनदर्शन तथा सास्यदर्शन में एक मूलभूत अन्तर यह है कि जनदर्शन जीव को ही समस्त सुख-दु खों (कर्मों) का कर्ता एव भोक्ता प्रतिपादित करता है जबकि सांख्यदर्शन इसको अकर्ता एव द्रष्टा के रूप में प्रतिपादित करता है।

'साख्यकारिका' मे कहा गया है—'न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ।' अर्थात् पुरुष न कारण है और न कार्य ही । वह त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, चेतन, अप्रसवधर्मी, अविकारी, कूटस्थ, नित्य, मध्यस्थ, द्रष्टा एव अकर्त्ता होता है । जो गुण एक कर्मरहित जीव मे जैनदर्शन बतलाता है वे ही गुण साख्यदर्शन एक पुरुष मे निरूपित करता है । 'साख्यकारिका' मे निरूपित सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः यह चेतन पुरुष न कभी बन्ध को प्राप्त हुआ है और न होगा—

> तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि ससरति कश्चित् ।
> ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥

अर्थात् किसी पुरुष का न तो बन्धन होता है और न ससरण और मोक्ष ही । अनेक पुरुषो के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही ससरण, बन्धन और मोक्ष होता है । वास्तव मे प्रकृति ही समस्त सृष्टि का मूल कारण है । प्रकृति से ही बुद्धि, अहकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, पचतन्मात्राएँ एव पञ्चमहाभूत उद्भूत हुए हैं । प्रकृति ही समस्त दृश्य है । फिर भी प्रकृति एकाकिनी रहकर कुछ भी नही कर सकती । पुरुष का सयोग होने पर ही प्रकृति सृष्टि का निर्माण करने मे सक्षम होती है । प्रकृति का पुरुष के साथ वैसा ही सयोग है जैसा अन्ध एव पगु व्यक्ति का सयोग होता है—'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृत सर्ग ।' पगु एव अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार मिलकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार प्रकृति के सयोग से पुरुष अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है । प्रकृति का पुरुष के साथ यह संयोग कैवल्य की प्राप्ति के लिए ही होता है, किन्तु यह सयोग अनादिकाल से चला आ रहा है ।

बन्धन प्रक्रिया

प्रकृति एव पुरुष का सयोग ही बन्धन है । यह बन्धन अविवेक के कारण होता है । वास्तव मे तो पुरुष निर्विकार, अकर्ता एव द्रष्टा है और प्रकृति कर्त्री है किन्तु प्रकृति पुरुष का सयोग पाकर ही कार्य करती है । प्रश्न तो तब उपस्थित होता है जब पुरुष अकर्ता, द्रष्टा एवं निर्विकार होते हुए भी अपने को सुखी, दुखी एव बन्धन मे बँधा हुआ अनुभव करता है । साख्यदर्शनकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं—बुद्धि एक ऐसा तत्त्व है जिसमें चेतन पुरुष भी प्रतिबिम्बित होता है और अनुभूयमान वस्तु भी प्रतिबिम्बित होती है । फलस्वरूप चेतन पुरुष उस वस्तु से प्रभावित अनुभव करता है और बंधन को प्राप्त हो जाता है । यद्यपि पुरुष एवं प्रकृति परस्पर भिन्न हैं तथापि पुरुष को इस पार्थक्य का भान नहीं रहता, इसलिए वह अपने को बंधा हुआ अनुभव करता है । 'साख्यकारिका' मे कहा है—

> तस्मात्तत्सयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
> गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीन ॥

अर्थात् दोनो के सयोग से अचेतन बुद्धि आदि प्रकृति चेतन सदश प्रतीत होते हैं और उसी प्रकार प्रकृति-गुणों के कर्ता होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता सा प्रतीत हाता है। यही बधन है। जब तक यह सयोग चलता रहता है, भोग होता रहता है। लेकिन जब विवेकख्याति द्वारा पुरुष एव प्रकृति का भेद ज्ञात हो जाता है तब बधन समाप्त हो जाता है, कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

असत्कार्यवाद

साख्यदशन का मूल सिद्धान्त असत्कायवाद है। असत्कायवाद के अनुसार काय अपने कारण मे अव्यक्तावस्था मे विद्यमान रहता है, नया उत्पन्न नही होता। तिलो में तेल पहले से अव्यक्तावस्था मे विद्यमान रहता है तभी तो उसमे से तेल निकलता है। रेत मे से तेल नही निकलता क्योंकि उसमें पहले से विद्यमान नही होता। सक्षेप में किसी काय की अव्यक्तावस्था कारण एव कारण की व्यक्तावस्था काय कही जा सकती है।

यही कारण है कि पुरुष को अकर्ता एव द्रष्टा प्रतिपादित किया गया है। उसको सदैव निर्विकार बतलाया गया है। वह न बन्धन को प्राप्त होता है और न मुक्त होता है—यह बात भी इसीलिए कही गयी है।

प्रकृति का उपकार

प्रकृति पुरुष के भोग एव कैवल्य के लिए प्रवृत्त होती है। यह प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए सृष्टि का निर्माण करती है। ईश्वरकृष्ण ने कहा है—'जसे बछडे के बढने के लिए अचेतन दुग्ध स्वत निकलता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति भी स्वत प्रवृत्त होती है।' प्रकृति के विषय में यहाँ तक कह दिया गया कि जिस प्रकार अपनी इच्छा पूर्ति के लिए व्यक्ति काय मे प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्त होती है।

कैवल्य

पुरुष एव प्रकृति का पार्थक्य बोध ही कैवल्य का कारण है। इस पार्थक्य-बोध को विवेकख्याति नाम दिया जाता है। इसमें तत्त्वों के अभ्यास को भी कारण माना गया है। 'सांख्यकारिका' मे कैवल्य का स्वरूप बतलाते हुए ईश्वरकृष्ण ने कहा है—

> एव तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
> अविपर्ययाद्विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

अर्थात् तत्त्व ज्ञान का अभ्यास करने से 'न मैं (क्रियावान्) हूँ, न मेरा (भोक्तृत्व) है और न मैं कर्ता हूँ—इस प्रकार सम्पूर्ण एव विपर्ययरहित होने

से विशुद्ध केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तब विमल एव द्रष्टा के समान निरिच्छ पुरुष विवेकज्ञान के सामर्थ्य से प्रकृति को देखता है। चेतन पुरुष 'मैंने उसे देख लिया है'—यह विचार करके उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी 'उसने मुझे देख लिया है'—यह सोचकर व्यापार शून्य हो जाती है।

जैसे नर्तकी रङ्गस्थ दर्शकों के समक्ष नृत्य के लिए एक बार उपस्थित होने के बाद फिर नृत्य नहीं करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के बाद फिर उस विषय मे प्रवृत्त नहीं होती। यथा—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृति ॥

विदेह मुक्ति

विवेकख्याति (सम्यग्ज्ञान) होने के पश्चात् भी शरीर का विनाश नहीं होता। शरीर का विनाश होते ही विदेहमुक्ति हो जाती है। किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रकृति का पृथक् रूप से दर्शन कर लेने के पश्चात् एव उसका व्यापार समाप्त हो जाने के पश्चात् भी शरीर के रहने का क्या औचित्य है ? सांख्य कारिकाकार ने उसका समाधान करते हुए कहा है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठतिसंस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीर ॥

अर्थात् तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाने से सञ्चित धर्म, अधर्म इत्यादि कर्मों का बीजभाव तो नष्ट हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट संस्कारों के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किए रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक फिर दण्ड-चालन न होने पर भी पूर्व उत्पन्न वेग नामक संस्कार से घूमती रहती है।

जिस प्रकार जैनदर्शन में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय नामक चार घनघाति कर्मों का क्षय करने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, किन्तु फिर भी शरीर बना रहता है। अन्य चार कर्मों के समाप्त होने पर ही आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त करता है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन में सञ्चित कर्मों का विनाश हो जाने के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्मों के बल पर शरीर बना रहता है उसके विनाश होते ही विदेहावस्था प्राप्त हो जाता है।

उपसंहार :

सत्य एक ही है किन्तु उसका प्रस्तुतीकरण भिन्न भिन्न हो सकता है। आगमों में बंधन एवं मुक्ति की प्रक्रिया तथा कर्मों का स्वरूप जिस रूप में प्रतिपादित किया गया है, सांख्यदर्शन में उसका भिन्न रूप में प्रतिपादन करते

का प्रयास किया गया है। जीव (पुरुष) को साख्यदर्शन अकर्ता मानता हुआ भी बधन एव मुक्ति की प्रक्रिया से गुजरता है।

जैनदर्शन की भाँति साख्यदर्शन भी पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। जनदार्शनिक जिसे कार्मणशरीर कहते हैं, साख्यदार्शनिक उसे लिङ्गशरीर अथवा सूक्ष्म शरीर कहते हैं। विदेहमुक्ति होने पर यह लिङ्गशरीर समाप्त हो जाता है।

सत्व, रजस्, तमस् इन तीनो गुणो से युक्त प्रकृति को साख्यदर्शन कर्त्री मानता है तथा इसे ही पुरुष को मुक्ति दिलाने म सहायक भी मानता है। प्रकृति एव पुरुष का सयोग ही कर्म (सस्कार) को उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप भोग प्राप्त होता है। अत मे कैवल्य की प्राप्ति विवेकख्याति (सम्यग्ज्ञान) से होती है।

आतमराम

राग—मांढ

अष्ट करम म्हारो काँई करसी जी, मैं म्हारे घर राखू राम।
इणी द्वारे चित्त कोरत है, तिन वश हूँ नहीं करस्यु काम॥ अष्ट०॥१॥

इणको जोर इतोही मुझपर, दुःख दिखलावे इणी ग्राम।
जाको जाणु म नहीं मानू, भेदविज्ञान करूँ विश्राम॥ अष्ट०॥२॥

कहु राग कहु दोष करत थो, तब विधि आते मेरे धाम।
सो विभाव नहीं धारूँ कबहूँ, शुद्ध स्वभाव रहूँ अभिराम॥ अष्ट०॥३॥

जिनवर मुनि गुरु की बलि जाऊँ, जिन बतलाया मेरा ठाम।
सुखी रहत हूँ दुःख नहिं व्यापत 'बुधजन' हरषत आठों याम॥ अष्ट०॥४॥

—बुधजन

२६

मीमांसा-दर्शन में कर्म का स्वरूप

□ डॉ० के० एस० शर्मा

'मीमांसा' शब्द 'मान' धातु से जिज्ञासा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'जिज्ञासा' रूप विशेष अर्थ में ही मीमांसा पद की निष्पत्ति सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मीमांसा शब्द का अर्थ होता है— जिज्ञासा और जानने की इच्छा। जैमिनी ऋषि ने तत्कालीन मत-मतान्तरों को संकलित किया तथा उन पर अपने विचारों को जोड़कर सूत्रों की रचना की। जैमिनी के मीमांसा-सूत्र में १६ अध्याय हैं। 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इसका प्रथम सूत्र है और 'विद्यते वाऽन्यकालत्वाद्यथायाज्या सम्प्रगो यथा याज्या सम्प्रैष" अंतिम सूत्र है। प्रथम बारह अध्यायों की विषयवस्तु अंतिम चार अध्यायों (१३ से १६ तक) की विषयवस्तु से बिलकुल भिन्न है तथा ये अन्तिम चार अध्याय 'संकर्षण काण्ड' के नाम से जाने जाते हैं। शबर स्वामी ने प्रथम १२ अध्यायों पर ही अपना भाष्य लिखा है। अतः मीमांसा का यह भाग (अंतिम चार अध्याय) उत्सन्नप्राय हो चुका है। मीमांसा सूत्र (प्रथम १२ अध्याय) की कुल सूत्र संख्या २६२१ है जो शेष पांच दर्शन तथा (सांख्य, योग, न्याय वैशेषिक एवं वेदान्त) के सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर है।

मीमांसा-दर्शन में चार बिन्दुओं पर प्रमुख रूपेण चर्चा की गई है: (१) धर्म का स्वरूप, (२) कर्म एवं इसका धर्म से सम्बन्ध, (३) वेदों की विषयवस्तु (विशेष रूप से धर्म और कर्म के प्रत्यय) तथा (४) वेदों का विश्लेषण करने की पद्धति का सोदाहरण प्रस्तुतिकरण (जिससे हम उन्हें ठीक सही समझ सकें)।

जैमिनी ने धर्म की परिभाषा 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म' (१ १ २) कहकर दी है। जैमिनी के अनुसार क्रिया में प्रेरक वचन से लक्षित होने वाला अर्थ धर्म कहलाता है।[1] दूसरे शब्दों में, चोदना द्वारा विज्ञेपित अर्थ ही धर्म है। धर्म

---

१ जैमिनी सूत्र में धर्म की चर्चा हेतु निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं —

अध्याय	पाद	सूत्र संख्या
१	१	१ २ २४ २६
१	३	१ १४,
२	१	१ १२
६	४	१ २
६	१	१ ४

स्वयं में लक्ष्य है जो कि स्वयं में शुभ और अशुभ नहीं है। स्पष्टता के लिये एक उदाहरण लें। मान लीजिये कि एक कानून या आदेश है जो कहता है कि 'किसी की हत्या नहीं करनी चाहिये' या सफाई रखो, या सफाई रखना चाहिये आदि आदि। लेकिन अगर कानून की अवज्ञा करने पर दण्ड का विधान न हो तो कोई भी व्यक्ति उस कानून या राज्यादेश का पालन नहीं करेगा। जिस प्रकार सभी नागरिक मामलों में राज्यादेश सर्वशक्तिमान है उसी प्रकार धार्मिक कृत्यों में वैदिक आदेश[1] हमें बाँधता है क्योंकि इस आदेश को मानने पर भावी जीवन में पुरस्कार मिलेगा। इस दृष्टि से चोदना पद का अर्थ हुआ वैदिक आदेश (या ईश्वरीय आदेश) जो किसी व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है अथवा किसी विशिष्ट प्रकार का कर्म करने से रोकता है। अतः चोदना वैदिक आज्ञा या निर्देश है जो वैदिक ग्रन्थों में निहित है।

धर्म की उत्पत्ति कर्म[2], जो कि जीवन का नियम है, के द्वारा होती है। अतः यहाँ कर्म के स्वरूप, कर्म के भेद, कर्म का कारण, उद्देश्य एवं उपकरणों आदि पर चर्चा करना अत्यन्त आवश्यक है। मीमांसा दर्शन में कर्म का तात्पर्य वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के रूप में समझा जाता है। वैसे कर्म हमारी प्रकृति का अविभाज्य अंग है। यह नित्य एवं सार्वजनीन है। कर्म के प्रत्यय में भौतिक वस्तुएँ तथा स्थान या दिक् अनिवार्य रूप से पूर्वकल्पित होता है। कर्म को उद्देश्य के आधार पर भी विशेषित कर सकते हैं तथा यह अंशों से युक्त होता है।[3] कर्म में दैहिक अंगों की गति अनिवार्य है। मानसिक कर्मों

१ वेदों के रचनाकार के बारे में प्रमुख रूप से दो मत हैं—(१) वेद ईश्वर प्रणीत हैं और द्वितीय अपौरुषेय। हमें वेदों को परम्परा से चले आ रहे आदेशों के रूप में समझना चाहिये। इस दृष्टि से इनके रचनाकार के बारे में प्रश्न उठाना निरर्थक है। उदाहरण के रूप में हम किसी पारिवारिक परम्परा को ले सकते हैं। यह परम्परा किसने डाली? यह प्रश्न निरर्थक है। प्रश्न यह अधिक समीचीन है कि यह परम्परा कितनी समयानुकूल है। इस परम्परा के मूलभूत आधार क्या हैं? वेदों में तीन प्रकार के कर्मों—नित्य-नैमित्तिक, निषिद्ध एवं काम्य कर्मों की बात की गई है। जिनका आधार है कि व्यक्ति के विकास के साथ सामाजिक समायोजन। वेदों के आदेशों को आकार के रूप में लेना चाहिये और उसमें विषयवस्तु समयानुकूल भर सकते हैं। लेकिन ध्यान यह रहे कि यह व्यक्ति के और समाज के विकास में सहायक होनी चाहिए।

२ कर्म के बारे में चर्चा मीमांसा-सूत्र के लगभग सभी अध्यायों में हुई है।

३ यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि मीमांसा एक प्रमुख कर्म में कर्म के लक्षणों को स्वीकार करता है। अतः प्रश्न होता है कि लौकिक या धार्मिक कर्म में क्या अन्तर है? इस प्रकार की चर्चा अमरीकी दार्शनिक आर्थर सी डान्टो ने की है। इस सन्दर्भ में मेरा लेख—'आर्थर सी डान्टो के मूल-क्रिया' के सम्प्रत्यय का विश्लेषण', दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष २४/अप्रैल १९७८, अंक २ द्रष्टव्य है।

जैसे कि विचार करना, कल्पना करना, ज्ञान प्राप्त करना आदि को भी कर्म एव खण्डो के रूप मे समझा जा सकता है।

वेद प्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के हैं—(१) काम्य कर्म, (२) निषिद्ध कर्म तथा (३) नित्य-नैमित्तिक कर्म। जो कर्म स्वर्ग आदि सुख को देने वाले पदार्थों के साधक हो उन्हें काम्य कर्म कहा जाता है। स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति द्वारा ज्योतिष्टोमेन यज्ञ करने को काम्य कर्म के उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है। श्रुति वाक्यो में कामना विशेष की सिद्धि के लिए यागादि कर्म का विधान है अत इन्हें 'काम्य कर्म' कहा गया है। जिन कर्मों को करने से अनिष्ट हो जैसे कि मृत्योपरान्त नरक की प्राप्ति आदि उन्हें निषिद्ध कर्म कहा गया है। उदाहरण के रूप में मास का भक्षण ब्राह्मण की हत्या, आदि निषिद्ध कर्म कहे गये हैं। नित्य-नैमित्तिक कर्म वे हैं जिन्हे करने पर कोई पुरस्कार या लाभ तो नही मिलता मगर न करने पर दोष लगता है। उदाहरण के रूप में सध्योपासना करना, कर्म परम्परा के पालन हेतु श्राद्ध करना आदि को ले सकते हैं।

वेद प्रतिपाद्य इन तीनो प्रकार के कर्मों को तीन प्रकार के कर्तव्यो के रूप मे समझ सकते हैं क्योंकि इनमे 'चाहिये' का भाव छिपा हुआ है। कुछ कर्मों को नही करना चाहिये (निषिद्ध कर्म), कुछ कर्मों को अनिवार्य रूप से करना चाहिये (नित्य-नैमित्तिक कर्म) तथा स्वर्गादि सुख की प्राप्ति के लिये धार्मिक कर्मो का अनुष्ठान करना चाहिये (काम्य कर्म)। प्रथम दो प्रकार के कर्तव्य सामाजिक एव व्यक्तिगत प्रकार के हैं और तृतीय प्रकार का कर्तव्य पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है। विधि की दृष्टि से अर्थात यागादि कर्मों के निष्पादन में अन्य व्यक्तियों का सहयोग आवश्यक हो सकता है लेकिन फल की दृष्टि से यह कर्तव्य पूर्णरूपेण व्यक्तिगत है।

इन कर्मों के करने पर मिलने वाले फल के बारे में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। उदाहरण के रूप में 'यजेत् स्वर्गकाम' आदि आदेश वाक्यो के आधार पर कर्म करने पर यज्ञ (कारण) और स्वर्ग (उद्देश्य या फल) के बीच कोई साक्षात् सम्बन्ध दिखाई नहीं देता और कहा जा रहा है कि फल की निष्पत्ति तत्काल न होकर बाद में होती है, तब प्रश्न यह है कि फल काल में कर्म की सत्ता के अभाव में फलोत्पत्ति किस प्रकार होता है?

मीमांसकों ने इस समस्या के समाधान हेतु 'अपूर्व' के प्रत्यय को स्वीकार किया है। इन विचारकों के अनुसार अपूर्व क्षणिक कर्म का कालान्तर में भावी

फल के साथ कार्य कारणभाव के उपपत्त्यर्थ एक शक्ति है[1] जो कर्म से उत्पन्न होती है और व्यक्ति की आत्मा मे रहती है। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक कर्म मे अपूर्व (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है।

कुमारिल ने अपने ग्रन्थ 'तन्त्रवार्तिक' मे अपूर्व के स्वरूप पर चर्चा की है। उनके अनुसार अपूर्व प्रधान कर्म मे अथवा कर्त्ता मे एक योग्यता है जो कर्म करने से पूर्व नही थी और जिसका अस्तित्व शास्त्र के आधार पर सिद्ध होता है। कर्म द्वारा उत्पन्न निश्चित शक्ति जो परिणाम तक पहुँचती है, अपूर्व है। अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। कर्त्ता द्वारा किया गया यज्ञ कर्त्ता मे साक्षात् शक्ति उत्पन्न करता है जो उसके अन्दर अन्यान्य शक्तियों की भांति जन्म भर विद्यमान रहती है और जीवन के अन्त मे प्रतिज्ञात पुरस्कार प्रदान करती है।

लेकिन दूसरी ओर प्रभाकर और उनके अनुयायी यह स्वीकार नही करते कि कर्म कर्त्ता के अन्दर एक निश्चित क्षमता उत्पन्न करता है जो अन्तिम परिणाम का निकटतम कारण है। कर्त्ता म इस प्रकार की क्षमता प्रत्यक्षादि प्रमाणो से भी सिद्ध नही होती। दूसरे शब्दो मे प्रभाकर के अनुसार क्षमता की कल्पना कर्म मे करना चाहिये न कि कर्त्ता मे।

मीमांसकों ने अपूर्व के चार प्रकारो की चर्चा की है—(१) परमापूर्व, (२) समुदायापूर्व (३) उत्पत्त्यपूर्व एवं (४) अंगापूर्व। साक्षात फल को उत्पन्न करने वाले अपूर्व को परमापूर्व या फलापूर्व कहते हैं। यह अन्तिम फल की प्राप्ति कराता है। जहाँ कई भाग मिलकर एक कर्म कहा जाता है वहाँ समुदायापूर्व

---

१ कर्म और फल के बीच सम्बन्ध की व्याख्या दो प्रकार से की गई है—

(१) कर्म से उत्पन्न शक्ति जो जीव म किसी न किसी रूप म सुरक्षित रहती है और समयानुसार स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है (यह मत जैन, बौद्ध और मीमांसकों का है।)

(२) स्वयं इस शक्ति म फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य नही होता, इसके अनुरूप फल उत्पन्न करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता पड़ती है (यह मत नैयायिकों एवं वेदान्तियों का है)।

प्रथम मत के अनुसार कर्म, अदृष्ट अपूर्व या संस्कार आदि प्राकृतिक कारण कार्य नियम की भांति फल उत्पन्न करता है। कर्मोत्पन्न शक्ति और फल में सीधा सम्बन्ध रहता है। दूसरे मत के अनुसार शक्ति या नियम में कारण्यात्मक सामर्थ्य नहीं हो सकता। यह सामर्थ्य केवल चेतन सत्ता म हो सकता है। वह सत्ता ईश्वर है।

२ कुमारिल

होता है। उदाहरण के रूप में दर्श पूर्णमास याग को ले सकते हैं। इसका प्रत्येक यज्ञ का अपना अपूर्व होता है जिसे उत्पत्त्यपूर्व अपूर्व कहते हैं। अंगों से उत्पन्न होने वाला अपूर्व अंगापूर्व कहलाता है।

मीमांसा दर्शन में कर्म सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन में बाद यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ये दार्शनिक मात्र कर्म काण्ड (अर्थात् व्यक्ति को क्या करना चाहिये) के बारे में चर्चा करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कहते ? उन द्वारा कर्म-काण्ड का किया गया विवेचन कर्म से सम्बन्धित क्या दृष्टि प्रस्तुत करता है ? इन प्रश्नों पर विवेचन सम्भवतः हमें उनके कर्म सम्बन्धी शिक्षा को उचित प्रकार से समझने में सहायक हो सकता है।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि कर्म हमारे स्वाभाविक अंग हैं, इन्हें त्यागा नहीं जा सकता। मीमांसक दो प्रकार के कर्मों में भेद करते हैं। प्रथम सहजकर्म और द्वितीय ऐच्छिक कर्म। ऐच्छिक कर्मों से बुद्धि का सम्बन्ध होता है। ऐच्छिक कर्म एक काल में एक ही हो सकता है। क्रिया का अर्थ है किसी या वस्तु का देश के साथ संयोग। लेकिन इससे कर्म का प्रत्यय सीमित एवं स्थानीय नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक ही विषय दो अलग-अलग कालों में अलग अलग स्थानों पर हो सकता है। उदाहरण के रूप में अगर हम यह कहें कि 'यह व्यक्ति मथुरा का रहने वाला है' तो हम उसे एक ही स्थान में सीमित नहीं कर सकते। (देखिये जैमिनी सूत्र अध्याय १, पाद ३, सूत्र १६ २१) कर्म का कारण कोई उद्देश्य—सन्तोष या सुख प्राप्ति की इच्छा—होता है। केवल जीवित प्राणियों के कर्मों का उद्देश्य होता है। कर्म में भी उद्देश्य होता है। कर्म, उद्देश्य एवं परिणाम में उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का विभिन्न अंगों का शरीर के साथ होता है। इच्छा जो कर्मों का आधार है, का उद्भव ज्ञान से होता है। इच्छा को मनस् के गुण के रूप में ले सकते हैं।

मीमांसा मत के अनुसार कर्म क्रिया पद द्वारा अभिव्यक्त होता है। क्रिया पद के अर्थ के लिये कर्त्ता और विषय की पूर्व कल्पना करनी पड़ती है। प्रत्येक क्रिया में आदेश छिपा रहता है। क्रिया का साधक कभी कहा जा सकता है जबकि उसमें आदेश निहित हो जैसा कि 'यजेत स्वर्गकाम।'[1] कर्म (गति) के ज्ञान के बारे में प्रभाकर का मत है कि हमें इसका ज्ञान अनुमान से होता है और कुमारिल के अनुसार प्रत्यक्ष द्वारा। प्रभाकर का मत है कि हम वस्तु का केवल किसी स्थान विशेष से जुड़ना और अलग होना देखते हैं और उसके आधार पर कर्म या गति का अनुमान करते हैं। कुमारिल कहते हैं कि हमें गति

---

1 इस बिन्दु की व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है। देखें मेरा लेख—[illegible] मीमांसीय [illegible] . ३१ वीं ऑल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस जयपुर, १९८२।

कर्म का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि यह वस्तु में ही होती है इसी से वह स्थान में किसी एक बिन्दु से जुडती है और अन्य से विलग होती है।

कुमारिल कर्त्ता को ही कर्म का कारण मानता है जबकि प्रभाकर का यह मत है कि कर्मों को किसी विशिष्टकर्त्ता, उसकी इच्छाओं और प्रेरणाओं से स्वतन्त्र करके विश्लेषित किया जा सकता है। प्रभाकर कर्म के विश्लेषण में निम्न पदों की चर्चा करते हैं—(१) कार्यता ज्ञान, (२) चिकीर्षा, (३) कृति, (५) चेष्टा और (६) बाह्य व्यवहार। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि कुमारिल कर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जबकि प्रभाकर कर्म की व्याख्या में हेतु उपागम की सहायता लेते हैं।[1]

दोहे

सुख-दुःख आते ही रहे, ज्यों भाटा ज्यों ज्वार।
मन विचलित होवे नहीं, देख चढाव–उतार॥

कपट रहे ना कुटिलता, रहे न मिथ्याचार।
शुद्ध धर्म ऐसा जगे, होय स्वच्छ व्यवहार॥

सहज सरल मृदु नीर-सा, मन निर्मल हो जाय।
त्यागे कुलिश, कठोरता, गाठ न बधने पाय॥

जो ना देखे स्वयं को, वही बाधता बन्ध।
जिसने देखा स्वय को, काट लिए दुःख द्वन्द्व॥

राग द्वेष की, मोह की, जब तक मन में खान।
तब तक सुख का, शान्ति का, जरा न नाम निशान॥

भोक्ता बनकर भोगते, बधन बधते जाय।
द्रष्टा बनकर देखते, बधन खुलते जाय॥

पाप होय झट रोक ले, करे न बारम्बार।
धर्मवान जाग्रत रहे, अपनी भूल सुधार॥

—सत्यनारायण गोयनका

---

१ विस्तृत विवेचना के लिए मेरे निम्न लेख द्रष्टव्य हैं—

१ Kumarila & Prabhakara's understanding of actions Indian Philosophical Quarterly Vol XI No 1, January 1984

२ मीमांसा का कर्मवाद और कुछ दार्शनिक समस्याएँ परामर्श, खण्ड ५ अंक १ १९८४,

२७ मसीही धर्म में कर्म की मान्यता

□ डॉ ए बी शिवाजी

समस्त धर्मों मे कर्म के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है किन्तु उसकी मान्यता प्रत्येक धर्म मे विभिन्न प्रकार की है। हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म मे कर्म की प्रधानता इतनी अधिक है कि उसी के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यदि तीनो धर्मों का निष्कर्ष निकाला जाए तो यह विदित होता है कि कर्मों से छुटकारा पाना ही मोक्ष, निर्वाण और कैवल्य है। दूसरे शब्दो मे कर्म की विवेचना यह हो सकती है कि कर्म, कार्य और कारण का ही रूप है जो कभी भी समाप्त नहीं होता। इसी कारण कर्म का विभाजन शुभ और अशुभ रूप से यह ध्यान में रखकर किया जाता है कि मनुष्य जो कुछ बोता है, वही काटता है।

मसीही धर्म मे यद्यपि कर्म को मान्यता दी है जैसा कि पौलुस लिखता है—"वह हर एक को उसके कामो के अनुसार बदला देगा।"[1] नये नियम मे एक अन्य स्थान पर पौलुस लिखता है—'धोखा न खाओ, परमेश्वर ठट्ठों मे नही उड़ाया जाता, क्योंकि मनुष्य जो कुछ बोता है वही काटेगा।"[2] इसमें कर्म मनुष्य करता है और कर्म का न्याय कोई अदृष्ट शक्ति करती है, जिसे परमेश्वर, ईश्वर, भगवान् कहते हैं। जैन धर्म और बौद्ध धर्म में तो ईश्वर को भी मान्यता प्राप्त नही है। इस कारण मनुष्य ही अपने कर्मों का स्वतंत्र रूप से करता है और उनके परिणामो को भोगता है, किन्तु मसीही धर्म में कर्म के साथ विश्वास और ईश्वर के अनुग्रह पर जो प्रभु यीशु मसीह के द्वारा प्राप्त होता है जोर दिया जाता है जिसका हम आगे चलकर अध्ययन करेंगे।

हिन्दू धर्म और जैन धर्म मे कर्म विषयक भिन्नता

हिन्दू धर्मावलम्बी की मान्यता यह है कि कर्म अमूर्त है, जबकि जैन धर्म की विचारधारा के अनुसार कर्म मूर्त है।

हिन्दू धर्म और जैन धर्म में कर्मों की मान्यता विषयक दूसरी भिन्नता इस बात पर रखती है। हिन्दू धर्मावलम्बी यह मानते है कि आत्मा के द्वारा पूर्वजन्म मे किये हुए कर्म नाश नही होते जबकि जैन धर्म के मतानुसार प्रत्येक आत्मा

---

1 रोमियों २ ६   2 गलतियों ६ ७

के कारए से नही होती। यदि जीव तप और शुभ कर्मों के द्वारा प्रयास करे तो जीव अज्ञान से छुटकारा पा लेता है और उसे समस्त पूव जन्मो और कृतियों की स्मृति हो जाती है।[1] भारतीय दर्शन के अवलोकन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू धम, जैन धर्म और बौद्ध धम मे भले ही कम विषयक एव उसकी मान्यता के सबध मे भिन्नता हो, किन्तु वे सभी कम ही को प्रधानता देते हैं और नैतिकता का आधार कम ही को मानते हैं। भारतीय विद्वानो ने कम सिद्धान्त पर बल देते हुए यह दर्शाया है कि मसीही धम मे कम विचार की कमी है जैसा कि आचाय रजनीश ने 'महावीर वाणी' मे कहा है कि 'इस्लाम और ईसाइयत मे बहुत मौलिक आचार की कमी है, कम के विचार की।"[2]

हिन्दू धम मे ईश्वर को सत्ता को स्वीकार किया गया है किन्तु ईश्वर कम के व्यापार मे हस्तक्षेप नही करता। कम को मान्यता को बताते हुए लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने लिखा है कि "कम का यह चक्र जब एक बार प्रारम्भ हो जाता है, तब उसे फिर परमेश्वर भी नही रोक सकता।"[3] एक अन्य स्थान पर उन्होने स्पष्ट लिखा है कि "कम अनादि है, और उसके अगाड व्यापार मे परमेश्वर भी हस्तक्षेप नही करता।"[4] इसका अथ यह हुआ कि कम की अपनी पृथक सत्ता है व ईश्वर की अलग पृथक् सत्ता है। इस प्रकार द्वैत की विचारधारा जन्म लेती है। कम को अनादि कहना और परमेश्वर का हस्तक्षेप न मानने के कारए ही पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय दर्शन एव धम में मान्यता प्राप्त कम के प्रत्यय की आलोचना की है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा आलोचना

फरक्यूअर ने अपनी पुस्तक दी क्राउन ऑफ हिन्दूइज्म' मे कम की आलोचना करते हुए लिखा है कि कम और पुनजन्म ने एक नय सिद्धान्त को रूप

---

१ 'The other point of difference they stress on is that while Hindus think Karma as formless Jains believe Karma to have shape Karma according to its origin does inflict hurt or benefit it Must have a form Some Hindus believe that it is owing to maya (illusion) that all remembrance of the deeds done in previous birth which led to the accumulation of Karma is forgotten but Jains hold that it is owing to Ajnana (ignorance) and when the soul by means of austerity and good actions has got rid of Ajnana it attains omniscience and remembers all the births it has under gone and all that happened in them Heart of Jainism— Stevenson P 175

२ महावीर वाणी—आचार्य रजनीश पृ २०५

३ गीता रहस्य—बालगगाधर तिलक, पृ २७१ (हिन्दी अनुवाद) ४ वही—पृ २८८

की जगह होती, परन्तु परमेश्वर के निकट नहीं।"[१] यह कथन करने वाला वही पौलुस है जो प्रभु यीशु मसीह का आरम्भ में शत्रु था किन्तु दर्शन पाने के बाद वह मसीह धर्म का अनन्य भक्त हुआ और अन्य शिष्यों के साथ यह विश्वास करने वाला हुआ कि "प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास कर तो तू और तेरा घराना उद्धार पायेगा"[२] प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास ही उसका जीवन दान था। नये नियम में उसके द्वारा लिखित कई पत्रियों में इस बात के प्रमाण हैं। जीवन में मोक्ष का आधार कर्म नहीं, विश्वास है। एक स्थान पर पौलुस कहता है कि "विश्वास से धर्मी जन जीवित रहेगा।"[३] एक अन्य स्थान पर वह कहता है कि "यह बात प्रगट है कि व्यवस्था के द्वारा परमेश्वर के यहाँ कोई धर्मी नहीं ठहरता क्योंकि धर्मीजन विश्वास से जीवित रहेगा।"[४]

प्रभु यीशु मसीह के अन्य शिष्यों ने भी विश्वास पर बल दिया है। इसी विश्वास को लेकर यूहन्ना प्रभु यीशु मसीह के शब्दों को लिखता है कि "यदि तुम विश्वास न करोगे कि मैं वही हूँ तो अपने पापों में मरोगे।"[५]

मसीह धर्म में शरीर और आत्मा के कर्म

मसीही धर्म में शरीर और आत्मा के कर्मों को गिनाया गया है। पवित्र शास्त्र बाइबल का दृष्टिकोण हमारे धार्मिक कार्यों के प्रति जो बिना विश्वास के हैं, मैले चिथड़ों के समान हैं। पुराने नियम में यशायाह नबी की पुस्तक में बताया गया है कि "हम तो सब के सब अशुद्ध मनुष्य के से हैं और हमारे धर्म के काम सब के सब मैले चिथड़ों के समान हैं।"[६] फिर भी शरीर और आत्मा के कर्मों में भेद किये गये हैं। इन भेदों का वर्णन पौलुस ने किया है। वह लिखता है—"शरीर के काम तो प्रगट हैं अर्थात् व्यभिचार, गन्दे काम, लुचपन, मूर्ति पूजा, टोना, बैर, झगड़ा, ईर्षा, क्रोध, विरोध, फूट, विधर्म, डाह, मतवालापन, लीला, क्रीड़ा, ऐसे ऐसे काम करने वाले परमेश्वर के राज्य के वारिस न होंगे। पर आत्मा का फल प्रेम, आनन्द, मेल, धीरज, कृपा, भलाई, विश्वास, नम्रता और संयम हैं, ऐसे ऐसे कामों के विरोध में कोई व्यवस्था नहीं।"[७]

कर्मों के द्वारा ईश्वर की महिमा

कभी-कभी शुभ कर्म करने वाला व्यक्ति अर्थात् धर्मी व्यक्ति भी ईश्वर पर दोष लगाता है कि उसे अच्छे कर्म करते हुए भी विपत्ति, दुःख उठाने पड़ते हैं। बाइबल में ऐसे तीन उदाहरण हैं। एक पुराने नियम में और दो नये नियम में।

---

१ रोमियो ४ : २
२ प्रेरितों के काम १६ : ३१
३ रोमियो १ : १७
४ गलतियों ३ : ११
५. यूहन्ना ८ : २४
६ यशायाह ६४ : ६
७. गलतियों ५ : १९-२२

जिसके द्वारा मसीह धम मे कम का ज्ञान होता है कि अच्छे कर्म करने पर भी विपत्ति आती है, बिना कम किये भी जन्म से अधा होना पडता है और अशुभ कम करने के बाद भी उद्धार हो जाता है। पुराने नियम (old testament) मे अय्यूब नामक एक धर्मी व्यक्ति का बयान है। परमेश्वर उसे शैतान के हाथो सौंपता है और उस पर विपत्ति आती है फिर भी अय्यूब ईश्वर पर दोष नही लगाता जैसा कि लिखा है—"इन सब बातो मे भी अय्यूब ने न तो पाप किया और न परमेश्वर पर मूखता से दोष लगाया"[1] और शैतान परमेश्वर के भक्त के सामने पराजित होता है क्योकि जसा कहा गया है कि "धर्मी पर बहुत सी विपत्तिया पडती तो हैं परन्तु यहोवा उनको उन सब से मुक्त करता है।"[2] विपत्ति पडने पर भी अय्यूब विचलित नही हुआ और उसके कर्मों के द्वारा परमेश्वर की महिमा हुई।[3]

दूसरा वणन एक जन्म के अधे का है जो नये नियम मे यूहन्ना के नौव अध्याय मे वर्णित है। प्रभु यीशु मसीह के चेले उससे पूछते हैं "रब्बी किस ने पाप किया था कि यह अधा जन्मा, इस मनुष्य ने, या उसके माता पिता ने ?" यीशु ने उत्तर दिया कि न तो इसने पाप किया था, न इसके माता-पिता ने, परन्तु यह इसलिये हुआ कि परमेश्वर क काम उसमें प्रकट हों।" इसी कारण मसीही धर्म पुनजन्म के सिद्धान्त मे विश्वास नही करता।

तीसरा वणन प्रभु यीशु मसीह के एक मित्र लाजर का है जो यूहन्ना रचित सुसमाचार के ग्यारहवें अध्याय मे वर्णित है कि प्रभु यीशु मसीह को लाजर की बीमारी का सदेश भेजा जाता है और उस समय वे कहते हैं कि 'यह बीमारी मृत्यु की नही, परन्तु परमेश्वर की महिमा के लिए है कि उसके द्वारा परमेश्वर के पुत्र की महिमा हो।"

एक अन्य उदाहरण डाकू का है जिसने जीवन भर अशुभ कम किये, प्रभु यीशु मसीह की मृत्यु के समय दो डाकू भी उनके साथ क्रूस पर लटकाये गये थे। एक प्रभु यीशु मसीह की निन्दा कर कह रहा था कि अपने आप को और हमे बचा। दूसरा डाकू पहिले डाकू को डाटता है कि हम तो अपने कुकम का दण्ड पा रहे हैं किन्तु इस पवित्र मनुष्य ने क्या किया ? और तब वह यीशु मसीह से कहता है कि "जब तू अपने राज्य मे आए, तो मेरी सुधि लेना।" प्रभु यीशु मसीह न उस डाकू से कहा कि "आज ही तू मेरे साथ स्वग लोक म होगा।"[4]

इन उदाहरणो मे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य अपने पूव जन्म के कर्मों को नहीं भोगता और न ही पूवजन्म के कर्मों का कोई उत्तरदायित्व है।

---

१ अय्यूब १ २२ २ भजन संहिता ३४ १९

३ सम्पूर्ण अध्ययन के लिए पढिये अय्यूब १ और २

४ लूका २३ ३९-४३

कर्म और अनुग्रह

मसीही धर्म में कर्म के साथ ही अनुग्रह का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि उद्धार अनुग्रह के ही कारण है। यदि ईश्वर अनुग्रह न करे तो कर्म व्यर्थ है। बाइबल में लिखा है—"जो मुझ से, हे प्रभु, हे प्रभु कहता है, उनमें से हर एक स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करेगा।"[1] मसीही धर्म इसीलिए अनुग्रह का प्रचार करता है क्योंकि लिखा है—"क्योंकि विश्वास के द्वारा अनुग्रह ही से तुम्हारा उद्धार हुआ है, और यह तुम्हारी ओर से नहीं, वरन् परमेश्वर का दान है और न कर्मों के कारण, ऐसा न हो कि कोई घमण्ड करे।"[2] जीवन में पवित्रता अनुग्रह के ही द्वारा आती है। पौलुस लिखता है कि "मैं परमेश्वर के अनुग्रह को व्यर्थ नहीं ठहराता, क्योंकि यदि व्यवस्था के द्वारा धार्मिकता होती तो मसीह का मरना व्यर्थ होता।"[3] पौलुस का पूर्ण विश्वास था कि प्रभु यीशु मसीह की मृत्यु ही अनुग्रह को पृथ्वी पर मानवता के लिए लाई है।

अनुग्रह को कभी भी क्रय नहीं किया जा सकता और न ही धार्मिक कर्मों के द्वारा अर्जित किया जा सकता है किन्तु अनुग्रह उन्हीं पर होता है जो परमेश्वर की आज्ञा मानता है। पौलुस समझाते हुए लिखता है "पाप की मजदूरी तो मृत्यु है परन्तु परमेश्वर का वरदान हमारे प्रभु यीशु मसीह में अनन्त जीवन है।"[4] इसी अनुग्रह के बारे में वह आगे कहता है—"तो उसने हमारा उद्धार किया, और यह धर्म के कार्यों के कारण नहीं, जो हमने आप किए, पर अपनी दया के अनुसार नए जन्म के स्नान, और पवित्र आत्मा के हमें नया बनाने के द्वारा हुआ।"[5]

उपसंहार

मसीही धर्म में कर्म की मान्यता होते हुए भी अनुग्रह का महत्त्व है। वास्तव में परमेश्वर का प्रेम मनुष्य जाति के लिए उसका अनुग्रह है जिसके द्वारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है। एक गुजराती लेखक धनजी भाई फकीर भाई अनुग्रह के बारे में लिखते हैं कि "अनुग्रह कोई जादू का प्रभाव नहीं है अथवा कोई तत्त्व अथवा कोई दान नहीं है किन्तु अनुग्रह एक व्यक्ति है जो प्रभु यीशु मसीह स्वयं हैं।"[6] इस प्रकार मसीही धर्म में कर्म, विश्वास और अनुग्रह का एक संगम है।

□

---

1. मत्ती ७ : २१ 2. इफिसियों २ : ८-९
3. गलतियों २ : २१ 4. रोमियों ६ : २३
5. तीतुस ३ : ५
6. Kristopanishad—Dhanji Bhai Fakir Bhai P. 21

२८ | इस्लाम धर्म में कर्म का स्वरूप

☐ डॉ० निजाम उद्दीन

इस्लाम धर्म संसार के परित्याग की, विरक्ति की ओर ले जाने वाला धर्म नही, तर्के दुनिया या रहबानियत का संदेश देने वाला नही। वह कर्म का संदेश देता है, संयम से जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस लोक के साथ परलोक पर भी उसकी दृष्टि रहती है और परलोक को इहलोक पर प्राथमिकता देता है। मनुष्य कर्म करने में पूर्णत स्वतन्त्र है, उसे अपने कर्मों का फल भी निश्चित रूप मे भोगना है और 'रोजे-महशर' मे—'अन्तिम निर्णय' के दिन उसे अल्लाह के दरबार मे हाजिर होकर अपने कर्मों का हिसाब देना होता है—"जो व्यक्ति सत्कर्म करेगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि वह मोमिन हो, उसे हम ससार में पवित्र जीवन व्यतीत करायेंगे और परलोक मे ऐसे व्यक्तियों को उनके प्रतिकार, पुण्य, उत्तम कर्मों के अनुसार प्रदान किये जायेंगे।"[1]

जैसा कर्म वैसा फल मिलेगा। स्वर्ग और नरक का—जन्नत व दोजख का निर्णय लोगो के हश्र मे कर्मों के आधार पर ही होगा—डॉ० इकबाल ने ठीक फरमाया है —

> अमल से जिंदगी बनती है जन्नत भी जहन्नुम भी,
> यह खाकी अपनी फ़ितरत में, न नूरी है न नारी है।

कुरआन मे बार-बार यह घोषणा की गई है—"व बश्शिरिल्लज़ीना आमनू व आमिलुस्सुआलिहाति अन्नालहुम जन्नातिन तजरी मिन-तहतिहुम अन्हार।"[2]

ए पैग़म्बर! खुशखबरी सुना दीजिए उन लोगों को जो ईमान लाए और काम किये अच्छे, इस बात की कि निःसंदेह उनके लिए जन्नतें (स्वर्ग) हैं जिनके नीचे नहरें बहती हैं।

१—कुरआन, नहल—१२८
२—बकर २५

कर्म और अनुग्रह

मसीही धर्म में कर्म के साथ ही अनुग्रह का बहुत अधिक महत्व है क्योंकि उद्धार अनुग्रह के ही कारण है। यदि ईश्वर अनुग्रह न करे तो कर्म व्यर्थ है। शास्त्र में लिखा है—"जो मुझ से, हे प्रभु, हे प्रभु कहता है, उनमें से हर एक स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करेगा।"[१] मसीही धर्म इसीलिए अनुग्रह का प्रचार करता है क्योंकि लिखा है—"क्योंकि विश्वास के द्वारा अनुग्रह ही से तुम्हारा उद्धार हुआ है और यह तुम्हारी ओर से नहीं वरन् परमेश्वर का दान है और न कर्मों के कारण ऐसा न हो कि कोई घमण्ड करे।"[२] जीवन में पवित्रता अनुग्रह के द्वारा आती है। पौलुस लिखता है कि "मैं परमेश्वर के अनुग्रह को व्यर्थ नहीं ठहराता, क्योंकि यदि व्यवस्था के द्वारा धार्मिकता होती तो मसीह का मरना व्यर्थ होता।"[३] पौलुस का पूर्ण विश्वास था कि प्रभु यीशु मसीह की मृत्यु ही अनुग्रह को पृथ्वी पर मानवता के लिए लाई है।

अनुग्रह को कभी भी क्रय नहीं किया जा सकता और न ही धार्मिक कर्मों के द्वारा अर्जित किया जा सकता है किन्तु अनुग्रह उन्हीं पर होता है जो परमेश्वर की आज्ञा मानता है। पौलुस समझाते हुए लिखता है "पाप की मजदूरी तो मृत्यु है परन्तु परमेश्वर का वरदान हमारे प्रभु यीशु मसीह में अनन्त जीवन है।"[४] इसी अनुग्रह के बारे में वह आगे कहता है—"तो उसने हमारा उद्धार किया, और यह धर्म के कार्यों के कारण नहीं, जो हमने आप किए, पर अपनी दया के अनुसार नए जन्म के स्नान, और पवित्र आत्मा के हमें नया बनाने के द्वारा हुआ।"[५]

उपसंहार

मसीही धर्म में कर्म की मान्यता होते हुए भी अनुग्रह का महत्व है। वास्तव में परमेश्वर का प्रेम मनुष्य जाति के लिए उसका अनुग्रह है जिसके द्वारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है। एक गुजराती लेखक धनजी भाई फकीर भाई अनुग्रह के बारे में लिखते हैं कि "अनुग्रह कोई जादू का प्रभाव नहीं है अथवा कोई तत्व अथवा कोई दान नहीं है किन्तु अनुग्रह एक व्यक्ति है जो प्रभु यीशु मसीह स्वयं हैं।"[६] इस कारण मसीही धर्म में कर्म, विश्वास और अनुग्रह का एक संगम है।

□

---

१ मत्ती ७ : २१ २ इफिसियों २ : ८-९
३ गलातियों २ : २१ ४ रोमियों ६ : २३
५ तीतुस ३ : ५
६ Kristopanishad — Dhanji Bhai Fakir Bhai P. 21

२८ इस्लाम धर्म में कर्म का स्वरूप

□ डॉ० निजाम उद्दीन

इस्लाम धर्म ससार के परित्याग की, विरक्ति की ओर ले जाने वाला धर्म नही, तर्के दुनिया या रहबानियत का सदेश देने वाला नही। यह कर्म का सदेश देता है, सयम से जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस लोक के साथ परलोक पर भी उसकी दृष्टि रहती है और परलोक को इहलोक पर प्राथमिकता देता है। मनुष्य कर्म करने मे पूर्णत स्वतन्त्र है, उसे अपने कर्मों का फल भी निश्चित रूप मे भोगना है और 'रोजे-महशर' मे—'अन्तिम निर्णय' के दिन उसे अल्लाह के दरबार मे हाजिर होकर अपने कर्मों का हिसाब देना होता है—"जो व्यक्ति सत्कर्म करेगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि वह मोमिन हो, उसे हम ससार मे पवित्र जीवन व्यतीत करायेंगे और परलोक मे ऐसे व्यक्तियो को उनके प्रतिकार, पुण्य, उत्तम कर्मों के अनुसार प्रदान किये जायेंगे।"[१]

जैसा कर्म वैसा फल मिलेगा। स्वर्ग और नरक का—जन्नत व दोजख का निर्णय लोगो के हक में कर्मों के आधार पर ही होगा—डॉ० इकबाल ने ठीक फरमाया है—

> अमल से जिंदगी बनती है जन्नत भी जहन्नुम भी,
> यह खाकी अपनी फ़ितरत में, न नूरी है न नारी है।

कुरआन मे बार-बार यह घोषणा की गई है—"व बश्शिरिल्लजीना आमनू व आमिलुस्सुआलिहाति अन्नालाहुम जन्नातिन तजरी मिन-तहतिहल अन्हार।"[२]

ए पैग़म्बर! खुशखबरी सुना दीजिए उन लोगों को जो ईमान लाए और काम किये अच्छे, इस बात की कि निःसदेह उनके लिए जन्नतें (स्वर्ग) हैं जिनके नीचे नहरें बहती हैं।

१—कुरआन, नहल—१२२

२—बकर्‌हर २१

कर्म और अनुग्रह

मसीही धर्म में कर्म के साथ ही अनुग्रह का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि उद्धार अनुग्रह के ही कारण है। यदि ईश्वर अनुग्रह न करे तो कर्म व्यर्थ है। शास्त्र में लिखा है—"जो मुझ से, हे प्रभु, हे प्रभु कहता है, उनमें से हर एक स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करेगा।"[1] मसीही धर्म इसीलिए अनुग्रह का प्रचार करता है क्योंकि लिखा है—"क्योंकि विश्वास के द्वारा अनुग्रह ही से तुम्हारा उद्धार हुआ है और यह तुम्हारी ओर से नहीं, वरन् परमेश्वर का दान है और न कर्मों के कारण ऐसा न हो कि कोई घमण्ड करे।"[2] जीवन में पवित्रता अनुग्रह के द्वारा आती है। पौलुस लिखता है कि "मैं परमेश्वर के अनुग्रह को व्यर्थ नहीं ठहराता, क्योंकि यदि व्यवस्था के द्वारा धार्मिकता होती तो मसीह का मरना व्यर्थ होता।"[3] पौलुस का पूर्ण विश्वास था कि प्रभु यीशु मसीह की मृत्यु ही अनुग्रह को पृथ्वी पर मानवता के लिए लाई है।

अनुग्रह को कभी भी क्रय नहीं किया जा सकता और न ही धार्मिक कर्मों के द्वारा अर्जित किया जा सकता है किन्तु अनुग्रह उन्हीं पर होता है जो परमेश्वर की आज्ञा मानता है। पौलुस समझाते हुए लिखता है "पाप की मजदूरी तो मृत्यु है परन्तु परमेश्वर का वरदान हमारे प्रभु यीशु मसीह में अनन्त जीवन है।"[4] इसी अनुग्रह के बारे में वह आगे कहता है—"तो उसने हमारा उद्धार किया, और यह धर्म के कामों के कारण नहीं, जो हमने आप किए, पर अपनी दया के अनुसार नए जन्म के स्नान, और पवित्र आत्मा के हमें नया बनाने के द्वारा हुआ।"[5]

उपसंहार

मसीही धर्म में कर्म की मान्यता होते हुए भी अनुग्रह का महत्त्व है। वास्तव में परमेश्वर का प्रेम मनुष्य जाति के लिए उसका अनुग्रह है जिसके द्वारा मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है। एक गुजराती लेखक धनजी भाई फकीर भाई अनुग्रह के बारे में लिखता है कि "अनुग्रह कोई जादू का प्रभाव नहीं है अथवा कोई तत्त्व अथवा कोई दान नहीं है किन्तु अनुग्रह एक व्यक्ति है जो कि यीशु मसीह स्वयं हैं।"[6] इस कारण मसीही धर्म में कर्म, विश्वास और अनुग्रह का एक संगम है।

□

१ मत्ती ७ : २१ — २ इफिसियों २ : ८-९
३ गलातियों २ : २१ — ४ रोमियों ६ : २३
५ तीतुस ३ : ५
६ Kristopanished — Dhanji Bhai Fakir Bhai, P. 21

२८ इस्लाम धर्म में कर्म का स्वरूप

☐ डॉ० निज़ाम उद्दीन

इस्लाम धर्म ससार के परित्याग की, विरक्ति की ओर ले जाने वाला धर्म नहीं, तर्क दुनिया या रहबानियत का सदेश देने वाला नहीं। यह धर्म का सदेश देता है, सयम से जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस लोक के साथ परलोक पर भी उसकी दृष्टि रहती है और परलोक को इहलोक पर प्राथमिकता देता है। मनुष्य कर्म करने में पूर्णत स्वतन्त्र है, उसे अपने कर्मों का फल भी निश्चित रूप में भोगना है और 'रोजे-मशहर' में—'अन्तिम निर्णय' के दिन उसे अल्लाह के दरबार मे हाजिर होकर अपने कर्मों का हिसाब देना होता है—"जो व्यक्ति सत्कर्म करेगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि वह मोमिन हो, उसे हम संसार मे पवित्र जीवन व्यतीत करायेंगे और परलोक मे ऐसे व्यक्तियों को उनके प्रतिकार, पुण्य, उत्तम कर्मों के अनुसार प्रदान किये जायेंगे।"[१]

जैसा कर्म वैसा फल मिलेगा। स्वर्ग और नरक का—जन्नत व दोजख का निर्णय लोगो के हक मे कर्मों के आधार पर ही होगा—डॉ० इकबाल ने ठीक फरमाया है —

> अमल से जिंदगी बनती है जन्नत भी जहन्नुम भी,
> यह खाकी अपनी फ़ितरत मे, न नूरी है न नारी है।

कुरआन में बार-बार यह घोषणा की गई है—"व बश्शिरिल्लज़ीना आमनू व अमिलुस्सुआलिहाति अन्नालहुम जन्नातिन तजरी मिन-तहतिहल अन्हार।"[२]

ए पैगम्बर! खुशखबरी सुना दीजिए उन लोगों को जो ईमान लाए और काम किये अच्छे, इस बात की कि नि संदेह उनके लिए जन्नतें (स्वर्ग) हैं जिनके नीचे नहरें बहती हैं।

१—कुरआन, नहल—१२१

२—बकरा २१

वालो पर और दासो की—बधको की मुक्ति पर खर्च करे, नमाज क़ायम करे, ज़कात (वार्षिक लाभ का २½ प्रतिशत) दे। और नेक वे लोग हैं जो प्रण करें, वायदा करें तो उसे पूर्ण करें, और तगी एव मुसीबत के समय मे, सत्य और असत्य के सघर्ष मे सब्र करें। यह है सत्यवादी लोग, और यही लोग मुत्तक़ी हैं, सयमी हैं।[1]"

'तक़्वा' क्या है? इस पर भी विचार करना आवश्यक है। कुरआन मे तक़्वा करने वाले को, सयमी को इस रूप मे व्यजित किया गया है—"जो अदृश्य या गैब पर विश्वास करते हैं ईमान लाते हैं, नमाज कायम करते हैं—नियमित रूप मे नमाज पढते हैं, और जो अन्न हमने उनको दिया है उसमे से व्यय करते हैं, जो किताब (कुरआन) तुम पर उतारी गई है और जो किताबें तुमसे पहले उतारी गई हैं उन सब पर ईमान लाते हैं और आखिरत पर विश्वास करते हैं ऐसे लोग अपने रब की तरफ से सद्मार्ग पर हैं और वही पुण्य, लाभ प्राप्त करने वाले हैं।" 'सूरे आले इमरान' मे फ़रमाया गया है—"जो प्रत्येक दशा में अपना धन खर्च करते हैं, चाहे अच्छी दशा मे हों या चाहे दुर्दशा मे हो, जो क्रोध को पी जाते हैं और दूसरो के दोष क्षमा कर देते हैं, ऐसे नेक लोग अल्लाह को बहुत पसन्द हैं और जिनकी दशा यह है कि यदि कोई अश्लील कार्य उनसे हो जाये या किसी गुनाह को करके अपने ऊपर अत्याचार कर बैठते हैं तो अल्लाह उन्हें याद आता है और उससे वे अपने दोषो की क्षमा चाहते हैं और अल्लाह के अतिरिक्त और कौन है जो गुनाह क्षमा कर सकता है? और वह कभी जानबूझकर अपने किये पर आग्रह नही करते। ऐसे लोगों का प्रत्युपकार उनके रब के पास यह है कि वह उन्हें क्षमा कर देगा और ऐसे उपवनो में उन्हे दाखिल करेगा, जिनके नीचे नहरें बहती होगी और वहाँ वह सदैव रहेंगे।" क्या अच्छा बदला है नेक, सत्कर्म करने वालो के लिए।

इस्लाम धर्म मे कर्मों के स्वरूप पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—

(१) ऐसे कर्म जिनका समाज से सम्बन्ध है, उन्हें लौकिक कर्म कह सकते हैं। मनुष्य परस्पर अन्य मनुष्यो से जो व्यवहार करता है वे कर्म इसी श्रेणी में आयेंगे।

(२) आध्यात्मिक कर्म वे हैं जिनका सबध नमाज, रोजा, हज और ज़कात से है। मनुष्य को अल्लाह के अतिरिक्त किसी की पूजा-इबादत नही करनी चाहिए, अल्लाह के अतिरिक्त कोई आराध्य नहीं, यह इस्लाम धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है और इस पर अमल करना प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है। इसी को

1—कुरआन बकर:—१७७

'तौहीद' कहते हैं और इसी में इस्लाम धर्म का मूलमंत्र (कलमा) समाहित है—
"ला इलाहा इल्लल्लाह मुहम्मदुर्रसूलल्लाह ।" अर्थात् अल्लाह के सिवा कोई पूज्य नहीं—इबादत के योग्य नहीं, मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं—संदेश वाहक हैं ।

जब हम सामाजिक कर्मों की ओर ध्यान देते हैं तो निम्न बातें सामने आती हैं । इन्हें भी अल्लाह का आदेश मानना चाहिए—

(१) माता-पिता के साथ, सद्व्यवहार करो, यदि तुम्हारे पास उनमें से कोई एक या दोनों वृद्ध होकर रहें तो उन्हें उफ तक न कहो, न उन्हें झिड़क कर उत्तर दो, वरन् उनसे सादर बातें करो, नम्रता और दया के साथ उनके सामने झुक कर रहो और दुआ करो—परवरदिगार ! इन पर दया कृपा कर, जिस तरह प्रेम, दया, करुणा के साथ उन्होंने मेरा पालन-पोषण किया है ।

(२) अपने सम्बन्धियों को, याचकों को, अनाथों को, दीन निर्धन को अपना हक़—अधिकार दो ।

(३) मितव्ययी बनो, अधिक या फ़ज़ूल व्यय करने वाले शैतान के भाई हैं और शैतान ने अपने परमात्मा का एहसान नहीं माना ।

(४) बलात्कार के पास भी न फटको, यह बहुत ही बुरा कर्म है और बहुत ही बुरा मार्ग है ।

(५) अनाथ के माल सम्पत्ति के पास मत जाओ, पर उत्तम प्रकार मार्ग अपनाओ जब तक कि वह वयस्कता को प्राप्त न हो ।

(६) प्रण या वचन की पाबन्दी करो, निःसंदेह वचन के बारे में तुम्हें उत्तरदायी होना पड़ेगा ।

(७) पृथ्वी पर अकड़ कर मत चलो, न तुम पृथ्वी को विदीर्ण कर सकते हो, न पर्वतों की उच्चता तक पहुँच सकते हो ।

(८) न तो अपना हाथ गरदन से बाँध कर रखो और न उसे बिल्कुल ही खुला छोड़ दो कि भर्त्सना, निन्दा, विवशता का शिकार बनो । तेरा रब जिसके लिए चाहता है, रोजी का विस्तार करता है और जिसके लिए चाहता है उसे सीमित कर देता है ।

(९) अपनी सन्तान को दरिद्रता के कारण हत्या न करो, अल्लाह सबको अन्न देने वाला है, उनकी हत्या एक बड़ा अपराध है ।

(१०) किसी को नाहक कत्ल मत करो ।

(११) किसी ऐसी वस्तु का अनुकरण मत करो जिसका तुम्हें ज्ञान न हो। नि सदेह आँख, नाक, कान, हाथ, दिल—सब की पूछ-गछ होनी है।

(१२) मजदूर की मजदूरी उसका श्रम सूखने से पहले दे दो।

(१३) अपने नौकर के साथ समानता का व्यवहार करो, जो स्वय खाम्रो वही उसे खिलाम्रो, जैसा स्वय पहनो वैसा उसे भी पहनाम्रो।

(१४) नाप कर दो तो पूरा भर कर दो, तोल कर दो तो पूरा, ठीक तराजू से तोल कर दो।

(१५) अमानत मे खियानत—बेईमानी मत करो। कुरम्रान म कहा गया है—

मन अमिला सालिहन मिन जिकरिन अव उन्सा य हुवा मुमिनुन फ़ला नुहयीयन्नाहू हयातन तय्यिबा। वला नजज़ियन्नाहुम अजराहुम बिअहसनि माकानू यअमालून।[1]

अर्थात् व्यक्ति जो नेक अमल करेगा चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बशर्ते कि हो वह मोमिन (ईमान, विश्वास रखने वाला) उसे हम ससार मे पवित्र जीवन व्यतीत करायेंगे और आखिरत मे—परलोक मे ऐसे लोगो को उनके उत्तम कर्मों के अनुसार प्रत्युपकार या प्रतिफल प्रदान किया जायेगा।

'सूरे कहफ़' मे अकित है—"इन्नल्लज़ीना आमनू व अमिलुस्सालिहाति इन्ना ला नुज़ीउ अजरामन अहसना अमाला"—जो ईमान लायें और नेक काम करें तो नि सदेह हम सत्कर्म करने वालों के फल नष्ट नही किया करते।

एक सच्चा मुसलमान यह आस्था रखता है कि मनुष्य को मुक्ति प्राप्त करने के लिए अल्लाह के निर्देशन में कर्म करना चाहिए, मुक्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य को आस्था के साथ कर्मशील रहना होगा। यह आस्था और कर्म दोनो का सयोग आवश्यक है। जीवन को आस्थामय बनाना होगा, बिना आस्था के कर्म और बिना कर्म के आस्था बेकार है। केवल कर्म, केवल आस्था का आश्रय लेकर मुक्ति प्राप्त नही की जा सकती। इस्लाम में अन्धानुकरण को पसन्द नही किया गया। ईमान के पाँच तत्त्व हैं—(१) अल्लाह (२) पैगम्बरों की परम्परा (३) धर्म ग्रन्थ (कुरम्रान, बाइबिल आदि) (४) देवदूत (५) आखिरत या परलोक। इन पर विश्वास, आस्था रखने पर ही एक व्यक्ति मुसलमान माना जा सकता है।

1—महल ६७

जहाँ तक धार्मिक या आध्यात्मिक कर्मों का सम्बन्ध है उन्हें 'इबादात' कहा जाता है। रोजा, नमाज आदि इन्हीं में सम्मिलित हैं। इस्लाम धर्म के अनुयायियों पर यह फर्ज है कि (१) वे दिन में पाँच समय नमाज अदा करें, (२) साल में एक महीने तक (रमजान के महीने में ही) रोजा रखें, (३) धन सम्पन्न हो तो जीवन में एक बार अवश्य 'हज' करें, (४) अपनी वार्षिक आय का २½ प्रतिशत दान करें। इन आवश्यक कर्मों के द्वारा आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। ये इस्लाम के चार प्रमुख धर्म-स्तम्भ हैं।

खुदा हमारी नमाज का भूखा नहीं, नमाज के द्वारा मनुष्य के जीवन के व्यवहार में परिवर्तन होना आवश्यक है। नमाज द्वारा निम्न बातें प्राप्त होनी चाहिए—(१) इसके द्वारा अल्लाह के अस्तित्व और उसके गुणों के विषय में मनुष्य की आस्था दृढ़ होती है। आस्था प्राणों में घुलमिल जाती है, प्राण का एक अंग बन जाती है। (२) नमाज ईमान को जीवित, ताजा रखती है। (३) इसके द्वारा मनुष्य की महानता, उच्चाचरण, श्रेष्ठता, सदाचार का विकास, सौंदर्य की तथा प्रकृति की आशा-उमंगों को पूरा करने में मनुष्य की सहायता करती है। (४) नमाज हृदय को पवित्र करती है, बुद्धि का विकास करती है, अन्तरात्मा को सचेत तथा जीवित रखती है, आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। (५) नमाज के द्वारा मनुष्य की अच्छाइयाँ प्रकट होती हैं और बुरी अपवित्र बातें समाप्त हो जाती हैं।

रोजा मनुष्य को अल्लाह से प्रेम करना सिखाता है क्योंकि रोजा केवल अल्लाह की खुशनूदी—प्रसन्नता के लिए रखा जाता है। इसके द्वारा अल्लाह के सन्निकटता का अनुभव होता है। यह मनुष्य की आत्मा की पवित्रता प्राप्त करता है, उसे संतुलित जीवन व्यतीत करने का पाठ सिखाता है, सब्र और तथा निःस्वार्थता का भाव उत्पन्न करता है। इच्छाओं का, इन्द्रियों का दमन करना, उन्हें नियन्त्रित करना आता है। भूख-प्यास की अनुभूति व सहानुभूति, दया, करुणा के भाव मनुष्य में उत्पन्न होते हैं। इसके द्वारा मनुष्य अनुशासनबद्ध जीवन व्यतीत करता है, सामाजिकता की भावना उत्पन्न होती है।

'जकात' इस्लाम का प्रमुख स्तम्भ है। इस शब्द का भाव तो 'पवित्रता' है, लेकिन व्यवहार में वार्षिक दान—चाहे रुपयों-पैसों के रूप में हो, चाहे वस्तुओं के—पदार्थों के रूप में हो, गरीबों को देना है। लेकिन इसमें दानशीलता के अन्दर छुपा प्रेम, आध्यात्मिक उद्देश्य, नैतिक भावना का शामिल है। यह स्वेच्छा से किया जाता है, कोई सरकारी दबाव नहीं जैसे आयकर में है। शायद भेद यह है कि यह एक धार्मिक प्रतिज्ञा है। वार्षिक आय का कम से कम ढाई प्रतिशत दान देना, जकात कहलाता है। जकात हकदार को देनी चाहिए—जिसके पास अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ भी न हो। अल्लाह किसान

को जकात देने मे प्राथमिकता देनी चाहिए। जकात देने मे गव या प्रदशन नही करना चाहिए।

'हज' इस्लाम का अतिम प्रमुख स्तम्भ है। हज प्रत्येक मुसलमान स्त्री पुरुष पर फज है जिसके पास आर्थिक, शारीरिक, मानसिक सम्पन्नता-समथता है। इसे इस्लाम धम का सर्वोत्तम और महान् सम्मेलन समभना चाहिए, अमन व शान्ति की अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स है। इसके द्वारा इस्लाम का सावभौम स्वरूप उभर कर सामने आता है। मानव प्रेम का, समानता का, विश्व-बन्धुता का इससे उत्तम रूप अन्यत्र नही मिलता। हज के द्वारा मक्का, मदीना आदि की यात्रा करके हाजी लोग उस युग का भी स्मरण करते हैं जिस युग में हजरत इब्राहीम ने मक्का का निर्माण किया था। पैग़म्बर मुहम्मद साहब ने जीवन व्यतीत किया था, सकल समाज मे आध्यात्मिकता की ज्योति जलाई थी।

इस्लाम धम के अनुसार मनुष्य को अपने कम करने में पूण स्वतन्त्रता है, उसे माग दर्शाया गया है, अल्लाह की किताब कुरआन के द्वारा और पग़म्बर मुहम्मद साहब के जीवन के द्वारा। उसे अच्छे-बुरे की सजा अवश्य मिलेगी। खुदा की ओर से नियुक्त फरिश्ते उसके प्रत्येक कम का लेखा-जोखा दर्ज करत रहते हैं और क़यामत के दिन, योमे महशर मे उसके कर्मों का विवरण—'एमालनामा' उसके हाथ में होगा और तदनुसार उसे स्वर्ग, नरक में डाला जायगा, उसे कर्मों का पूरा-पूरा बदला दिया जायगा। यह अवश्य स्मरणीय है कि यदि कोई अपने किए पर पश्चात्ताप करे, क्षमा मांगे और वसा गुनाह न करे तो अल्लाह उसे क्षमा कर देता है क्योंकि वह 'रहीम' और 'रहमान' है, यह दयानिधि है, कृपासागर है। यो अल्लाह सवशक्तिमान है, उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नही हिल सकता। मनुष्य को अपने आपको अल्लाह के अधीन समझकर उसकी खुशनूदी के लिए कम करने चाहिए और उस मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ मनुष्य कुरआन व इस्लाम की दृष्टि में समझा जायगा जिसके कम उत्तम हैं, जिसका आचरण श्रेष्ठ है। "इन्नलाहा ला युगय्यिरुमा बि क़ौमिन हत्ता युगैयिरु मा बि अनफुसिहिम।"[1]

नि सदेह अल्लाह किसी जाति की दशा को उस समय तक परिवर्तित नहीं करता जब तक कि वह अपनी दशा को नही परिवर्तित करती।

□□□

१—कुरआन, पारा १३ (१३ ११)

मानव क्रिया को लेकर कोई समस्या नही है। मनोवैज्ञानिको, विधिशास्त्रियो, समाजशास्त्रियो, के लिये 'क्रिया' वह व्यवहार है जो किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है। लेकिन 'क्रिया' के बारे मे प्लेटो से लेकर आज तक के दार्शनिक विभिन्न प्रकार के प्रश्न उठाते आये हैं। क्रिया के सम्बन्ध मे प्रमुख रूप से पाँच प्रकार के प्रश्न दार्शनिकों ने उठाये हैं। ये प्रश्न हैं —

१ प्रत्ययात्मक प्रश्न (Conceptual)—जैसा कि 'मानव क्रिया क्या है, 'व्यक्ति (Persons) क्या कर सकते हैं ?' अथवा 'व्यक्ति ने क्रिया की' ऐसा कहने का क्या अर्थ है ? तथा 'ऐसा कहने का क्या अर्थ है कि एक व्यक्ति क्रिया कर सकता है ?'

२ व्याख्यात्मक प्रश्न—मानव क्रिया की व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्न जैसे कि 'क्या भौतिक शास्त्र, जीवविज्ञान, के सिद्धान्त एव पद्धति मानव क्रिया को समझने के लिए पर्याप्त हैं ?' 'क्या वैज्ञानिक प्रत्ययो मे इतर किन्ही अन्य प्रत्ययो जैसे कि सोद्देश्यता (purposiveness) एव लक्ष्योन्मुखता (goal directedness) जैसे प्रत्ययों की मानव क्रिया की व्याख्या के लिए क्या अनिवार्यता है ?

३ तत्त्वमीमांसीय प्रश्न—जैसे कि 'क्या सभी मानव क्रियाएँ उत्पन्न की जाती हैं' (are caused) ? क्या मानव क्रिया उत्पन्न की जा सकती है ? इस प्रकार के प्रश्नो का सम्बन्ध इच्छा-स्वातन्त्र्य की जटिल समस्याओं से है

४ ज्ञानमीमांसीय प्रश्न—जैसे कि क्या निरीक्षण या किन्ही अन्य साधनों के द्वारा हम यह जानते हैं कि हम क्रिया कर रहे हैं ? "हम कैसे जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रिया करते हैं ?"

५ नीतिशास्त्रीय एव परा-नीतिशास्त्रीय प्रश्न—इस कोटि में जो प्रश्न आते हैं वे हैं—क्या क्रियाएँ अथवा उनके परिणाम अच्छे या बुरे होते हैं ? तथा ऐसा कहने का क्या अर्थ है 'कि व्यक्ति अपनी क्रिया या उनके परिणाम के लिए उत्तरदायी है ?'

यह बात स्पष्ट है कि क्रिया से सम्बन्धित प्रत्ययात्मक प्रश्न (Conceptual questions) ही प्रमुख प्रश्न हैं। क्रियाओं की व्याख्या, क्रियाओं के कारण, क्रियाओं का ज्ञान, क्रियाओं एव उनके परिणामों के मूल्यांकन के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि 'क्रिया' का क्या अर्थ है ? दूसरे शब्दों में, क्रिया के स्वरूप से सम्बन्धित सिद्धान्त का स्थान तार्किक दृष्टि से क्रिया के व्याख्यात्मक, तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, नैतिक एव परा-नैतिक (meta-ethical) सिद्धान्तों से पहले आता है। अत हम सर्वप्रथम क्रिया के स्वरूप एवं विवरण (descriptions) से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करेंगे।

उठाना) को प्रकृति की प्रक्रियाओं (जैसे कि वृक्षों का आन्दोलित होना) से विभेदित करती है। क्योंकि उनमें कर्त्ता के बारे में बताना आवश्यक नहीं और न वहाँ उत्तरदायित्व की बात उठती है।

क्रियाएँ बनाम भावावेग (Passions)

क्रिया वह है जिसे कोई कर्त्ता करता है। इस कथन में यह भाव है कि हम क्रिया या उसके कर्त्तापन (agency) के एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। क्रिया इसी कारण कुछ घटित होने (happens to) से भिन्न है। उदाहरण के रूप में उसका नीचे बैठना (क्योंकि वह कमजोरी का अनुभव करता है) से उसके गिर पड़ने से (क्योंकि उसका पैर केले के छिलके पर पड़ गया था) भिन्न है। कुछ अन्य बातें ऐसी हैं जिन्हें कर्त्ता करता है लेकिन वे क्रियाओं की कोटि में नहीं आतीं। इस बात को समझने के लिए निम्न विभेदीकरणों पर विचार कीजिए —

क्रियाएँ बनाम मात्र व्यवहार (mere-behaviour)

व्यक्ति ऐसे बहुत से व्यवहार करता है जिनके कर्त्ता के बारे में विचार नहीं किया जाता। इस प्रकार के करने (doings) को क्रिया की कोटि में नहीं रखा जाता। क्रिया किसी के साथ घटित होती है (happens to some one) अथवा कुछ करना पड़ता है (just happens to do) या निर्णीत व्यवहार की एक प्रकरण (item) है जिसके होने पर (व्यक्ति) निमग्न रह जाता है।

क्रियाएँ बनाम पर्यवसान (terminations)

कार्य क्रियाएँ (activity verbs listening for looking at searching for) तथा उपलब्धि क्रियाएँ (achievement verbs hearing seeing finding) में भेद है। प्रथम प्रकार की कोटि, क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करती है लेकिन द्वितीय कोटि (जो केवल क्रिया का परिणाम है) नहीं करती। उदाहरण के रूप में वैवाहिक संस्कारों में भाग लेना क्रिया है लेकिन पुरुष धर्म में प्रवेश करना क्रिया नहीं (संस्कारों के करने का परिणाम है।)

संयम रखना (refraining) बनाम क्रिया न करना (non action)

निष्क्रियता या प्रतिक्रिया (inaction) के दो महत्वपूर्ण रूप हैं। प्रथम है संयम रखना। किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति या [illegible] सम्बन्ध में [illegible] उत्पन्न [illegible] संयम [illegible] है। दूसरे प्रकार का निष्क्रियता क्रिया न करना (non-action) की कोटि में आता है। उदाहरण के रूप में [illegible]
[illegible]

कर रहा होता हूँ। यह निर्व्यापार किसी प्रकार का 'करना' (doing) नही है। इनके करने मे मैं किसी प्रकार सक्रिय नही होता। अत सयम से भिन्न है।

क्रियाएँ बनाम मानसिक क्रियाएँ

क्रिया मे दैहिक पहलू भावात्मक रूप मे कुछ करने के रूप मे या अभावात्मक रूप मे सयम रखने के रूप मे अवश्य होना चाहिए। अत विशुद्ध रूप से मानसिक क्रियाएँ जो पूर्णत आन्तरिक (internal) होती हैं, क्रिया की कोटि मे नही आती। बाह्य मौखिक स्वीकृति देना क्रिया है लेकिन स्वय मे 'मौन स्वीकृति देना' (tacit assent) क्रिया नही है। चिन्तित होना स्वय मे क्रिया नही है यद्यपि परिक्लान्त रूप से कदम बढाना क्रिया है। प्रत्येक क्रिया का बाह्य शारीरिक पहलू (Component) होता है तथा इसमे किसी न किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया निहित होती है। क्रियाएँ व्यक्ति अर्थात् दैहिक (Corporeal) शरीर युक्त कर्त्ता क्रिया करता है।

क्रिया को वर्णित[1] करने के लिए क्रिया को वर्णित करने वाले निम्न तत्त्वो पर विचार करना चाहिऐ —

१ कर्त्ता (agent) इसे (क्रिया को) किसने किया ?

२. क्रिया प्रकार (act typo) उसने क्या किया ?

३ क्रिया करने की प्रकारता (modality of action) उसने किस प्रकार से किया ?

(अ) प्रकारता की विधि (modality of manners) किस प्रकारता कीविधि से उसने किया।

(ब) प्रकारता का साधन (modality of means) उसने किस साधन द्वारा इसे किया।

४ क्रिया की परिस्थिति (setting of action) किस संदर्भ म उसन इसे किया।

(अ) कालिक पहलू—उसने इसे कब किया ?

(ब) दैशिक पहलू—इसे उसने कहाँ किया ?

(स) परिस्थित्यात्मक पहलू (Circumstantial aspect) किन परिस्थितियो मे उसने इस किया ?

---

१ Nicholas Rescher— On the Characterization of Actions The Nature of Human Action Edited by Myles Brand पृष्ठ २४७–४८

२ कर्ता क्रिया प्रकार तथा किया करने का समय तीनो ही क्रिया के वर्णन के लिए पर्याप्त है लेकिन पूर्णरूप से नही।

दैहिक एव मानसिक परस्पर सम्बन्धित पहलू हैं) के समान क्रिया के वाह्य (दैहिक एव निरीक्षणीय) तथा आन्तरिक (मानसिक एव अनिरीक्षणीय) परस्पर सम्बन्धित पहलू हैं । क्रिया के 'वाह्य' पहलू का सम्बन्ध उसने क्या (What) किया तथा कैसे तथा किस परिस्थिति मे किया, से है जबकि आन्तरिक पहलू का सम्बन्ध उसकी मानसिक स्थिति (विचार, अभिप्राय, प्रेरणा आदि) से है।

कर्त्ता ने 'क्या किया' और 'क्यों किया' मे भेद की बात उठायी जाती है। दूसरे शब्दों में क्रिया के वर्णन (description) एव मूल्याकन (evaluation) के बीच एक विभाजन रेखा खीचना, सिद्धान्तत सम्भव भी है तथा व्यावहारिक रूप से वाछनीय भी।

असीमित विभाजनशीलता

सामान्य भाषा मे व्यक्तिगत क्रियाओं (individual actions) जैसे 'ताले मे चाबी घुमाना' तथा जटिल क्रिया में भेद सर्वविदित है। क्या यह भेद स्वीकार करने योग्य है ? क्या प्रत्येक क्रिया वास्तव मे क्रियाओ का एक सिलसिला नहीं है ? क्या सभी क्रियाओं को खण्ड इकाइयो (Components) में विभाजित किया जा सकता है ? क्या विविधता (जैसा कि जीवो के विरोधाभास मे है) सीमा रहित नहीं है ? सभी क्रियाओ को विभाजित नही किया जा सकता। विभाजन की भी एक सीमा होती है जो कर्त्ता की मानसिक स्थिति पर आधारित है।

दो प्रमुख क्रिया उक्तियां 'एक व्यक्ति ने क्रिया की' तथा 'एक व्यक्ति क्रिया कर सकता है' के अर्थ को विश्लेषित करने या निर्धारण करने की दो विधियाँ हैं। प्रथम प्रयास मे मानव क्रिया को किन्ही प्रकार के परिवर्तनों या घटनाओ मे 'घटित' किया जाता है। भाषायी दृष्टि से हम यान का इस प्रकार कहेंगे—क्रिया उक्तिया (action talks) को अक्रिया-उक्तिया (non action talks) मे विश्लेषित करने का प्रयास करना। क्रिया उक्तियों को इस प्रकार विश्लेषित करने के उपागम को इतर तन्त्रीय विधि (extra systemic) कहते हैं। 'व्यवहारवाद' (यहां व्यवहार का मोटे रूप मे अर्थ है कोई भी दैहिक परिवर्तन या प्रक्रिया) जो मानव क्रियाओं को व्यावहारिक घटनाओं से तादात्म्य करता है, इस उपागम का उदाहरण है।

द्वितीय उपागम के अनुसार मानव क्रिया की व्याख्या क्रमबद्ध रूप से (systematically) की जाती है। दूसरे शब्दों में इस उपागम के अनुसार क्रिया युक्तिया की सरचनात्मक तन्त्र अथवा कलन (calculus) द्वारा व्याख्या की जाती है।

क्रियाओं की व्याख्या करने वाले कुछ सिद्धान्त

क्रिया से सम्बन्धित सिद्धान्तों का सक्षिप्त परिचय देने से पूर्व हम विटगेन्स्टीन के इस कथन का 'मैं अपना हाथ उठाता हूँ' इस शब्द से अगर

३०

जैन कर्म साहित्य का संक्षिप्त विवरण

☐ श्री अगरचन्द नाहटा

विश्व मे प्राणीमात्र मे जो अनेक विविधताएँ दिखाई देती हैं, जैन धर्म के अनुसार उसका कारण स्वकृत कर्म हैं। जीवो के परिणाम व प्रवृत्तियो मे जो बहुत अन्तर होता है, उसी के अनुसार कर्मबन्ध भी अनेक प्रकार का होता रहता है। उसी के परिणामस्वरूप सब जीवो व भावो आदि की विविधता है। जैन धर्म का कर्म-साहित्य बहुत विशाल है। विश्व भर मे अन्य किसी धर्म या दर्शन का कर्म-साहित्य इतना विशाल व मौलिकतापूर्ण नही मिलता। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदाय मे कर्म-साहित्य समान रूप से प्राप्त है। क्योंकि मूलत १४ पूर्वों में जो आठवा कर्म प्रवाद पूर्व था, उसी के आधार से दोनो का कर्म साहित्य रचा गया है। यद्यपि श्वेताम्बर आगमो मे यह फुटकर रूप से व संक्षिप्त विवरण रूप से मिलता है। पर कर्म प्रवाद पूर्व आदि जिन पूर्वों के आधार से मुख्य रूप से श्वेताम्बर एव दिगम्बर साहित्य रचा गया है वे पूर्व ग्रन्थ लम्बे समय से प्राप्त नही हैं। दिगम्बरों मे षट खण्डागम, कषाय प्राभृत, महाबंध आदि प्राचीनतम कर्म-साहित्य के ग्रन्थ हैं तो श्वेताम्बरों मे बंध शतक, कर्म प्रकृति, पंच संग्रह आदि प्राचीन ग्रन्थ हैं। इन सबके आधार से पीछे से अनेक आचार्यों एव मुनियो ने समय-समय पर नये-नये ग्रन्थ बनाये और प्राचीन ग्रन्थों पर चूर्णी, टीका आदि विवेचन लिखा। आज भी यह क्रम जारी है। *हिन्दी और गुजराती में अनेक प्राचीन कर्म शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अनुवाद* एव विवेचन छपता रहा है। और नये कर्म-साहित्य का निर्माण भी प्राकृत एव संस्कृत में लाखो श्लोक परिमित हो रहा है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे गम्भीरता पूर्वक मनन और अनुभवपूर्ण अभिव्यक्ति की बहुत बडी आवश्यकता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्म विषयक ग्रन्थों की एक सूची सन् १९१६ के जुलाई अगस्त में 'जैन हितैषी' के अंक मे प्रकाशित हुयी थी। श्री शान्ति विजयजी के शिष्य श्री चतुर विजयजी और उनके शिष्य श्री पुण्य विजयजी ने इसी सूची तयार करने में काफी श्रम किया था। उस सूची को पंडित सुखलालजी ने कर्म विपाक प्रथम कर्म ग्रन्थ सानुवाद के परिशिष्ट मे प्रकाशित की थी। इसके बाद कर्म साहित्य सम्बन्धी एक बहुत ही उल्लेखनीय बडा ग्रन्थ डा० हीरालाल कापडिया ने न्यायाम्भोनिधि निपुण मुनिजी और श्री ... मुनिजी की प्रेरणा से लिखना आरम्भ किया था, पर यह कर्म मीमांसा नामक ग्रन्थ शायद पूरा नहीं किया गया।

(६) पचसग्रह प्रकरण

इसे चन्द्रर्षि महत्तर ने पाच ग्रन्थो के सग्रह रूप ६६३ गाथा में रचा है। इस ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी मानी जाती है। दूसरी वृत्ति मलयगिरि की है। इसके उपरान्त दीपक नाम की वृत्ति २५०० श्लोक परिमित है।

मलयगिरि की टीका व मूल का गुजराती सानुवाद व सस्कृत छाया प० हीरालाल देवचन्द ने प्रकाशित की है।

(७) प्राचीन चार कर्म ग्रन्थ

(१) कर्म विपाक गर्ग ऋषि कृत—मूल गाथा १६८। उसके ऊपर अज्ञात रचित भाष्य, परमानन्द सूरिकृत ६६० श्लोक परिमित सस्कृत वृत्ति, हरिभद्र सूरि रचित वृत्तिका, मलयगिरि कृत टीका, अज्ञात रचित व्याख्या व टीका, उदय प्रभ सूरि कृत टिप्पण प्राप्त हैं।

(२) कर्म स्तव—मूल गाथा ५७, गोविन्द गणिकृत, १०६० श्लोक परिमित टीका, हरि भद्र कृत टीका, अज्ञात रचित भाष्य द्वय, महेन्द्र सूरि कृत भाष्य, उदय प्रभ सूरि कृत २६२ श्लोकी या टिप्पण, कमल सयम उपाध्याय कृत सस्कृत विवरण, अज्ञात रचित चूर्णी या अवचूर्णी।

(३) बध स्वामित्व—मूल गाथा ५४, अज्ञात कृतक टिप्पण और टीका, हरिभद्र सूरिकृत ५६० श्लोक परिमित टीका प्राचीन टिप्पणक पर आधारित है।

(४) षडशीति—जिनवल्लभ गणि कृत, भाष्य द्वय, हरिभद्र सूरि कृत ८५० श्लोक परिमित टीका। मलयगिरि कृत २१४० श्लोक परिमित वृत्ति, यशोभद्र सूरि कृत वृत्ति, मेरु वाचक कृत विवरण, अज्ञात रचित टीका और अवचूरी, १६०० श्लोक परिमित उद्धार।

प्राचीन ६ कर्म ग्रन्थ माने जाते हैं, उनमें पाँचवाँ बध शतक और छठा सप्ततिका माना जाता है।

(८) पाँच नव्य कर्मग्रन्थ—देवेन्द्र सूरि कृत

इन पर स्वोपज्ञ टीका, अन्य अद्यों के विवरण बालावबोध आदि प्राप्त हैं। समय अधिक प्रचार इन्हीं कर्मग्रन्थों का रहा। हिन्दी में चार ग्रन्थों का अनुवाद प० सुखलालजी ने और पाँचवें का प० कैलाशचन्द्रजी ने किया है। गुजराती में भी इनके कई बालावबोध व विवेचन छप चुके हैं।

जिनवल्लभ सूरि कृत सूक्ष्मार्थ विचारसार अथवा सार्ध शतक भी काफी प्रसिद्ध रहा है। इस पर उनके शिष्य रामदेव गणि कृत टीका तथा अन्य कई टीकाएँ प्राप्त हैं। जिनका उल्लेख 'वल्लभ भारती' आदि में किया गया है।

३१

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो में कर्म एव पुनर्जन्म की अवधारणा

□ डॉ० देवदत्त शर्मा

जैन दर्शन मे कर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक मे जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बध जाते हैं। यह उनकी बध्यमान अवस्था है। बधने के बाद उनका परिपाक होता है। यह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दु ख एव कर्मानुसार अच्छा-बुरा फल मिलता है। यह कर्मों की उदयमान (उदय) अवस्था है।

जैन दर्शन की मान्यताओं के अनुसार जीव कर्म करने मे स्वतत्र है किन्तु कर्मफल भोगने मे परतत्र है। अर्थात् फल देने की सत्ता कर्म अपने पास सुरक्षित रखता है। इस प्रकार जीव जो भी शुभाशुभ कर्म करता है उसके फल को भोगना आवश्यक है।

पुद्गल द्रव्य की अनेक जातियाँ हैं जिन्हें जैन दर्शन मे वर्गणाएँ कहते हैं। उनमे एक कार्मण वर्गणा भी है और वही कर्म द्रव्य है। कर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोक मे सूक्ष्म रज के रूप मे व्याप्त है। वही कर्म द्रव्य योग के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं और कर्म कहलाने लगते हैं। ये जीव के अध्यवसायों और मनोविकारों की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। परन्तु स्वभाव के आधार पर कर्म के आठ विभाग किये जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य, ६ नाम, ७ गोत्र तथा ८ अन्तराय।

जो कर्म-पुद्गल हमारे ज्ञान तन्तुओं को सुप्त और चेतना को मूर्च्छित बना देते हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कहलाते हैं। ये पाँच प्रकार के हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण। जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण का बाधक हो वह दर्शनावरण कहलाता है। यह नौ प्रकार का होता है। सुख-दुःखानुभूति वेदनीय कर्म के द्वारा होती है। सम्यक् दर्शन का प्रादुर्भाव न होने देना या उसमे विकृति उत्पन्न करना मोहनीय कर्म का काम है। इसके अट्ठाईस भेद हैं। आयु कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी के शरीर मे निश्चित अवधि तक बद्ध रखता है। प्राणी

शक्ति प्रकट होती है। यथा—ज्ञानावरण के हटने मे ग्रन`त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है। इस परिप्रेक्ष्य मे कहा जा सकता है कि प्रत्येव क्रिया का कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। यदि किसी प्राणी को वतमान जीवन में किसी क्रिया का फल प्राप्त नही होता तो भविष्यकालीन जीवन ग्रनिवाय है। कम का कर्ता एव भोक्ता निरन्तर अपने पूव कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मों का व`ध करता रहता है। कर्मों की इस परम्परा को वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के द्वारा तोड भी सकता है। ज`मजात व्यक्ति भेद, सुग्व-दु ख तथा असमानता सब कमजन्य है। कम व`ध का कारण प्राणी की रागद्वे`प ज`य प्रवृत्ति है। अत कमवन्ध एव कमयोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वय है। नवीन कर्मो के उपाजन का निरोध तथा पूर्वोपार्जित कर्मो का क्षय करके कमव`ध स मुक्त हुआ जा सकता है।

कम प्रवाह रूप से अनादि है। जब से जीव है तब से कम हैं। दोनो अनादि हैं। परिपाक-काल के बाद ये जीव से अलग हो जाते हैं। आत्म-सयम से नये कर्म चिपकने ब`द हो जाते हैं। पिछले चिपके हुए कम तपस्या के द्वारा धीरे धीरे निर्जीण हो जाते हैं। नये कर्मों का व`ध नही हाता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब यह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। जब तक आत्मा कम-मुक्त नही होती है तब तक उसकी ज`म-मरण की परम्परा नही रुकती।

जैन दशन की इन मा`यताओ के परिप्रेक्ष्य मे यदि हम आधुनिक हि`दी महाकाव्यो पर दृष्टि निक्षेप करें तो हम पाते हैं कि इस कमवाद एव पुनज`म के सिद्धा`त से, जो भारतीय सस्कृति का एक अग है, महाकाव्यकार भी अछूते नही रहे। यही कारण है कि इस सिद्धान्त का निरूपण अनेक महाकाव्यों मे स्थान-स्थान पर हुआ। उदाहरण के लिए मथिली शरण गुप्त 'जय भारत' में कहते हैं—

"कर्मों के अनुसार जीव जग मे फल पाता।"

(पृ० २६४)

ताराच`द हारीत अपने महाकाव्य 'दमयन्ती' म उक्त स्वर को ही अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए कहते हैं—

"निज कर्मों के अनुसार जीव फल पाता।"

(पृ० २२६)

जीव जो भी शुभाशुभ कम करता है उसके फल को भोगना आवश्यक है। 'परम ज्योति महावीर' महाकाव्य में कमवाद के इसी तथ्य को निम्नलि खरूप हुआ वर्णित कहता है—

है। इसी मान्यता को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए नन्दकिशोर झा अपने महाकाव्य 'प्रिय मिलन' में कहते हैं—

> "क्लेश-मूल कर्माशय, बन्धन में बन्धा जीव।
> जन्मता औ मरता, उसे कभी न विराम है॥"
>
> (पृ० ३१०)

जब तक जीवात्मा कर्म बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाती उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है—

> "जब तक न कर्म हो जाते हैं,
> सम्पूर्णतया निर्मूल यहाँ।
> तब तक होता है पुनर्जन्म,
> निज कर्मों के अनुकूल यहाँ।"
>
> (परम ज्योति महावीर, पृ० ४६१)

रघुवीर शरण 'मित्र' पुनर्जन्म विषयक उक्त अवधारणा में ही आस्था प्रकट करते, हुए कहते हैं—

> "जब तक कर्मों के बन्धन हैं,
> मिलता रहता है जन्म नया।"
>
> (वीरायन, पृ० १३८)

जीव को जीवन-मरण से तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने कर्मों का क्षय नहीं कर लेता—

> "जब-तक न कर्म क्षय होते हैं,
> तब तक होता अवतरण-मरण।
> कर्मों के क्षय होते ही तो,
> कर लेती इसको मुक्ति वरण॥"
>
> (परम ज्योति महावीर, पृ० ४७८)

दिनकर के 'उर्वशी महाकाव्य की निम्नांकित पंक्ति भी कवि की पुनर्जन्म में आस्था की द्योतक है—

> "कच, किस पूर्व जन्म में उसका क्या सुख छीन लिया था।"
>
> (पृ० ३१)

कर्म एवं पुनर्जन्म की उक्त अवधारणा का भारतीय जन-जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि प्रत्येक महाकाव्यकार ने इसे किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। यही कारण है कि हिन्दी के अधिकांश महाकाव्यों में उक्त अवधारणा का निरूपण हुआ है। उक्त विवेचित महाकाव्यों के अतिरिक्त 'नल नरेश' (पृ० २२२), 'विदेह' (पृ० ६६), 'आंजनेय' (पृ० २० २२) 'कल्पान्त' (पृ० ६२), 'मानवी जीवन' (प० १६६ ६७), विरहिणी' (पृ० २६), 'मीरा' (पृ० ३०) तथा 'तीर्थंकर महावीर' (पृ० १०५) प्रभृति महाकाव्यों में भी कर्म एवं पुनर्जन्म के प्रति आस्था की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है। □

द्वितीय खण्ड

•

कर्म सिद्धान्त
और
सामाजिक चिन्तन

३२ वैयक्तिक एवं सामूहिक कर्म

□ पं० सुखलाल संघवी

अच्छी-बुरी स्थिति, चढ़ती-उतरती कला और सुख-दुःख की सार्वत्रिक विषमता का पूरा स्पष्टीकरण केवल ईश्वरवाद या ब्रह्मवाद में मिल ही नहीं सकता था। इसलिये कैसा भी प्रगतिशीलवाद स्वीकार करने के बावजूद स्वाभाविक रीति से ही परम्परा से चला आने वाला वैयक्तिक कर्मफल का सिद्धान्त अधिकाधिक दृढ़ होता गया। 'जो करता है वही भोगता है', 'हर एक का नसीब जुदा है, 'जो बोता है वह काटता है', 'काटने वाला और फल चखने वाला एक हो और बोने वाला दूसरा हो यह बात असंभव है'—ऐसे ऐसे ख्याल केवल वैयक्तिक कर्मफल के सिद्धान्त पर ही रूढ़ हुए हैं। और सामान्यतः उन्होंने प्रजा जीवन के हर क्षेत्र में इतनी गहरी जड़ें जमा ली हैं कि अगर कोई यह कहे कि किसी व्यक्ति का कर्म केवल उसी में फल या परिणाम उत्पन्न नहीं करता, परन्तु उसका असर उस कर्म करने वाले व्यक्ति के सिवाय सामूहिक जीवन में भी ज्ञात अज्ञात रूप से फैलता है, तो वह समझदार माने जाने वाले वर्ग को भी चौंका देता है। और हरएक सम्प्रदाय के विद्वान् या विचारक इसके विरुद्ध शास्त्रीय प्रमाणों का ढेर लगा देते हैं। इसके कारण कर्म फल का नियम वैयक्तिक होने के साथ ही सामूहिक भी है या नहीं, यदि न हो तो किस किस तरह की असंगतियाँ और अनुपपत्तियाँ खड़ी होती हैं और यदि हो तो उस दृष्टि से ही समग्र मानव-जीवन का व्यवहार व्यवस्थित होना चाहिये या नहीं, इस विषय में कोई गहरा विचार करने के लिये रुकता नहीं है। सामूहिक कर्म फल के नियम की दृष्टि से रहित, कर्म फल के नियम ने मानव-जीवन के इतिहास में आज तक कौन-कौनसी कठिनाइयाँ खड़ी की हैं और किस दृष्टि से कर्म फल का नियम स्वीकार करके तथा उसके अनुसार जीवन-व्यवहार बनाकर वे दूर की जा सकती हैं कोई एक भी प्राणी दुःखी हो, तो मेरा सुखी होना असंभव है। जब तक जगत् दुःख मुक्त नहीं होता, तब तक अकेले मोक्ष से क्या पायेंगे ? इस विचार की महाकरुण भावना बौद्ध परम्परा में उदय हुई थी। इसी तरह हर एक सम्प्रदाय सब जगत् के क्षेम-कल्याण की प्रार्थना करता है और सारे जगत के साथ मैत्री करने की ब्रह्मवार्ता भी करता है। परन्तु यह महादान भावना या ब्रह्मवार्ता अंत में वैयक्तिक कर्म फल वाद के रूढ़ संस्कार के साथ टकराकर जीवन जीने में ज्यादा उपयोगी सिद्ध नहीं हुई है।

जीवन से वैयक्तिक जीवन बिल्कुल स्वतन्त्र रूप मे जिया नही जाता, तो तत्वज्ञान भी इसी अनुभव के आधार पर कहता है कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच चाहे जितना भेद दिखाई दे, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति किसी एक ऐसे जीवन सूत्र से ओत प्रोत है कि उसके द्वारा वे सब व्यक्ति आस पास एक-दूसरे से जुडे हुए हैं। यदि ऐसा है तो कर्म फल का नियम भी किसी दृष्टि से विचारा और लागू किया जाना चाहिये। अभी तक आध्यात्मिक श्रेय का विचार भी हरएक सम्प्रदाय ने वैयक्तिक दृष्टि से ही किया है। व्यावहारिक लाभालाभ का विचार भी इस दृष्टि के अनुसार ही हुआ है। इसके कारण जिस सामूहिक जीवन को जिये बिना काम चल नही सकता, उसे लक्ष्य मे रखकर श्रेय या प्रेय का मूलगत विचार या आचार हो ही नही पाया। कदम-कदम पर सामूहिक कल्याण को लक्ष्य मे रख कर बनाई हुई योजनाए इसी कारण से या तो नष्ट हो जाती हैं या कमजोर होकर निराशा मे बदल जाती हैं। विश्व शान्ति का सिद्धान्त निश्चित तो होता है, परन्तु बाद मे उसकी हिमायत करने वाला हर एक राष्ट्र वैयक्तिक दृष्टि से ही उस पर विचार करता है। इससे न तो विश्व शान्ति सिद्ध होती है और न राष्ट्रीय समृद्धि स्थिर होती है। यही न्याय हरएक समाज पर भी लागू होता है। अब यदि सामूहिक जीवन की विशाल और अखण्ड दृष्टि का विकास किया जाये और उस दृष्टि के अनुसार हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी की मर्यादा बढावे तो उसके हिताहित दूसरे के हिताहितो के साथ टकराने न पावें और जहा वैयक्तिक नुकसान दिखाई देता हो वहा भी सामूहिक जीवन के लाभ की दृष्टि उसे सतुष्ट रखे, उसका कर्त्तव्य क्षेत्र विस्तृत बने और उसके सम्बन्ध अधिक व्यापक बनने पर वह अपने मे एक भूमा को देखे।

दु ख से मुक्त होने के विचार मे से ही उसका कारण माने गये कर्म से मुक्त होने का विचार पैदा हुआ। ऐसा माना गया कि कर्म, प्रवृत्ति या जीवन व्यवहार की जिम्मेदारी स्वय ही बधन रूप है। जब तक उसका अस्तित्व है, तब तक पूर्ण मुक्ति सर्वथा असभव है। इसी धारणा में से पैदा हुए कर्ममात्र की निवृत्ति के विचार से श्रमण परम्परा का अनगार-मार्ग और सन्यास परम्परा का वर्ण-कर्म धर्म-सन्यास मार्ग अस्तित्व मे आया। परन्तु इस विचार मे जो दोष था, वह धीरे-धीरे ही सामूहिक जीवन की निर्बलता और लाचारी के रास्ते से प्रकट हुआ। जो अनगार होते हैं या वर्ण-कर्म-धर्म छोडते हैं, उन्हें भी जीना होता है। इसका फल यह हुआ कि ऐसो का जीवन अधिक मात्रा मे पराश्रयी और कृत्रिम बना। सामूहिक जीवन की कडियाँ टूटने और अस्तव्यस्त होने लगीं। इस अनुभव ने यह सुझाया कि केवल कर्म बधन नहीं है। परन्तु उसके पीछे रही हुई तृष्णावृत्ति या दृष्टि की सकुचितता और चित्त की अशुद्धि ही बधन रूप है। केवल यही दु ख देती है। यही अनुभव अनासक्त कर्मवाद के द्वारा प्रति पादित हुआ है।

हर एक सम्प्रदाय में सब भूतहित पर भार दिया गया है। परन्तु व्यवहार मे मानव समाज के हित का भी शायद ही पूरी तरह से अमल देखने मे आता है। इसलिए प्रश्न यह है कि पहले मुख्य लक्ष्य किस दिशा मे और किस ध्येय की तरफ दिया जाय ? स्पष्ट है कि पहले मानवता के विकास की ओर लक्ष्य दिया जाय और उसके मुताबिक जीवन बिताया जाय। मानवता के विकास का अथ है—आज तक उसने जो-जो सद्गुण जितनी मात्रा मे साधे हैं, उनकी पूर्ण रूप से रक्षा करना और उनकी मदद से उन्ही सदगुणो में ज्यादा शुद्धि करके नवीन सदगुणों का विकास करना जिससे मानव-मानव के बीच द्वन्द्व और शत्रुता के तामस बल प्रकट न होने पावें। इस तरह जितनी मात्रा में मानव-विकास का ध्येय सिद्ध होता जायगा उतनी मात्रा में समाज-जीवन सुसवादी और सुरीला बनता जायगा। उनका प्रासगिक फल सबभूतहित में ही आने वाला है। इसलिये हर एक साधक के प्रयत्न की मुख्य दिशा तो मानवता के सद्गुणो के विकास की ही रहनी चाहिये। यह सिद्धान्त भी सामूहिक जीवन की दृष्टि से कम फल का नियम लागू करने के विचार मे से ही फलित होता है।

ऊपर की विचार सरणी गृहस्थाश्रम को केन्द्र में रखकर ही सामुदायिक जीवन के साथ वैयक्तिक जीवन का सुमेल साधने की बात कहती है। यह ऐसी सूचना है जिसका अमल करने से गृहस्थाश्रम में ही बाकी के सब आश्रमों के सदगुण साधने का मौका मिल सकता है। क्योंकि उसमें गृहस्थाश्रम का आदर्श इस तरह बदल जाता है कि वह केवल भोग का धाम न रहकर भोग और योग के सुमेल का धाम बन जाता है इसलिये गृहस्थाश्रम से अलग अन्य आश्रमों का विचार करने की गुंजाइश ही नहीं रहती। गृहस्थाश्रम ही चारों आश्रमों के समग्र जीवन का प्रतीक बन जाता है और यही नैसर्गिक भी है।

□ □ □

रे जीवा साहस आदरो, मत थाओ तुम दीन।
सुख-दुःख आपद-सपदा, पूरब कम अधीन॥
कम होए को ना मिटे, भलो करो के दाग।
जब हारें पकने लगी, काग मुख भया रोग॥

३३

कर्म और कार्य-मर्यादा

☐ प फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री

कम की काय-मर्यादा

कम का मोटा काम जीव को ससार मे रोके रखना है। परावर्तन ससार का दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से वह पाँच प्रकार का है। कम के कारण ही जीव इन पाँच प्रकार के परावतना में घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियाँ और उनमे रहते हुए जीव की जो विविध अवस्थाए होती हैं उनका मुख्य कारण कम है। स्वामी समन्तभद्र 'आप्त मीमासा' म कम के काय का निर्देश करते हुए लिखते हैं—

"कामादिप्रभवश्चित्र कर्मबन्धानुरूपत।"

"जीव की काम, क्रोध आदि रूप विविध अवस्थाएँ अपने-अपने कम क अनुरूप होती हैं।"

बात यह है कि मुक्त दशा मे जीव की प्रति समय जो स्वाभाविक परिणति होती है उसका अलग अलग निमित्त कारण नही है, नही तो उसम एकरूपता नही बन सकती। किन्तु ससार दशा मे वह परिणति प्रति समय जुदी जुदी होती रहती है इसलिये उसके जुदे-जुदे निमित्त कारण माने गये हैं। य निमित्त सस्कार रूप मे आत्मा से सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणति क पैदा करने मे सहायता प्रदान करते हैं। जीव की अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तो के सद्भाव और असद्भाव पर आधारित है। जब तक इन निमित्तों का एक क्षेत्रावगाह सश्लेशरूप सम्बन्ध रहता है तब तक अशुद्धता बनी रहती है। जन दशन मे इन्ही निमित्तो को कम शब्द से पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्मा की परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्री के मिलने पर राग होता है। जुगुप्सा की सामग्री मिलने पर ग्लानि होती है। धन सम्पत्ति को देख कर लोभ होता है और लोभवश उसके अजन करने, छीन लेन या चुरा लेने की भावना होती है। ठोकर लगने पर दु ख होता है और माया या सयोग होने पर सुख। इसलिये यह कहा जा सकता है कि केवल कम ही आत्मा

की विविध परिस्थिति के होने मे निमित्त नही हैं किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है अत कर्म का स्थान बाह्य सामग्री को मिलना चाहिये।

परन्तु विचार करने पर यह युक्त प्रतीत नही होता, क्योंकि अन्तरग मे वैसी योग्यता के अभाव मे बाह्य सामग्री कुछ भी नही कर सकती है। जिस योगी का राग भाव नष्ट हो गया है उसके सामने प्रबल राग की सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नही होता। इससे मालूम पडता है कि अन्तरग मे योग्यता के बिना बाह्य सामग्री का कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्म के विषय मे भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमे मौलिक अन्तर है। कर्म वैसी योग्यता का सूचक है पर बाह्य सामग्री का वैसी योग्यता से कोई सम्बन्ध नही। कभी वैसी योग्यता के सद्भाव मे भी बाह्य सामग्री नही मिलती और कभी उसके अभाव मे भी बाह्य सामग्री का सयोग देखा जाता है। किन्तु कर्म के विषय मे ऐसी बात नही है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मा से रहता है जब तक उसमे तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अत कर्म का स्थान बाह्य सामग्री नही ले सकती। फिर भी अन्तरग मे योग्यता के रहते हुए बाह्य सामग्री के मिलने पर न्यूनाधिक प्रमाण मे कार्य तो होता ही है इसलिए निमित्तो की परिगणना मे बाह्य सामग्री की भी गिनती हो जाती है। पर यह परम्परा निमित्त है। इसलिये इसकी परिगणना नो कर्म के स्थान मे की गई है।

इतने विवेचन से कर्म की कार्य मर्यादा का पता लग जाता है। कर्म के निमित्त से जीव की विविध प्रकार की अवस्था होती है और जीव मे ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योग द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मन के योग्य पुद्गलो को ग्रहण कर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है।

कर्म की कार्य-मर्यादा यद्यपि उक्त प्रकार की है तथापि अधिकतर विद्वानो का विचार है कि बाह्य सामग्री की प्राप्ति भी कर्म से होती है। इन विचारो की पुष्टि मे वे 'मोक्ष मार्ग प्रकाश' के निम्न उल्लेखो को उपस्थित करते हैं—"तहा वेदनीय करि तो शरीर विषै वा शरीर तै बाह्य नाना प्रकार सुख दु खानि को कारण पर द्रव्य का सयोग जुरै है।" पृ० ३५

उसी से दूसरा प्रमाण वे यो देते हैं—

"बहुरि कर्मनि विषै वेदनीय के उदय करि शरीर विषै बाह्य सुख दु ख का कारण निपजै है। शरीर विषै आरोग्यपनो, रोगीपनो शक्तिवानपनो, दुर्बलपनो अर क्षुधा तृषा, रोग, खेद, पीडा इत्यादि सुख दु खानि के कारण हो है। बहुरि बाह्य विषै सुहावना ऋतु पवनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्र धनादिक—सुख दु ख के कारण हो है।" पृ० ५६।

इन विचारो की परम्परा यही तक नही जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती बहुत से लेखको ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। पुराणों मे पुण्य और पाप की महिमा इसी आधार से गाई गई है। अमितगति के 'सुभाषित रत्न सन्दोह' में दैवनिरूपण नाम का एक अधिकार है। उसमे भी ऐसा ही बतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्र में प्रवेश करने पर भी रत्न नही पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तट पर बैठे ही उन्हें प्राप्त कर लेता है। यथा—

'जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति।'

किन्तु विचार करने पर उक्त कथन युक्त प्रतीत नही होता। खुलासा इस प्रकार है—

कर्म के दो भेद हैं—जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी। जो जीव की विविध अवस्था और परिणामो के होने मे निमित्त होते हैं वे जीव विपाकी कर्म कहलाते हैं। और जिनसे विविध प्रकार के शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास की प्राप्ति होती है वे पुद्गल विपाकी कर्म कहलाते हैं। इन दोनो प्रकार के कर्मों मे ऐसा एक भी कर्म नही बतलाया है जिसका काम बाह्य सामग्री का प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये स्वय जीवविपाकी है 'राजवार्तिक' मे इनके कार्य का निर्देश करते हुए लिखा है—

"यस्योदयाद्देवादिगतिषु शारीरमानससुख प्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम। यत्फल दु खमनेकविध तदसद्वेद्यम्।" पृष्ठ ३०४।

इन वार्तिको की व्याख्या करते हुए वहा लिखा है—

"अनेक प्रकार की देवादि गतियो मे जिस कर्म के उदय से जीवों के प्राप्त हुए द्रव्य के सम्बन्ध की अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार का सुख रूप परिणाम होता है वह सातावेदनीय है तथा नाना प्रकार की नरकादि गतियो मे जिस कर्म के फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, व्याधि, वध और बन्धनादि से उत्पन्न हुआ विविध प्रकार का मानसिक और कायिक दु ख होता है वह असाता वेदनीय है।"

'सर्वार्थसिद्धि' मे जो साता वेदनीय और असाता वेदनीय के स्वरूप का निर्देश किया है, उससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

श्वेताम्बर कार्मिक ग्रथो मे भी इन कर्मों का यही अर्थ किया है। ऐसी हालत मे इन कर्मो को अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य सामग्री के सयोग वियोग मे निमित्त मानना उचित नही है। वास्तव मे बाह्य सामग्री की प्राप्ति अपने-अपने कारणो से होती है। इसकी प्राप्ति का कारण कोई कर्म नहीं है।

ऊपर 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' के जिस मत की चर्चा की इसके सिवा दो मत और मिलते हैं जिनमे बाह्य सामग्री की प्राप्ति के कारणो का निर्देश किया गया है। इनमे से पहला मत तो पूर्वोक्त मत से ही मिलता जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनो के आधार से चर्चा कर लेना इष्ट है —

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोग द्वार मे प्रकृतियो का नाम निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीका मे वीरसेन स्वामी ने इन कर्मों की विस्तृत चर्चा की है। यहाँ सर्वप्रथम उन्होंने साता और असाता वेदनीय का वही स्वरूप दिया है जो 'सर्वार्थ सिद्धि' आदि मे बतलाया गया है। किन्तु शका-समाधान के प्रसग से उन्होंने साता वेदनीय को जीव विपाकी और पुद्गल विपाकी उभय रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकरण के वाचने से ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामी का यह मत था कि साता वेदनीय और असाता वेदनीय का काम सुख-दुःख को उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्री को जुटाना दोनो है।

(२) तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २ सूत्र ४ की 'सर्वार्थ सिद्धि' टीका में बाह्य सामग्री की प्राप्ति के कारणो का निर्देश करते हुए लाभादि को उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धो मे अति प्रसग देने पर लाभादि के साथ शरीर नाम कर्म आदि की अपेक्षा और लगा दी है।

ये दो ऐसे मत हैं जिनमें बाह्य सामग्री की प्राप्ति का क्या कारण है, इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधुनिक विद्वान भी इनके आधार से दोनो प्रकार के उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीय को बाह्य सामग्री की प्राप्ति का निमित्त बतलाते हैं और कोई लाभान्तराय आदि के क्षय व क्षयोपशम को। इन विद्वानो के ये मत उक्त प्रमाणों के बल से भले ही बने हो किन्तु इतने मात्र से इनकी पुष्टि नही की जा सकती क्योंकि उक्त कथन मूल कर्म व्यवस्था के प्रतिकूल पडता है।

यदि थोडा बहुत इन बातो का आश्रय लिया जा सकता है तो उपचार से ही लिया जा सकता है। वीरसेन स्वामी ने तो स्वर्ग, भोगभूमि और नरक में सुख दुःख की निमित्तभूत सामग्री के साथ वहाँ उत्पन्न होने वाले जीवो के साता और असाता के उदय का सम्बन्ध देखकर उपचार से इस नियम का निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाता का फल है। तथा पूज्यपाद स्वामी ने संसारी जीव के बाह्य सामग्री मे लाभादि रूप परिणाम लाभान्तराय आदि के क्षयोपशम का फल जानकर उपचार से इस नियम का निर्देश किया है कि लाभान्तराय आदि के क्षय व क्षयोपशम से बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है। वस्तुत बाह्य सामग्री की प्राप्ति न तो साता असाता का ही फल है और न

लाभान्तराय आदि कर्म के क्षय व क्षयोपशम का ही फल है। बाह्य सामग्री इन कारणो से न प्राप्त होकर अपने अपने कारणो से ही प्राप्त होती है। उद्यम करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापार के साधन जुटाना, राजा महाराजा या सेठ-साहूकार की साहूकारी करना, उनसे दोस्ती जोडना, अर्जित धन की रक्षा करना, उसे ब्याज पर लगाना, प्राप्त धन को विविध व्यवसायों में लगाना, खेतीबाडी करना, झांसा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना जुआ खेलना, भीख मागना, धर्मादय को सचित कर पचा जाना आदि बाह्य सामग्री की प्राप्ति के साधन हैं। इन व अन्य कारणो से बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है उक्त कारणो से नही।

शका—इन सब बातो के या इनमे से किसी एक के करने पर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—प्रयत्न की कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

शका—कदाचित् व्यवसाय आदि के नही करने पर भी धन प्राप्ति देखी जाती है तो इसका क्या कारण है?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है? क्या किसी के देने से हुई या कही पडा हुआ धन मिलने से हुई है? यदि किसी के देने से हुई है तो इसमे जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण हैं या देने वाले की स्वार्थ सिद्धि, प्रेम आदि कारण हैं। यदि कहीं पडा हुआ धन मिलने से हुई है तो ऐसी धन प्राप्ति, पुण्योदय का फल कैसे कहा जा सकता है? यह तो चोरी है। अत चोरी के भाव इस धन प्राप्ति मे कारण हुए न कि साता का उदय।

शका—दो आदमी एक साथ एक सा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एक को लाभ होता है दूसरे को हानि?

समाधान—व्यापार करने मे अपनी-अपनी योग्यता और उस समय की परिस्थिति आदि इसका कारण है, पाप पुण्य नही। सयुक्त व्यापार में एक को हानि और दूसरे को लाभ हो तो कदाचित् हानि लाभ, पाप-पुण्य का फल माना भी जाये। पर ऐसा होता नही, अत हानि-लाभ को पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत मे उचित नहीं है।

शका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नही है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों होता है?

समाधान—एक का गरीब और दूसरे का श्रीमान् होना यह व्यवस्था का फल है, पुण्य पाप का नही। जिन देशों मे पूंजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिगत

सम्पत्ति के जोडने की कोई मर्यादा नही, वहाँ अपनी-अपनी योग्यता व साधना के अनुसार गरीब अमीर इन वर्गों की सृष्टि हुआ करती है। गरीब और अमीर इनको पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत मे उचित नही है। रूस ने बहुत कुछ अशो मे इस व्यवस्था को तोड दिया है इसलिये वहाँ इस प्रकार का भेद नहीं दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो हैं ही। सचमुच में पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओ के परे हैं और वह है आध्यात्मिक। जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य-पाप का निर्देश करता है।

शका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य पाप का फल नही है तो सिद्ध जीवों को इसकी प्राप्ति क्यो नही होती?

समाधान—बाह्य सामग्री का सद्भाव जहाँ है वही उसकी प्राप्ति सभव है। यो तो इसकी प्राप्ति जड चेतन दोनो को होती है। क्योंकि तिजोरी मे भी धन रखा रहता है इसलिये उसे भी धन की प्राप्ति कहा जा सकता है। किन्तु जड के रागादि भाव नही होता और चेतन के होता है, इसलिये वही उसमे ममकार और अहकार भाव करता है।

शका—यदि बाह्य सामग्री का लाभालाभ पुण्य-पाप का फल नही है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप-पुण्य का फल मानना ही पडता है।

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप-पुण्य के उदय का निमित्त भले ही हो जाय पर स्वय वह पाप पुण्य का फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने अपने कारणो से प्राप्त होती है, उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने-अपने कारणो से प्राप्त होती है। इसे पाप-पुण्य का फल मानना किसी भी हालत म उचित नही है।

शका—सरोगता और नीरोगता के क्या कारण हैं?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व सगति करना आदि सरोगता के कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व सगति करना आदि नीरोगता के कारण हैं।

इस प्रकार कर्म की कार्य-मर्यादा का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्ति के सयोग वियोग का कारण नहीं है। उसकी मर्यादा उतनी ही है जितना निर्देश हम पहले कर आये हैं। हाँ जीव के विविध भाव कर्म के निमित्त से होते हैं और वे कहीं-कहीं बाह्य सम्पत्ति के अर्जन आदि में कारण पडते है, इतनी बात अवश्य है। □

३४

कर्म-परिणाम की परम्परा

□ श्री केदारनाथ

कर्म के फल या परिणाम के लिये कर्ता के अगले जन्म तक प्रतीक्षा करने का सचमुच कोई कारण नही, क्योंकि कर्म के सकल्प के साथ ही कर्ता के चित्त पर सुख-दुःख के परिणाम शुरू हो जाते हैं। तभी से उसकी तरगें भी विश्व में फैलने लगती है। कर्म हो जाने के बाद उसके भले-बुरे परिणाम भी कर्ता को और जहाँ-जहाँ वे पहुँचते हैं वहाँ के सब लोगो को प्रत्यक्ष भोगने पडते हैं। उन परिणामो से पैदा होने वाले कई तरह के परिणामो की परम्परा दुनिया में जारी रहती है। विश्व का व्यापार किसी तरह अखड रूप मे चलता रहता है। कर्म के सकल्प और भाव विश्व की उसी प्रकार की तरगो और आदोलनो में तुरन्त मिलकर उन तत्त्वों मे वृद्धि करते हैं। प्रत्येक मनुष्य या दूसरा कोई प्राणी अपने-अपने सकल्प के अनुसार या चित्त के धर्म के अनुसार उन आन्दोलनो के तत्त्वों को आत्मसात् करके उन्हें उसी प्रकार के सकल्प या कर्म द्वारा पुन प्रकट करता है। उसमे से भी नई तरगें उठती हैं और फिर विश्व मे फैलने लगती हैं। स्थूल कर्म और उनकी भौतिक तरगें विश्व के व्यक्त-अव्यक्त को मदद देते हैं। जिस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया के न्याय से कर्म, सकल्प और भाव का चक्र व्यक्त-अव्यक्त के आधार पर विश्व मे सतत जारी ही रहता है। व्यक्ति के मरने से यह चक्र बन्द नही हो जाता। वह विरासत के आधार पर आगे जारी रहता है। विरासत का अर्थ यहाँ केवल वश-परम्परा या रक्त का सम्बन्ध न मानकर कर्म और सकल्प की सजातीयता समझना चाहिये। मनुष्य की मृत्यु के बाद उसके चित्त मे जो सकल्प तीव्र रूप मे बसे होंगे, जो इच्छाएँ, भावनायें और हेतु उत्कृष्ट रूप मे रहे होंगे, उनकी तरगों और आदोलनो का मृत्यु के बाद विश्व में अधिक तीव्रता से फैलना या जारी रहना सभव है। शरीर का कण-कण जैसे पच महाभूतों मे मिल जाता है, उसी तरह सारे जीवन मे उसने जो सत्त्व या तत्त्व प्राप्त किया होगा, वह विश्व मे रहने वाले सजातीय सत्त्व या तत्त्व मे मिल जाता है।

हमारे भले-बुरे कर्मों का फल इस जन्म में नही तो दूसरे जन्म में भी सुख-दुःख रूप मे हमी को भुगतना पडता है, लोगों की ऐसी श्रद्धा है। इस कारण समाज मे कुछ समय तक नीति के संस्कार टिके और बढ़े भी। श्रद्धा के मूल में लोगों की यह समझ थी कि ईश्वर के घर या कुदरत में न्याय है। कुछ समय तक समाज पर इसका अच्छा असर भी हुआ। परन्तु बाद मे यह हालत नहीं रही। अब इस मान्यता में संशोधन का समय आ गया है। अब प्रश्न खड़ा हुआ

है कि हमारे कर्मों का फल खुद हमी को भोगना पड़ता है या नही ? कई लोगो का यह खयाल भी होने लगा है कि पुनर्जन्म, कर्मवाद वगैरह तमाम मान्यतायें गलत हैं, इसका बहुजन-समाज पर जल्दी ही बुरा असर होना सभव है। ऐसे समय ईश्वर, भक्ति, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि पर से लोगो की श्रद्धा मिटे, इसके पहले ही विचारवान और जनहित चिन्तक व्यक्तियो को चाहिये कि वे समाज के सामने सही विचार रखकर उनमें नीति और सदाचार की भावनाएँ जाग्रत करें और उन्हे दृढ करें, अन्यथा पूर्व श्रद्धा से छूटे हुए लोगो के नास्तिकता मे फस जाने और स्वेच्छाचारी होने का बडा भय है। इस अवस्था मे यदि कुछ लोग यह महसूस करें कि ऐसा होने के बजाय धर्म की गलत और भ्रामक मान्यतायें होना भी अच्छा है तो आश्चर्य नही।

हमारे कर्म का फल खुद हमे तो भोगना ही पडना है, साथ ही साथ दूसरो को भी भोगना पडता है। इस नियम पर अब हमे विश्वास रखना चाहिये। मानव-जगत का न्याय सामूहिक पद्धति पर चलता है। इसलिये हमारे कर्मों का फल हमे न मिलकर समूह को भी मिलेगा। अपने कर्मों का फल हमे इस जन्म मे या दूसरे जन्म मे भोगना पडता है, इस मान्यता मे अपनेपन की कल्पना इस जन्म और दूसरे जन्म के अपने तक ही अर्थात् अपने जीव तक ही सीमित रहती है। इसमे सकुचितता और अवलोकन शक्ति की अपूर्णता मालूम होती है। इसलिये यह सकुचित कल्पना छोडकर हमे अपनेपन की विशाल कल्पना धारण करनी चाहिये। हमारा आत्मभाव जैसे-जैसे व्यापक होता जायेगा, वैसे-वैसे यह न्याय हमे उचित दिखाई देने लगेगा। मानव जीवन, मानव-सम्बन्ध, मानव-सकल्प और विश्व के व्यक्त अव्यक्त व्यापार सबकी दृष्टि से यह मान्यता और यह न्याय अधिक उदात्त, सत्य और श्रद्धेय है। इस न्याय निष्ठा से रहेंगे, तो हममें आपसी प्रेम, विश्वास और एकता बढेगी, समभाव पैदा होगा और कुल मिलाकर हम सब मानवता की दिशा मे प्रगति करेंगे। इसके लिये हमें अपने कर्मों और सकल्पो का विचार करके उनमें रहने वाली अशुद्धता दूर करनी चाहिये, हमे शुभ कर्म करने चाहिये और शुभ सकल्प धारण करने चाहिये। सबकी शुद्धि और उन्नति के लिये हमें सत्कर्म और सद्गुणी बनना चाहिये। प्रेमी और कल्याण इच्छुक माता-पिता अपनी सन्तान पर अच्छे सस्कार डालने और उसकी उन्नति के लिये खुद सयमी, सद्गुणी और सदाचारी रहते हैं। इसी प्रकार सारी मानव-जाति पर हमारा प्रेम हो, सबके प्रति हमारे मन में सहानुभूति हो, तो समस्त मानव-जाति के लिये धर्म मार्ग मे कष्ट सहन करने में हम धन्यता का अनुभव होगा। केवल अपने विषय की सकुचित भावना से कष्ट सहन करने के बजाय मानवता और एकता की विशाल भावना से कष्ट सहन करने में जीवन की सच्ची सार्थकता है।

• • •

३५ कर्मक्षय और प्रवृत्ति

□ श्री किशोरलाल मशरूवाला

एक सज्जन मित्र लिखते है—"कुछ लोग कहते हैं कि कम का सम्पूर्ण क्षय हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती, और कम से निवृत्त हुए बिना कम क्षय की सम्भावना नही है। इसलिये निवृत्ति माग ही आत्मज्ञान अथवा मोक्ष का माग है। क्योकि जो भी कम किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। अर्थात मनुष्य जब तक कम मे प्रवृत्त रहेगा तब तक वह भले अनासक्ति से कम करता हो तो भी कमफल के भार से मुक्त नही हो सकता। इससे कर्म बन्धन का आवरण हटने के बदले उलटा घना होगा। इसके फलस्वरूप उसकी साधना खडित होगी। लोक-कल्याण की दृष्टि से भले ही अनासक्ति वाला कमयोग इष्ट हो, परन्तु उससे आत्मज्ञान की साधना सफल नही होगी। इस विषय मे म आपके विचार जानना चाहता हूं।"

मेरी नम्र राय मे कम क्या, कम का बन्धन और क्षय क्या, प्रवृत्ति और निवृत्ति क्या, आत्मज्ञान और मोक्ष क्या इत्यादि की हमारी कल्पनाए बहुत ही अस्पष्ट हैं। अतएव इस सम्बन्ध मे हम उलझन मे पड जाते हैं और साधनों मे गोते लगाते रहते हैं।

इस सम्बन्ध मे पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि शरीर, वाणी और मन की क्रियामात्र कर्म है। कर्म का यदि हम यह अर्थ लेते हैं तो जब तक देह है तब तक कोई भी मनुष्य कम करना बिलकुल छोड नही सकता। कथाओं में आता है उस तरह कोई मुनि चाहे तो वर्ष भर तक निर्विकल्प समाधि में निश्चेष्ट होकर पडा रहे, परन्तु जिस क्षण वह उठता उस क्षण वह कुछ न कुछ कम अवश्य करेगा। इसके अलावा यदि हमारी कल्पना ऐसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देह से परे जन्म-जन्मान्तर पाने वाला जीव रूप है, तब तो देह के बिना भी वह क्रियावान रहेगा। यदि कर्म से निवृत्त हुए बिना कमक्षय न हो सके तो उसका यह अथ हुआ कि कमक्षय होने की कभी भी सम्भावना नहीं है।

इसलिये निवृत्ति अथवा निष्कमता या अन्य स्थूल निष्क्रियता समझने में भूल होती है। निष्कमता सूक्ष्म वस्तु है। यह आध्यात्मिक अर्थात् बौद्धिक, मानसिक, नैतिक भावना-विषयक और इससे भी परे बोधात्मक (संवेदनात्मक) है। क, ख, ग, घ नाम के चार व्यक्ति प, फ, ब, भ नाम के चार भूखे व्यक्तियों

को एक सा अन्न देते हैं। चारो बाह्य कर्म करते हैं और चारो को सामान स्थूल तृप्ति होती है। परन्तु सम्भव है कि 'क' लोभ से देता हो, 'ख' तिरस्कार से देता हो, 'ग' पुण्येच्छा से देता हो और 'घ' आत्मभाव से स्वभावत देता हो। उसी तरह 'प' दुख मानकर लेता हो, 'फ' मेहरबानी मानकर लेता हो, 'ब' उपकारक भावना से लेता हो, 'भ' मित्र भाव से लेता हो। अन्नव्यय और क्षुधा-तृप्ति रूपी बाह्य फल सबका समान होने पर भी इन भेदो के कारण कर्म के बन्धन और क्षय की दृष्टि से बहुत फर्क पड जाता है। उसी तरह क, ख, ग, घ, से प, फ, ब, भ अन्न मांगें और चारो व्यक्ति उन्हे भोजन नही करावें, तो इसमें कर्म से समान परावृत्ति है और चारो की स्थूल भूख पर इसका समान परिणाम होता है। फिर भी भोजन न करावें या जल न पाने के पीछे रही बुद्धि, भावना, नीति, संवेदना इत्यादि भेद से इस कर्म-परावृत्ति से कर्म के बंधन और क्षय एक से नही होते।

तो यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के साथ पुनरावृत्ति और वृत्ति शब्द भी याद रखने जैसे हैं। परावृत्ति का अर्थ निवृत्ति नही है। परन्तु बहुत से लोग परावृत्ति को ही निवृत्ति मान बैठते हैं और वृत्ति अथवा वर्तन का अर्थ प्रवृत्ति नही है। परन्तु बहुत से लोग वृत्ति को ही प्रवृत्ति समझते हैं। वृत्ति का अर्थ है केवल बरतना। प्रवृत्ति का अर्थ है विशेष प्रकार के आध्यात्मिक भावों से बरतना। परावृत्ति का अर्थ है वर्तन का अभाव, निवृत्ति का अर्थ है वृत्ति तथा परावृत्ति सम्बन्धी प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार की एक विशिष्ट आध्यात्मिक संवेदना।

अब कर्म बन्धन और कर्मक्षय के विषय मे बहुतों का ऐसा खयाल मालूम होता है, मानो कर्म नाम की हर एक के पास एक तरह की पूंजी है। पाँच हजार रुपये ट्रंक मे रखे हुए हों और उनमे किसी तरह की वृद्धि न हो परन्तु उनका क्षय होता रहे, तो दो चार वर्ष मे या पच्चीस वर्ष मे तो वे सब अवश्य क्षय हो जायेंगे। परन्तु यदि मनुष्य उन्हें किसी कारोबार में लगाता है तो उनमें कमीवेशी होगी और सम्भव है कि पांच हजार के लाख भी हो जायें या लाभ न होकर उल्टा कर्ज हो जाय। यह घाटा भी चिंता और दुख उत्पन्न करता है। सामान्य रूप से मनुष्य ऐसी चिंता और दुख की सम्भावना से घबराते नहीं और लाभ होने की सम्भावना से अप्रसन्न नहीं होते। वे न तो रुपयों का क्षय करना चाहते हैं और न रुपया के बन्धन में पड़ने से दुखी होते हैं। निर्गुण-मार्गी साधु भी मन्दिरों में और पुस्तकालयों में बढ़ा करने परिग्रह से निस्पृह नहीं होते। परन्तु कर्म नाम की पूंजी की हमने कुछ ऐसी कल्पना की है मानो यह एक बड़ी गठरी है और उसको खालकर, जैसे बने वैसे उसे खतम कर डालने में ही मनुष्य का श्रेय है, कर्म का व्यापार करके उससे लाभ उठाने में नहीं।

कर्म को पूंजी की तरह समझने के कारण उसे खत्म करने की ऐसी कल्पना पैदा हुई है।

परन्तु कर्म का बंधन रुपयों की गठरी जैसा नहीं है। और वृत्ति-परावृत्ति अथवा स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति से यह गठरी घटती-बढती नहीं है। जगत में कोई भी क्रिया हो चाहे जानने में हो या अनजान में वह विविध प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म परिणाम एक ही समय में या भिन्न भिन्न समय में, तुरन्त या कालांतर में एक ही साथ या रह-रहकर पैदा करती है। इन परिणामों में से एक परिणाम कर्म करने वाले के ज्ञान और चारित्र के ऊपर किसी तरह का रजकण जितना ही असर उपजाने का होता है। करोड़ों कर्मों के ऐसे करोड़ों असरों के परिणामस्वरूप हर एक जीव का ज्ञान-चारित्र का व्यक्तित्व बनता है। यह निर्माण यदि उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाये और ज्ञान, धर्म, वैराग्य इत्यादि की ओर अधिकाधिक झुकता जाये तो उसके कर्म का क्षय होता है ऐसा कहा जायेगा। यदि वह उत्तरोत्तर अशुद्ध होता जाये—अज्ञान, अधर्म, राग इत्यादि के प्रति बढता जाये तो उसके कर्म का संचय होता है ऐसा कहा जायेगा।

इसी तरह कर्मों की वृत्ति-परावृत्ति नहीं, परन्तु कर्म का जीव के ज्ञान चारित्र पर होने वाला असर ही बंधन और मोक्ष का कारण है। जीवनकाल में मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ है ऐसी उच्च स्थिति का आदर्श, जिस स्थिति को प्राप्त होने के बाद उस व्यक्ति के ज्ञान-चारित्र पर ऐसा असर पैदा न हो कि उसमें पुनः अशुद्धि घुस सके।

इसके लिये कर्त्तव्य-कर्मों का विवेक तो अवश्य करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ अपकर्म नहीं करने चाहिये, कर्त्तव्य रूप कर्म तो करने ही चाहिये, अकर्त्तव्य कर्म छोड़ने ही चाहिये। चित्तशुद्धि में सहायक सिद्ध होने वाले दान, तप और भक्ति के कर्म करने चाहिये इत्यादि। इसी तरह कर्म करने की रीति में भी विवेक करना पड़ेगा। जैसे ज्ञानपूर्वक कर्म करना, सावधानीपूर्वक करना, सत्य, अहिंसा आदि नियमों का पालन करते हुए करना, निष्काम भाव से अथवा अनासक्ति भाव से करना इत्यादि। परन्तु यह कल्पना गलत है कि कर्मों से परावृत्ति होने पर कर्मक्षय होता है। कर्त्तव्य रूप कर्म से परावृत्त होने की अपेक्षा कदाचित् सकाम भाव से अथवा आसक्ति भाव से किये हुए सत्कर्मों से अधिक कर्म-बंधन होने की पूरी सम्भावना है।

• • •

३६ कर्त्तव्य-कर्म

☐ स्वामी शरणानन्द

प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से है। अत भविष्य मे जो कुछ करना है, उसका चिन्तन तभी तक होता है, जब तक मानव कर्त्तव्यनिष्ठ नही होता और विश्राम मे जीवन है—इसमें आस्था नही होती। चिन्तन से उसकी प्राप्ति नही होती जो कर्म सापेक्ष है। अर्थात् उत्पन्न हुई वस्तुओं की प्राप्ति कर्म सापेक्ष है, चिन्तन साध्य नही। इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि का चिन्तन व्यर्थ चिन्तन ही है। अब यदि कोई यह कहे कि आत्मा, परमात्मा का तो चिन्तन करना होगा। अनात्मा का आश्रय लिये बिना क्या कोई भी मानव किसी प्रकार का चिन्तन कर सकता है? कदापि नही। अनात्मा से असग होने पर आत्म साक्षात्कार तथा आत्मरति होती है, चिन्तन से नहीं। असगता अनुभव सिद्ध है, चिन्तन साध्य नही। अत आत्म चिन्तन अनात्मा का तादात्म्य ही है और कुछ नही। परमात्मा से देश-काल की दूरी नहीं है। जो सभी का है, सदैव है, सर्वत्र है और सर्व है, उसकी आत्मीयता ही उससे अभिन्न कर सकती है, कारण कि आत्मीयता अगाध प्रियता की जननी है। प्रियता-दूरी, भेद भिन्नता को रहने नही देती, अर्थात् मानव को योग, बोध, प्रेम से अभिन्न करती है।

आत्मीयता आस्था, श्रद्धा, विश्वास से ही साध्य है, किसी अन्य प्रकार से नही। आस्था, श्रद्धा, विश्वास की पुनरावृत्ति नहीं करनी पड़ती, अपितु अपने ही द्वारा स्वीकृत होती है। इन्द्रिय तथा बुद्धि दृष्टि से जिसकी प्रतीति होती है, उससे असग होना और सुने हुए आत्मा व परमात्मा में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना सत्सग है, अभ्यास नही। अभ्यास के लिये किसी 'पर' की अपेक्षा होती है और सत्सग अपने ही द्वारा साध्य है। इस दृष्टि से सत्सग स्वधर्म तथा प्रत्येक अभ्यास शरीर धर्म ही है। स्वधर्म अपने लिये तथा शरीर धर्म पर के लिए उपयोगी है। योग, बोध तथा प्रेम की अभिव्यक्ति स्वधर्म अर्थात् सत्सग से ही साध्य है। प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म के आदि और अन्त में सत्सग का महत्व है। सत्सग के बिना कर्त्तव्य की, निज स्वरूप की एव प्रभु की विस्मृति नाश नहीं होती। कर्त्तव्य की विस्मृति म ही अकर्त्तव्य की उत्पत्ति और निज स्वरूप की विस्मृति म ही देहाभिमान की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है। स्मृति

अपने मे अपने आप जागृत होती है, उसके लिये किसी कारण की अपेक्षा नहीं है। स्मृति मे ही प्रीति, वोध तथा प्राप्ति निहित है। जिस प्रकार काष्ठ मे अभिव्यक्त हुई अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार अपने में ही जागृत स्मृति समस्त दोषो को भस्मीभूत कर देती है।

अखण्ड स्मृति किसी श्रमसाध्य उपाय से साध्य नहीं है, अपितु विश्राम अर्थात् सत्सग से ही साध्य है। अविनाशी का सग किसी उत्पन्न हुई वस्तु के आश्रय से नही होता, ममता, कामना एव तादात्म्य के नाश से ही होता है, जो अपने ही द्वारा अपने से साध्य है।

जो उत्पत्ति विनाशयुक्त है, उसका आश्रय अनुत्पन्न अविनाशी तत्व ही है। अविनाशी की माग मानव मात्र मे स्वभाव सिद्ध है और विनाशी की ममता, कामना, भूल जनित है। भूल का नाश होने से ममता, कामना आदि का नाश हो जाता है। फिर स्वाभाविक माग की पूर्ति स्वत हो जाती है, उसके लिए कुछ करना नही पडता।

मांग की जागृति से, ममता तथा कामना के नाश से माग की पूर्ति होती है, इस दृष्टि से वास्तविक माग की पूर्ति और ममता, कामना आदि की निवृत्ति अनिवार्य है। इस ध्रुव सत्य मे अविचल आस्था करने से सत्संग बडी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है।

क्रियाजनित सुख का प्रलोभन देहाभिमान, अर्थात् असत के संग को पोषित करता है। असत् का सग रहते हुए किसी भी मानव को वास्तविक जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस दृष्टि से असत का त्याग तथा सत का सग अनिवार्य है। यह नियम है कि जो मानव मात्र के लिय अनिवार्य है, उसकी प्राप्ति मे पराधीनता तथा असमर्थता नही है। यह वैधानिक तथ्य है। अत सत्सग मानव मात्र के लिये सुलभ है। उससे निराश होना भूल है। उसके लिये नित नव-उत्साह वनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। उत्साह मानव को सजगता तथा तत्परता प्रदान करता है। उत्साहहीन जीवन निराशा की ओर ले जाता है, जो अवनति का मूल है। जिसकी प्राप्ति में निराशा की गन्ध भी नहीं है उनके लिये उत्साह सुरक्षित रखना सहज तथा स्वाभाविक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जव मानव सत्सग को अपना जन्मसिद्ध अधिकार स्वीकार करता है, कारण कि सत्सग के विना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एव प्रेम की जागृति सम्भव नही है। काम की निवृत्ति में ही नित्य योग एवं जिज्ञासा की पूर्ति में ही तत्त्व साक्षात्कार तथा प्रेम की जागृति में अनन्त रस की अभिव्यक्ति निहित है जो मानव मात्र की अन्तिम मांग है। क्रियाजनित सुख भोग मे पराधीनता, असमर्थता एव अभाव निहित है जो किसी भी मानव

को अभीष्ट नही है। इतना ही नही, समस्त कर्म, मान और भोग मे हेतु हैं। मान और भोग की रुचि देहातीत जीवन से अभिन्न नही होने देती। देह युक्त जीवन मे स्थायित्व नही है, यह प्रत्यक मानव का निज अनुभव है। स्थायित्व सहित जीवन वास्तविक जीवन की माग है, और कुछ नही, अर्थात् मानव का अस्तित्व मांग है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। असत् के सग से उत्पन्न हुई वासनाएँ मानव को वास्तविक माग से विमुख करती हैं और सत्सग से मांग की पूर्ति होती है।

कर्म का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नही। अपने से भिन्न जो कुछ है, वही 'पर' है। जिसे 'यह' करके सम्बोधन करते हैं वह अपने से भिन्न है। इस कारण शरीर तथा समस्त सृष्टि 'पर' के अर्थ मे हो जाती है। शरीर और सृष्टि के प्रति ही कर्म की अपेक्षा है, वह कर्म जो शरीर तथा सृष्टि के लिये अहितकर है उसका करना असत् का सग है। अहितकर कर्म का त्याग सत का सग है, अर्थात् जो नही करना चाहिये उसका करना असत् का सग और उसका न करना सत् का सग है। कर्म विज्ञान की दृष्टि से जो नहीं करना चाहिये, उसके न करने मे ही जो करना चाहिये वह स्वत होने लगता है। इस दृष्टि से जो करना चाहिये वह स्वत होगा, पर जो नही करना चाहिये उसका त्याग अनिवार्य है। सत्सग त्याग से ही साध्य है। त्याग सहज तथा स्वाभाविक तथ्य है। जैसे कुछ भी करने से पूर्व न करना स्वत सिद्ध है और करने के अन्त मे भी न करना ही है। जो आदि और अन्त मे है, उसे अपना लेना सत्सग है। पर इसका अर्थ यह नही है कि अकर्मण्यता तथा आलस्य का मानव जीवन मे कोई स्थान है। अकर्मण्यता तथा आलस्य तो सर्वथा त्याज्य है। स्व के प्रति करने की बात है ही नही, परहित मे ही कर्म का स्थान है। प्रत्येक प्रवृत्ति सर्व हितकारी सद्भावना से ही आरम्भ हो। प्रवृत्ति के द्वारा अपने को कुछ भी नहीं पाना है, यह अनुभव हो जाने पर ही कर्म-विज्ञान की पूर्णता होती है। कर्म विज्ञान वह विज्ञान है जो मानव को क्रियाजनित सुख लोलुपता से रहित करने में समर्थ है। क्रियाजनित सुख लोलुपता का अन्त होते ही योग विज्ञान का प्रारम्भ होता है जो एकमात्र सत्सग मे ही साध्य है। योग की अभिव्यक्ति के लिये किसी प्रकार की प्रवृत्ति अपेक्षित नही है अपितु मूक-सत्सग ही अपेक्षित है।

मूक-सत्सग का अर्थ कोई श्रमयुक्त मानसिक साधन नहीं है अपितु अहंकृति रहित विश्राम है। कुछ न करने का सकल्प भी श्रम है। कर्तव्य के अन्त मे अपने आप आने वाला विश्राम मूक सत्सग है। विश्राम काल मे ही सार्थक तथा निरर्थक चिन्तन की अभिव्यक्ति तथा उत्पत्ति होती है। सार्थक चिन्तन का अर्थ है अखण्ड स्मृति और निरर्थक चिन्तन का अर्थ है भुक्त अभुक्त का प्रभाव। भुक्त अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति का ही व्यर्थ चिन्तन, मानसिक

चचलता आदि कहते हैं जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।। प्राकृतिक नियमानुसार भुक्त-अभुक्त के प्रभाव की प्रतीति यद्यपि मानव के विकास में हेतु है, परन्तु उसके वास्तविक रहस्य को न जानने के कारण हम अपने आप होने वाले चिन्तन को किसी अन्य चिन्तन के द्वारा मिटाने का प्रयास करते हैं और यह भूल जाते हैं कि किये हुए का तथा करने की रुचि का परिणाम ही तो व्यर्थ चिन्तन है। जिस कारण से व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न हुआ है, उसका नाश न करना और उसी के द्वारा व्यर्थ चिन्तन मिटाने का प्रयास करना व्यर्थ चिन्तन को ही पोषित करना है।

व्यर्थ चिन्तन की उत्पत्ति मानव को यह बोध कराती है कि भूतकाल में क्या कर चुके हो और भविष्य में क्या करना चाहते हो। जो कर चुके हो उसका परिणाम क्या है? जो करना चाहते हो उसका परिणाम क्या होगा, इस पर विचार करने का सुअवसर व्यर्थ चिन्तन के होने से ही मिलता है। व्यर्थ चिन्तन का सदुपयोग न करना और उसको बलपूर्वक किसी क्रिया विशेष से मिटाने का प्रयास करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। ज्यों-ज्यों व्यर्थ चिन्तन मिटाने के लिये किसी क्रिया विशेष को अपनाते हैं, त्यों त्यों व्यर्थ चिन्तन सबल तथा स्थायी होता जाता है। किये हुए के परिणाम को किसी श्रम के द्वारा मिटाने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ ही सिद्ध होता है अर्थात् व्यर्थ चिन्तन नाश नहीं होता। व्यर्थ चिन्तन का अन्त करने के लिये क्रिया-जनित सुख लोलुपता का सर्वांश में त्याग करना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब मूक-सत्सग के द्वारा शान्ति की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं अखण्ड स्मृति जागृत हो जाय। शान्ति मे योग, विचार मे बोध एवं अखण्ड स्मृति में अगाध रस निहित है। क्रिया-जनित सुख लोलुपता की दासता का नाश रस की अभिव्यक्ति होने पर ही होता है। सुख लोलुपता मानव को सदैव पराधीनता, जड़ता एवं अभाव में ही आबद्ध करती है। किन्तु रस की अभिव्यक्ति मे पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि की गन्ध भी नहीं है। इतना ही नहीं, पराधीनता से ही क्रिया जनित सुख उत्पन्न होता है। जब मानव को पराधीनता असह्य हो जाती है तब वह बड़ी ही सुगमता एवं स्वाधीनतापूर्वक सत्सग करने मे तत्पर होता है। यह कैसा आश्चर्य है? जिसकी उपलब्धि स्वाधीनतापूर्वक होती है उससे विमुख होना और जिसमें पराधीनता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसके लिये प्रयास करना, क्या अपने ही द्वारा अपने विनाश का आह्वान नहीं है?

सत्सग की भूख जागृत होते ही सत्सग अत्यन्त सुलभ हो जाता है। उससे निराश होना भूल है। जो मौजूद है उसका सग न करना और जो नहीं है उसके पीछे दौड़ने का प्रयास करना क्या प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय नहीं है? अर्थात् अवश्य है।

यह अनुभव सिद्ध है कि प्रतीति की ओर प्रवृत्ति भले ही हो, किन्तु परिणाम मे प्राप्ति कुछ नही है। प्रवृत्ति के अन्त मे अपने आप आने वाली निवृत्ति ही मूक सत्सग है। उस निवृत्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा जब "अपने लिये कुछ भी करना नही है, अपितु सेवा, त्याग, प्रेम मे ही जीवन है"—इसम किसी प्रकार का विकल्प न हो।

प्रवृत्ति का आकर्षण पराधीनता को जन्म देता है। प्रवृत्तियो का उद्गम देहाभिमान के अतिरिक्त और कुछ नही है। देहाभिमान की उत्पत्ति भूलजनित है, जिसकी निवृत्ति मूक-सत्सग से ही साध्य है।

• □ •

आप आप के करम तू, आपै निरमल होय ।
आपां नै निरमल करै, और न दूजो कोय ।।

आप ही खोटा करै, आपै मैलो होय ।
खोटी करणी छूटतां, आप उजलो होय ।।

तीन बात बन्धन बन्ध्या, राग, द्वेष, अभिमान ।
तीन बात बन्धन खुल्या, शील, समाधि, ज्ञान ।।

जब तक मन मे मोह है, राग-द्वेष भरपूर ।
तब तक मन सतप्त है, शान्ति बहुत ही दूर ।।

जब तक मन मे राग है, जब तक मन मे द्वेष ।
तब तक दुःख ही दुःख है, मिटै न मन के क्लेश ।।

जितना गहरा राग है, उतना गहरा द्वेष ।
जितना गहरा द्वेष है, उतना गहरा क्लेश ।।

क्रोध क्षोभ का मूल है, शान्ति-शान्ति की खान ।
क्रोध छोड़ धारे क्षमा, होय अमित कल्याण ।।

राग जिसो ना रोग है, द्वेष जिसो ना दोष ।
मोह जिसो ना मूढ़ता, धरम जिसो ना होश ।।

—सत्यनारायण गोयनका

३७

कर्मविपाक और आत्म-स्वातंत्र्य

☐ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

कम चाहे भला हो या बुरा, परन्तु उसका फल भोगने के लिये मनुष्य को एक न एक जन्म लेकर हमेशा तैयार रहना चाहिये । कर्म अनादि है, और उसके अखण्ड व्यापार में परमेश्वर भी हस्तक्षेप नहीं करता । सब कर्मों को छोड़ देना सभव नहीं है, और मीमासको के कथनानुसार कुछ कर्मों को करने से और कुछ कर्मों को छोड देने से भी कमबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता—इत्यादि बातों के सिद्ध हो जाने पर यह पहला प्रश्न फिर भी उत्पन्न होता है कि कर्मात्मक नाम रूप के विनाशी चक्र से छूट जाने एव उसके मूल मे रहने वाले अमृत तथा अविनाशी तत्त्व मे मिल जाने की मनुष्य को जो स्वाभाविक इच्छा होती है उसकी तृप्ति करने का कौनसा माग है ? वेद और स्मृति ग्रन्थो मे यज्ञयाग आदि पारलौकिक कल्याण के अनेक साधनो का वणन है, परन्तु मोक्षशास्त्र की दृष्टि से ये सब कनिष्ठ श्रेणी के है । क्योंकि यज्ञयाग आदि पुण्यकर्मों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जब उन पुण्य-कर्मों के फलों का अन्त हो जाता है तब चाहे दीघकाल मे ही क्यो न हो—कभी न कभी इस कमभूमि में फिर लौट कर आना ही पडता है ।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि कम के पजे से बिलकुल छूटकर अमृतत्व मे मिल जाने का और जन्म मरण की झझट को सदा के लिए दूर कर देने का यह सच्चा माग नहीं है । इस झझट को सदा के लिए दूर करने का अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का अध्यात्म शास्त्र के कथनानुसार "ज्ञान" ही एक मुख्य मार्ग है । "ज्ञान" शब्द का अर्थ व्यवहार ज्ञान या नाम रूपात्मक सृष्टि शास्त्र या ज्ञान नही है, किन्तु यहाँ उसका अथ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है । इसी को "विद्या" भी कहते हैं । 'कर्मणा बध्यते जन्तु विद्यया तु प्रमुच्यते"—कम से ही प्राणी बांधा जाता है, और विद्या से उसका छुटकारा होता है—यह जो वचन दिया गया है, उसमे "विद्या" का अर्थ "ज्ञान" ही विवक्षित है । गीता मे भगवान ने अर्जुन से कहा है कि—'ज्ञानाग्नि सवकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।' अर्थात् ज्ञान रूप अग्नि से सब कम भस्म हो जाते हैं [गीता ४,३७] । और 'महाभारत' मे भी कहा गया है कि—

> बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुन
> ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुन ॥[2]

१—महाभारत, वनपर्व २५९–६० गीता ८ २५, ६ २०

२—महाभारत, वनपर्व १८९–१०६–७ ।

अर्थात् भुना हुआ बीज जैसे उग नही सकता, वैसे ही जब ज्ञान से (कर्म के) क्लेश दग्ध हो जाते हैं, तब वे आत्मा को पुन प्राप्त नही होते। उपनिषदों में भी इसी प्रकार ज्ञान की महत्ता बतलाने वाले अनेक वचन हैं जैसे—"य एव वेदाह ब्रह्मास्मीति स इद सर्व भवति।"[1] जो यह जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वही अमृत ब्रह्म होता है। जिस प्रकार कमल पत्र मे पानी चिपक नहीं सकता, उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसे कर्म दूषित नहीं कर सकते।[2] ब्रह्म जानने वाले को मोक्ष मिलता है। जिसे यह मालूम हो चुका है कि सब कुछ आत्ममय है, उसे पाप नही लग सकता। 'ज्ञात्वा देव मुचयते सर्वपाश'[3] परमेश्वर का ज्ञान होने पर सब पापो से मुक्त हो जाता है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु २ २ ८) परब्रह्म का ज्ञान होने पर सब कर्मों का क्षय हो जाता है। 'विद्ययामृतमश्नुते'[4] विद्या से अमृतत्व मिलता है। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे ३ ८) परमेश्वर को जान लेने से अमरत्व मिलता है, इसको छोड मोक्ष प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है और शास्त्र दृष्टि से विचार करने पर भी यही सिद्धान्त दृढ़ होता है। क्योंकि दृश्य सृष्टि में जो कुछ है, वह सब यद्यपि कर्ममय है, तथापि इस सृष्टि के आधारभूत परब्रह्म की ही वह सब लीला है, इसलिए यह स्पष्ट है कि कोई भी कर्म परब्रह्म को बाधा नही दे सकते—अर्थात् सब कर्मों को करके भी परब्रह्म अलिप्त ही रहता है।

अध्यात्मशास्त्र के अनुसार इस ससार के सब पदार्थों के कर्म (माया) और ब्रह्म, ये दो ही वर्ग होते हैं। इससे यही प्रकट होता है कि इनमें से किसी एक वर्ग से अर्थात् कर्म से छुटकारा पाने की इच्छा हो तो मनुष्य को दूसरे वर्ग में अर्थात् ब्रह्म स्वरूप मे प्रवेश करना चाहिये। इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नही है। क्योंकि जब सब पदार्थों के केवल दो ही वर्ग होते हैं, तब कर्म से मुक्त अवस्था सिवा ब्रह्म स्वरूप के और कोई शेष नहीं रह जाती। परन्तु ब्रह्म स्वरूप की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिये कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? नहीं तो करने चलेंगे एक और होगा कुछ दूसरा ही। 'विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' मूर्ति तो गणेश की बनानी थी, परन्तु (वह न बन कर) बन गई बंदर की। ठीक यही दशा होगी। इसलिए अध्यात्मशास्त्र के युक्तिवाद से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य का तथा ब्रह्म की अलिप्तता का ज्ञान) प्राप्त करके उसे मृत्युपर्यन्त स्थिर रखना ही कर्मपाश से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। गीता में

1—बृहदारण्यकोपनिषद् १ ४ १०
2—छान्दोग्योपनिषद् ४ १४ ३
3—श्वेताश्वतरोपनिषद् २ १५, ६ १३
4—ईशावास्योपनिषद् ११

भगवान ने भी यही कहा है कि कर्मों मे मेरी कुछ भी आसक्ति नही है, इसलिए मुझे कर्म की बाधा नही होती और जो इस तत्त्व को समझ जाता है वह कर्मपाश से मुक्त हो जाता है।[1]

स्मरण रहे कि यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ केवल शाब्दिक ज्ञान या केवल मानसिक क्रिया नही है, किन्तु वेदान्त सूत्र के शाकरभाष्य के आरम्भ ही में कहे अनुसार हर समय और प्रत्येक स्थान मे उसका अर्थ "पहले मानसिक ज्ञान होने पर और फिर इन्द्रियो पर जय प्राप्त कर लेने पर ब्रह्मीभूत होने की अवस्था या ब्राह्मी स्थिति ही है।" महाभारत मे भी जनक ने सुलभा से कहा है कि "ज्ञानेन कुरुते यत्न, यत्नेन प्राप्यते महत्"[2] ज्ञान अर्थात् मानसिक क्रिया रूपी ज्ञान हो जाने पर मनुष्य यत्न करता है, और यत्न के इस मार्ग से ही अन्त मे उसे महत्त्व (परमेश्वर) प्राप्त हो जाता है। अध्यात्मशास्त्र इतना ही बतला सकता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किस मार्ग से और कहाँ जाना चाहिए। इससे अधिक वह और कुछ नही बतला सकता। शास्त्र से ये बातें जानकर प्रत्येक मनुष्य को शास्त्रोक्त मार्ग पर स्वय ही चलना चाहिए और उस मार्ग मे जो काटे या बाधाएँ हो, उन्हें निकालकर अपना रास्ता खुद साफ कर लेना चाहिये एव उसी मार्ग पर चलते हुए स्वय अपने प्रयत्न से ही अन्त मे ध्येयवस्तु की प्राप्ति कर लेना चाहिए। परन्तु यह प्रयत्न भी पातजलयोग, अध्यात्मविचार, भक्ति, कर्मफल त्याग इत्यादि अनेक प्रकार से किया जा सकता है और इस कारण मनुष्य बहुधा उलझन मे फस जाता है। इसलिए गीता मे पहले निष्काम कर्मयोग का मुख्य मार्ग बतलाया गया है, और उसकी सिद्धि के लिए छठे अध्याय में यम नियम आसन प्राणायाम-प्रत्याहार ध्यान-समाधि रूप अगभूत साधनों का भी वर्णन किया गया है तथा सातवें अध्याय से आगे यह बतलाया है कि कर्मयोग का आचरण करते रहने से ही परमेश्वर का ज्ञान अध्यात्म विचार द्वारा अथवा (इससे भी सुलभ रीति से) भक्ति मार्ग द्वारा हो जाता है।[3]

कर्मबध मे छुटकारा पाने के लिए कर्म छोड देना कोई उचित मार्ग नहीं है किन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध रखकर परमेश्वर के समान आचरण करते रहने से ही अन्त में मोक्ष मिलता है। कर्म को छोड देना भ्रम है, क्योंकि कर्म किसी से छूट नही सकता—इत्यादि बातें यद्यपि अब निर्विवाद सिद्ध हो गई हैं, तथापि यह पहला प्रश्न फिर भी उठता है, कि इस मार्ग में सफलता पाने के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्ति का जो प्रयत्न करना पडता है, वह मनुष्य के वश की बात है? अथवा नाम रूप कर्मात्मक प्रकृति जिधर खींचे, उधर ही उसे चले जाना चाहिए? गीता मे भगवान कहते हैं कि "प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह

१—गीता ४ १४
२—शान्ति पर्व ३२० ३०
३—गीता १८ ५६

कि करिष्यति ।" (गीता ३,३३) निग्रह से क्या होगा, प्राणिमात्र अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं । "मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति" तेरा निश्चय व्यर्थ है । जिधर तू न चाहेगा, उधर तेरी प्रकृति तुझे खींच लेगी । (गीता १८, ५६, २, ६०) और मनुजी कहते हैं कि "बलवान इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति" (मनु २ २१५) विद्वानों को भी इन्द्रियाँ अपने वश में कर लेती हैं । कर्म-विपाक प्रक्रिया का भी निष्कर्ष यही है । क्योंकि जब ऐसा मान लिया जाय कि मनुष्य के मन की सब प्रेरणाएँ पूर्व कर्मों से ही उत्पन्न होती हैं, तब तो यही अनुमान करना पड़ता है कि उसे एक कर्म से दूसरे कर्म में अर्थात् सदैव भव चक्र में ही रहना चाहिए । अधिक क्या कहें ? कर्म से छुटकारा पाने की प्रेरणा और कर्म, दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । और यदि यह सत्य है तो यह आपत्ति आ पड़ती है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है ।

इस विषय का विचार अध्यात्मशास्त्र में इस प्रकार किया गया है कि नाम रूपात्मक सारी दृश्य सृष्टि का आधारभूत जो तत्त्व है वही मनुष्य की जड़ देह में भी आत्म रूप से निवास करता है, इससे मनुष्य के कृत्यों का विचार देह और आत्मा, दोनों की दृष्टि से करना चाहिए । इनमें से आत्मस्वरूपी ब्रह्म मूल में केवल एक ही होने के कारण कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता । क्योंकि किसी एक वस्तु को दूसरे की अधीनता में होने के लिए एक से अधिक कम-से कम दो वस्तुओं का होना नितान्त आवश्यक है । यहाँ नाम-रूपात्मक कर्म ही वह दूसरी वस्तु है । परन्तु यह कर्म अनित्य है । और मूल में वह परब्रह्म की ही लीला है जिससे निर्विवाद सिद्ध होता है कि यद्यपि उसने परब्रह्म के एक अंश को आच्छादित कर लिया है, तथापि वह परब्रह्म को अपना दास कभी भी बना नहीं सकता । इसके अतिरिक्त यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि जो आत्मा कर्म सृष्टि के व्यापारों का एकीकरण करके सृष्टिज्ञान उत्पन्न करता है, उसे कर्म सृष्टि से भिन्न अर्थात ब्रह्मसृष्टि का ही होना चाहिए । इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म और वस्तुतः उसी का अंश जो शारीर आत्मा, दोनों मूलतः स्वतन्त्र अर्थात कर्मात्मक प्रकृति की सत्ता से मुक्त हैं । इनमें से परमात्मा के विषय में मनुष्य को इससे अधिक ज्ञान नहीं हो सकता कि वह अनन्त, सर्वव्यापी, नित्य शुद्ध और मुक्त है । परन्तु इस परमात्मा ही के अंशरूप जीवात्मा की बात भिन्न है । यद्यपि वह मूल में शुद्ध मुक्त स्वभाव निर्गुण तथा अकर्ता है, तथापि शरीर और बुद्धि आदि इन्द्रियों के बंधन में फंसा होने के कारण वह मनुष्य के मन में जो स्फूर्ति उत्पन्न करता है, उसका प्रत्यक्षानुभव रूपी ज्ञान हमें हो सकता है । भाप का उदाहरण लीजिये । जब वह खुली जगह में रहती है तब उसका कुछ बल नहीं होता, परन्तु जब वह किसी बर्तन में बन्द कर दी जाती है तब उसका दबाव उस बर्तन पर जोर से होता हुआ दीख पड़ने लगता है । ठीक इसी तरह जब

परमात्मा का ही अंशभूत जीव (गीता १५ ७) अनादि पूर्व कर्मार्जित जड़ देह तथा इन्द्रियों के बंधनों से बद्ध हो जाता है, तब इस बद्धावस्था से उसको मुक्त करने के लिये (अर्थात् मोक्षानुकूल) कर्म करने की प्रवृत्ति देहेन्द्रियों में होने लगती है और इसीको व्यावहारिक दृष्टि से 'आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति' कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से कहने का कारण यह है कि शुद्ध मुक्तावस्था में या तात्त्विक दृष्टि से आत्मा इच्छारहित तथा अकर्ता है और सब कर्तृत्व केवल प्रकृति का है (गीता १३ २९) परन्तु वेदान्ती लोग सांख्यमत की भांति यह नहीं मानते कि प्रकृति ही स्वयं मोक्षानुकूल कर्म किया करती है, क्योंकि ऐसा मान लेने से यह कहना पड़ेगा कि जड़ प्रकृति अपने अंधेपन से अज्ञानियों को भी मुक्त नहीं कर सकती है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो आत्मा मूल ही में अकर्ता है, वह स्वतन्त्र रीति से—अर्थात् बिना किसी निमित्त के अपने नैसर्गिक गुणों से ही प्रवर्तक हो जाता है। इसलिए आत्म-स्वातन्त्र्य के उक्त सिद्धान्त को वेदान्तशास्त्र में इस प्रकार बतलाना पड़ता है कि आत्मा यद्यपि मूल में अकर्ता है तथापि बंधनों के निमित्त से वह उतने ही के लिए दिखाऊ प्रेरक बन जाता है और जब वह आगन्तुक प्रेरकता उसमें एक बार किसी भी निमित्त से आ जाती है तब वह कर्म के नियमों से भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र ही रहती है। 'स्वतन्त्र' का अर्थ निर्निमित्तक नहीं है, और आत्मा अपनी मूल शुद्धावस्था में कर्ता भी नहीं रहता। परन्तु बार-बार इस लम्बी-चौड़ी कर्मकथा को बतलाते न रहकर इसी को संक्षेप में आत्मा की स्वतन्त्र प्रवृत्ति या प्रेरणा कहने की परिपाटी हो गई है। बन्धन में पड़ने के कारण आत्मा के द्वारा इन्द्रियों को मिलने वाली इस स्वतन्त्र प्रेरणा में और बाह्य सृष्टि के पदार्थों के संयोग से इन्द्रियों में उत्पन्न होने वाली प्रेरणा में बहुत भिन्नता है। खाना-पीना, चैन करना—ये सब इन्द्रियों की प्रेरणाएँ हैं और आत्मा की प्रेरणा मोक्षानुकूल कर्म करने के लिए हुआ करती है। पहली प्रेरणा केवल बाह्य अर्थात् कर्म सृष्टि की है। परन्तु दूसरी प्रेरणा आत्मा की अर्थात् ब्रह्म सृष्टि की है। और ये दोनों प्रेरणाएँ प्रायः परस्पर विरोधी हैं, जिससे इनके झगड़े में ही मनुष्य की सब आयु बीत जाती है। इनके झगड़े के समय जब मन में संदेह उत्पन्न होता है तब कर्म सृष्टि की प्रेरणा को न मानकर[1] यदि मनुष्य शुद्धात्मा की स्वतन्त्र प्रेरणा के अनुसार चलने लगे—और इसी को सच्चा आत्म ज्ञान या आत्म निष्ठा कहते हैं—तो इसके सब व्यवहार स्वभावतः मोक्षानुकूल ही होंगे।

और अन्त में—विशुद्ध धर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना।
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते।[2]

१—श्रीमद्भागवत पुराण ११ १० ४

२—महाभारत, शांति पर्व ३०८, २७ ३०

"यह जीवात्मा या शरीर आत्मा—जो मूल मे स्वतन्त्र है—ऐसे परमात्मा मे मिल जाता है, जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और स्वतन्त्र है।" ऊपर जो कहा गया है कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है उसका यही अर्थ है। इसके विपरीत जब जड देहेंद्रियो के प्राकृत धर्म की अर्थात कर्मसृष्टि की प्रेरणा की—प्रबलता हो जाती है तब मनुष्य की अधोगति होती है। शरीर मे बंधे हुए जीवात्मा मे, देहेंद्रियो में मोक्षानुकूल कर्म करने की तथा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेने की, जो यह स्वतन्त्र शक्ति है, उसकी ओर ध्यान देकर ही भगवान् ने अर्जुन को आत्म स्वातंत्र्य अर्थात् स्वावलम्बन के तत्त्व का उपदेश किया है कि —

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान नात्मानमवमादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बधुरात्मैव रिपुरात्मन ॥[1]

"मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार आप ही करे। निराशा से वह अपनी अवनति आप ही न करे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वय अपना बधु (हित-कारी) है, और स्वय अपना शत्रु (नाशकर्ता) है और इस हेतु से योगवासिष्ठ मे (यो २ स ा ४–८) दैव का निराकरण करके पौरुष के महत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। जो मनुष्य इस तत्त्व को पहचान कर आचरण किया करता है कि सब प्राणियो मे एक ही आत्मा है, उसके इसी आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं और बद्ध जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है कि ऐसे आचरण की ओर देहेंद्रियो को प्रवत्त किया करे। इसी धर्म के कारण दुराचारी मनुष्य का अन्तःकरण भी सदाचरण ही का पक्ष लिया करता है, जिससे उसे अपने किए हुए दुष्कर्मों का पश्चात्ताप होता है। आधिदैवत पक्ष के पंडित इसे सदसद्विवेक-बुद्धिरूपी देवता की स्वतन्त्र स्फूर्ति कहते हैं। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि बुद्धीन्द्रिय जड प्रकृति ही का विकार होने के कारण स्वय अपनी ही प्रेरणा कर्म के नियम-बंधनों से मुक्त नही हो सकती, यह प्रेरणा उसे कर्म सृष्टि के बाहर के आत्मा से प्राप्त होती है। इसी प्रकार पश्चिमी पंडितो का 'इच्छा स्वातन्त्र्य" शब्द भी वेदान्त की दृष्टि से ठीक नही है। क्योंकि इच्छा मन का धर्म है और बुद्धि तथा उसके साथ-साथ मन भी कर्मात्मक जड प्रकृति के अस्वयवेद्य विकार हैं। इसलिए ये दोनों स्वय ही कर्म के बंधन से छूट नही सकते। अतएव वेदान्तशास्त्र का निश्चय है कि सच्चा स्वातन्त्र्य न तो बुद्धि का है और न मन का—वह केवल आत्मा का है। यह स्वातन्त्र्य न तो कोई आत्मा को देता है और न कोई उससे इसे छीन भी सकता है—स्वतन्त्र परमात्मा का अंश रूप जीवात्मा जब उपाधि के बंधन मे पड जाता है तब वह स्वय स्वतन्त्र रीति से, ऊपर कहे अनुसार बुद्धि तथा मन मे प्रेरणा किया करता है। अन्तःकरण की इस प्रेरणा का अना-दर करके यदि कोई बर्ताव करेगा तो तुकाराम महाराज के शब्दों में यही कहा

1—गीता ६ ५

जा सकता है कि वह "स्वय अपने ही पैरो मे आप कुल्हाडी मारने को तयार हुआ है" (तु गा ४४४८) भगवद्गीता मे इसी तत्त्व का उल्लेख या किया गया है। "न हिनस्त्यात्मनऽऽत्मानाम्" जो स्वय अपना घात आप ही नहीं करता, उसे उत्तम गति मिलती है।[1] यद्यपि मनुष्य कर्मसृष्टि के अभद्य दिखाई देने वाले नियमो में जकड कर बन्धा हुआ है तथापि स्वभावत उसे ऐसा मालूम होता है कि मैं इस परिस्थिति मे भी अमुक काम को स्वतन्त्र रीति से कर सकूंगा। अनुभव के इस तत्त्व की उत्पत्ति ऊपर कहे अनुसार ब्रह्मसृष्टि को जड सृष्टि से भिन्न माने बिना किसी भी अन्य रीति से नही बतलाई जा सकती। इसलिए जो अध्यात्मशास्त्र को नही मानते उन्हें इस विषय मे या तो मनुष्य के नित्य दासत्व को मानना चाहिये या प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य के प्रश्न को अगम्य समझकर या हा छोड़ देना चाहिये। उनके लिए कोई दूसरा माग नहीं है। अद्वैत, वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि जीवात्मा और परमात्मा मूल मे एक रूप हैं और इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रवृत्ति स्वातन्त्र्य या इच्छास्वातन्त्र्य की उक्त उत्पत्ति बतलाई गई है। परन्तु जिन्हे यह अद्वैत मत मान्य नही है अथवा जो भक्ति के लिये द्वैत को स्वीकार किया करते हैं उनका कथन है कि जीवात्मा की यह सामर्थ्य स्वय उसकी नही है, बल्कि यह उसे परमेश्वर से प्राप्त होती है। तथापि 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा।[2] थकने तक प्रयत्न करने वाले मनुष्य के अतिरिक्त अन्यों की देवता मदद नही करते—ऋग्वेद के इस तत्वानुसार यह कहा गया है, कि जीवात्मा को यह सामर्थ्य प्राप्त करा देने के लिए पहले स्वय ही प्रयत्न करना चाहिए—अर्थात आत्म प्रयत्न का या पर्याय से आत्म स्वातन्त्र्य का तत्त्व फिर भी स्थिर बना ही रहता है। अधिक क्या कहें ? बौद्धधर्मी लोग आत्मा का या परब्रह्म का अस्तित्व नही मानते और यद्यपि उनको ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान मान्य नही है तथापि उनके धर्मग्रन्थों मे भी यही उपदेश किया गया है कि "अत्तना (आत्मना) चोदयऽत्तान"—अपने आप को स्वय अपने ही प्रयत्न से राह पर लगाना चाहिए। इस उपदेश का समर्थन करने के लिए कहा गया है कि—

> अत्ता (आत्मा) हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तना गति।
> तस्मा सञ्ञमयऽत्ताण अस्स (अश्व) भद्द व वाणिजो॥

"हम ही खुद अपने स्वामी या मालिक हैं और अपने आत्मा के सिवा हमें तारने वाला दूसरा कोई नही है, इसलिए जिस प्रकार कोई व्यापारी अपने उत्तम घोड़े का सयमन करता है उसी प्रकार हमें अपना सयमन आप ही भलीभांति करना चाहिए।"

• • •

१—गीता १३ २८
२—ऋग्वेद ४. ३३ ११

३८ निष्काम कर्मयोग

☐ महात्मा गांधी

हे पापरहित अर्जुन ! आरंभ से ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं—एक में ज्ञान की प्रधानता है और दूसरे में कर्म की । पर तू स्वयं देख ले कि कर्म के बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता, बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं । सब छोड़कर बैठ जाने वाला मनुष्य सिद्धपुरुष नहीं कहला सकता ।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है । उसका स्वभाव ही उससे कुछ करायेगा । जगत् का यह नियम होने पर भी जो मनुष्य हाथ-पांव ढीले करके बैठा रहता है और मन में तरह-तरह के मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायेगा । क्या इससे यह अच्छा नहीं कि इन्द्रियों को वश में रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, शोरगुल के बिना, आसक्ति के बिना अर्थात् अनासक्त भाव से, मनुष्य हाथ-पांवों से कुछ कर्म करे, कर्मयोग का आचरण करे ? नियत कर्म—तेरे हिस्से में आया हुआ सेवा कार्य—तू इन्द्रियों को वश में रखकर करता रह । आलसी की भांति बैठे रहने से यह कहीं अच्छा है । आलसी होकर बैठे रहने वाले के शरीर का अंत में पतन हो जाता है । पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिये कि यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगों को बंधन में रखते हैं । यज्ञ के मानी है, अपने लिये नहीं, बल्कि दूसरे के लिये, परोपकार के लिये, किया हुआ श्रम; अर्थात् संक्षेप में सेवा । और जहाँ सेवा के निमित्त ही सेवा की जायेगी, वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा । ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह । ब्रह्मा ने जगत् उपजाने के साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो, हमारे कान में यह मंत्र फूँका कि पृथ्वी पर जाओ, एक दूसरे की सेवा करो और फूलो फलो, जीव मात्र को देवतारूप जानो, इन देवों की सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे । प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना मांगे मनोवांछित फल देंगे । इसलिये यह समझना चाहिये कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगों का, जीवमात्र का भाग उन्हें पहुँचाने के बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगने का अधिकार है । अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है । इससे उल्टा, जो अपने लिये ही कमाता है—मजदूरी करता है—वह पापी है और पाप का अन्न खाता है । सृष्टि का नियम ही यह है कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है । अन्न वर्षा से पैदा होता है और वर्षा यज्ञ से अर्थात् जीवमात्र की मेहनत से उत्पन्न होती है ।

जहाँ जीव नहीं है वहाँ वर्षा नही पायी जाती। जहा जीव है वहाँ वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी है। कोई पडे पडे खा नही सकता और मूढ़ प्राणी के लिये जव यह सत्य है, तो मनुष्य के लिये यह कितने अधिक अंश में लागू होना चाहिये ? इससे भगवान ने कहा, कर्म को ब्रह्मा ने पैदा किया। ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मा से हुई, इसलिये यह समझना चाहिये कि यज्ञ मात्र में, सेवा मात्र में अक्षर ब्रह्मा, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणाली का जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आन्तरिक शान्ति भोगता है और सन्तुष्ट रहता है, उसे कोई कर्त्तव्य नही है, उसे कर्म करने से कोई फायदा नहीं, न करने से कोई हानि नही है। किसी के संबंध मे कोई स्वार्थ उसे न होने पर भी यज्ञ कार्य को वह छोड नही सकता। इससे तू तो कर्त्तव्य-कर्म नित्य करता रह पर उसमे राग द्वेष न रख, उसमें आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्म का आचरण करता है, वह ईश्वर साक्षात्कार करता है। फिर जनक—जैसे निस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धि को प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोकहित के लिये कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है ? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बडे माने जाने वाले मनुष्य आचरण करते हैं उनका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था ? पर मैं चौबीसों घंटा बिना थके, कर्म करता ही रहता हूँ और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक परिमाण मे बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊं तो जगत का क्या हो ? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायें और इन सबको गति देने वाला, नियम मे रखने वाला तो मैं ही ठहरा। किन्तु लोगों में और मुझ में इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, और लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थ मे पडे भागते रहते हैं। यदि मुझ जैसा बुद्धिमान कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धि भ्रष्ट हो जायगे। मुझ सा आसक्ति रहित होकर कर्त्तव्य करना चाहिये, जिससे लोग कर्म भ्रष्ट न हों और धीरे धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपने मे मौजूद स्वाभाविक गुणों के वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है, वही मानता है कि "मैं करता हूँ"। सांस लेना, यह जीवमात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आँख पर किसी मक्खी आदि के बैठते ही तुरत मनुष्य स्वभावतः ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं सांस लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जायें, सब स्वाभाविक रीति से गुण के अनुसार क्यों न किये जायें ? उनके लिये अहंकार क्या ? और या ममत्वरहित सहज कर्म करने का सुगम मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्य में से अहंकार वृत्ति का, स्वार्थ का नाश हो जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत बन्धन से छूट जाता है। उसके लिये फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं है और नहीं

स्वभाव के अनुसार कर्म हो, वहाँ बलात्कार से न करने का दावा करने में ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करने वाला बाहर से चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्म की अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधनकारक है।

तो, वास्तव में तो इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानों को यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं। नाक को गुलाब के फूल की सुगंध भाती है, मल वगैरह की दुर्गन्ध नहीं। सभी इन्द्रियों में सबंध में यही बात है। इसलिये मनुष्य को इन राग द्वेषरूपी दो गुणों से बचना चाहिये और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मों की श्रृंखला में न पड़े। आज यह किया, कल दूसरा काम हाथ में लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाये, उसे ईश्वर प्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं, वह ईश्वर ही कराता है—यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहं भाव चला जायेगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म से चिपटे रहना चाहिये क्योंकि अपने लिये तो वही अच्छा है। देखने में पर धर्म अच्छा दिखायी दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिये। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

भगवान् के राग-द्वेष रहित होकर किये जाने वाले कर्म को यज्ञ रूप बतलाने पर अर्जुन ने पूछा—"मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप कर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पाप कर्म की ओर कोई उसे जबरदस्ती ढकेले ले जाता है।"

भगवान् बोले—"मनुष्य को पाप कर्म की ओर ढकेल ले जाने वाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाई की भाँति हैं, काम की पूर्ति के पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम क्रोध वाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जब मैल चढ़ने से दर्पण धुंधला हो जाता है, या अग्नि धुएँ के कारण ठीक नहीं जलती और गर्भ झिल्ली में पड़े रहने तक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम क्रोध ज्ञानी के ज्ञान को प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं या दबा देते हैं। काम अग्नि के समान विकराल है और इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सब पर अपना काबू करके मनुष्य को पछाड़ देता है। इसलिये तू इन्द्रियों से पहले निपट, फिर मन को जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इन्द्रियां मन और बुद्धि क्रमशः एक दूसरे से बढ़ चढ़कर हैं तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बड़ा चढ़ा है। मनुष्य को आत्मा की अपनी शक्ति का पता नहीं है, इसलिये वह मानता है कि इन्द्रियां वश में नहीं रहेंगी, मन वश में नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करेगी। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इन्द्रियों को, मन और बुद्धि को अपने रखने वाले को काम, क्रोध या उनका कमन्द जैसा कुछ नहीं कर सकती।

जहाँ जीव नहीं है वहाँ वर्षा नही पायी जाती। जहां जीव है वहाँ वर्षा प्रवाह है। जीवमात्र श्रमजीवी है। कोई पड़े-पड़े खा नही सकता और मूढ़ जीवों के लिये जब यह सत्य है, तो मनुष्य के लिये यह कितने अधिक अंश में लागू होना चाहिये ? इससे भगवान ने कहा, कर्म को ब्रह्मा ने पैदा किया। ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्म से हुई, इसलिये यह समझना चाहिये कि यज्ञ मात्र में, सेवा मात्र में अक्षर ब्रह्म, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणाली का जो मनुष्य अनुसरण नही करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आंतरिक शान्ति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्त्तव्य नहीं है, उसे कर्म करने से कोई फायदा नहीं, न करने से कोई हानि नही है। किसी के संबंध में कोई स्वार्थ उसे न होने पर भी यज्ञ कार्य को वह छोड नही सकता। इससे तू तो कर्त्तव्य कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमे आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्म का आचरण करता है, वह ईश्वर साक्षात्कार करता है। फिर जनक—जैसे निस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धि को प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोकहित के लिए कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है ? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जाने वाले मनुष्य आचरण करते हैं उनका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था ! पर मैं चौबीसों घंटा बिना थके, कर्म करता ही रहता हूँ और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक परिमाण में बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊं तो जगत का क्या हो ? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायें और इन सबको गति देने वाला, नियम मे रखने वाला तो मैं ही ठहरा। किन्तु लोगो मे और मुझ में इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, और लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थ मे पड़े भागते रहते हैं। यदि मुझ जैसा बुद्धिमान कर्म छोड़ दे तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धि भ्रष्ट हो जायेंगे। मुझे तो आसक्ति रहित होकर कर्त्तव्य करना चाहिये, जिससे लोग कर्म भ्रष्ट न हो और धीरे धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपने में मौजूद स्वाभाविक गुणों के वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है, वही मानता है कि 'मैं करता हूँ"। सांस लेना, यह जीवमात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आँख पर तिनी मक्खी आदि के बैठते ही तुरंत मनुष्य स्वभावतः ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं सांस लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जायें, सब स्वाभाविक रीति से गुण के अनुसार क्यों न किये जायें ? उनके लिये अहंकार क्या ? और यों ममत्वरहित सहज कर्म करने का सुन्दर मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्य में से अहंकार वृत्ति का, स्वार्थ का नाश हो जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत बंधन में से छूट जाता है। उसके लिये फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं है और कर्म

स्वभाव के अनुसार कर्म हो, वहाँ बलात्कार से न करने का दावा करने में ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करने वाला बाहर से चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्म की अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधनकारक है।

तो, वास्तव में तो इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानों को यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं। नाक को गुलाब के फूल की सुगंध भाती है, मल वगैरह की दुर्गंध नहीं। सभी इन्द्रियों के संबंध में यही बात है। इसलिये मनुष्य को इन राग द्वेषरूपी दो गुणों से बचना चाहिये और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मों की शृंखला में न पड़े। आज यह किया, कल दूसरा काम हाथ में लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाये, उसे ईश्वर प्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं, वह ईश्वर ही कराता है—यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहं भाव चला जायेगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म से चिपटे रहना चाहिये क्योंकि अपने लिये तो वही अच्छा है। देखने में पर धर्म अच्छा दिखायी दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिये। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

भगवान् के राग-द्वेष रहित होकर किये जाने वाले कर्म को यज्ञ रूप बतलाने पर अर्जुन ने पूछा—"मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप कर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पाप कर्म की ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेले लिये जाता है।"

भगवान् बोले—"मनुष्य को पाप कर्म की ओर ढकेल ले जाने वाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाई की भाँति हैं, काम की पूर्ति में पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम क्रोध वाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़ने से दर्पण धुंधला हो जाता है, या अग्नि धुएँ के कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ झिल्ली में पड़े रहने तक घुटता रहता है उसी प्रकार काम क्रोध ज्ञानी के ज्ञान को प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं या दबा देते हैं। काम अग्नि के समान विकराल है और इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सब पर अपना काबू करके मनुष्य को पछाड़ देता है। इसलिये तू इन्द्रियों से पहले निपट, फिर मन को जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि क्रमशः एक दूसरे से बढ़ चढ़कर हैं तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बड़ा चढ़ा है। मनुष्य को आत्मा की अपनी शक्ति का पता नहीं है, इसलिये वह मानता है कि इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती, मन वश में नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इन्द्रियों को, मन और बुद्धि को ठिकाने रखने वाले का काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।

३९ कर्म, विकर्म और अकर्म

☐ आचार्य विनोबा भावे

स्वधर्म को टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेंगे, तो निष्कामता रूपी फल को अशक्य ही समझो। स्वदेशी माल बेचना व्यापार का स्वधर्म है परन्तु इस स्वधर्म को छोड़कर जब वह सात समुंदर पार का विदेशी माल बेचने लगता है, तब उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहुतेरा नफा मिले। तो फिर उस कर्म मे निष्कामता कहाँ से आयेगी? अतएव कर्म को निष्काम बनाने के लिए स्वधर्म-पालन की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह स्वधर्माचरण भी सकाम हो सकता है। अहिंसा की ही बात हम लें। जो अहिंसा का उपासक है, उसके लिये हिंसा तो वर्ज्य है, परन्तु यह सम्भव है कि ऊपर से अहिंसक होते हुए भी वह वास्तव मे हिंसामय हो। क्योंकि हिंसा मन का एक धर्म है। महज बाहर से हिंसा कर्म न करने से ही मन अहिंसामय हो जायेगा सो बात नहीं। तलवार हाथ मे लेने से हिंसा वृत्ति अवश्य प्रकट होती है, परन्तु तलवार छोड़ देने से मनुष्य अहिंसामय होता ही है सो बात नही। ठीक यही बात स्वधर्माचरण की है। निष्कामता के लिये परधर्म से तो बचना ही होगा। परन्तु यह तो निष्कामता का आरम्भ मात्र हुआ। इससे हम साध्य तक नही पहुँच गए।

निष्कामता मन का धर्म है। इसकी उत्पत्ति के लिए एक स्वधर्माचरण रूपी साधन ही काफी नहीं है। दूसरे साधनों का भी सहारा लेना पड़ेगा। अकेली तेल-बत्ती से दिया नही जल जाता। उसके लिये ज्योति की जरूरत होती है। ज्योति होगी तो ही अंधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जगायें? इसके लिये मानसिक संशोधन की जरूरत है। आत्म परीक्षण के द्वारा चित्त का मलिनता कूड़ा कचरा धो डालना चाहिये।

गीता मे 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। हमारा खाना पीना, सोना ये कर्म ही हैं, परन्तु गीता के 'कर्म' शब्द से ये सब क्रियाएँ सूचित नहीं होती हैं। कर्म से वहाँ मतलब स्वधर्माचरण से है। परन्तु इस स्वधर्माचरण रूपी कर्म को करके निष्कामता प्राप्त करने के लिये और भी एक वस्तु की सहायता जरूरी है, वह है काम व क्रोध को जीतना। चित्त जब तक गंगाजल की तरह निर्मल व प्रशान्त न हो जाये, तब तक निष्कामता नहीं आ सकती। इस तरह चित्त संशोधन के लिये जो-जो कर्म किए जायें, उन्हें गीता विकर्म

कहती है । 'कर्म', 'विकर्म' व 'अकर्म' ये तीन शब्द बड़े महत्त्व के हैं। कर्म का अर्थ है—स्वधर्माचरण की बाहरी स्थूल क्रिया। इस बाहरी क्रिया मे चित्त को लगाना ही 'विकर्म' है। बाहर से हम किसी को नमस्कार करते हैं, परन्तु उस बाहरी सिर झुकाने की क्रिया के साथ ही यदि भीतर से मन भी न झुकता हो तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अन्तर्बाह्य—भीतर व बाहर दोनो एक होना चाहिये। बाहर से मैं शिव पिंड पर सतत जल धारा छोडकर अभिषेक करता हूँ परन्तु इस जल धारा के साथ ही यदि मानसिक चिन्तन की धारा भी अखण्ड न चलती रहती हो तो उस अभिषेक की क्या कीमत रही ? ऐसी दशा में वह शिवपिंड भी पत्थर व मैं भी पत्थर ही। पत्थर के सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है जब हमारे बाह्य कर्म के साथ अदर से चित्त-शुद्धि रूपी कर्म का भी सयोग हो।

'निष्काम कर्म' इस शब्द प्रयोग मे 'कर्म पद की अपेक्षा 'निष्काम' पद का ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द प्रयोग में असहयोग की बनिस्पत 'अहिंसात्मक' विशेषण को ही अधिक महत्त्व है। अहिंसा को दूर हटाकर यदि केवल असहयोग का अवलबन करेंगे, तो वह एक भयकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरण रूपी कर्म करते हुए यदि मन का विकर्म उसमें नही जुडा है तो उसे धोखा समझना चाहिये।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्म का ही आचरण करते हैं। जब लोग, गरीब, कगाल, दु खी व मुसीबत मे होते हैं तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परन्तु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिये कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गए हैं। लोक-सेवा करते हुए यदि मन मे शुद्ध भावना न हो तो उस लोक-सेवा के भयानक होने की सम्भावना है। अपने कुटुम्ब की सेवा करते हुए जितना अहकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतने सब लोक-सेवा मे भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमे आजकल की लोक-सेवा मण्डलियो के जमघट मे भी हो जाता है।

कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिये। इस मन के मेल को ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहर का स्वधर्म रूप सामान्य कर्म और यह आन्तरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक जरूरत के अनुसार जुदा जुदा होता है। विकर्म के ऐसे अनेक प्रकार, नमूने के तौर पर बताये गये हैं। इस विशेष कर्म का, इस मानसिक अनुसधान का योग जब हम करेंगे, तभी उसमे निष्कामता की ज्योति जगेगी। कर्म के साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अन्दर आती रहती है। यदि शरीर व मन जुदा

भी तुम मारते नहीं। माँ बच्चे को पीटती है, इसलिये तुम तो उसका देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। माँ मारती है फिर भी वह उसके आंचल में मुँह छिपाता है, क्योंकि माँ के बाह्य कर्म में चित्त शुद्धि का मल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भाव से है। उस कर्म में उसका स्वार्थ नहीं है। विकर्म के कारण, मन की शुद्धि के कारण कर्म का कमरव उड जाता है। राम की यह दृष्टि, आन्तरिक विकर्म के कारण महज प्रेम-सुधा सागर हो गई थी परन्तु राम को उस कर्म का कोई श्रम नही हुआ था। चित्त शुद्धि से क्रिया-कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नहीं रहता। नहीं तो कर्म का कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदय पर पडता है। यदि यह खबर आज दो बजे उडी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जाने वाले हैं तो फिर देखो, कैसी भीड चारो ओर हो जाती है। चारो ओर हलचल व गडबड मच जाती है। हम कर्म के अच्छे-बुरे होने की वजह से मानो व्यग्र रहते हैं। कर्म हमको चारों ओर से घेर लेता है, मानो कर्म ने हमारी गर्दन धर दबाई है। जिस तरह समुद्र का प्रवाह जोर से जमीन मे घुसकर खाडियाँ बना देता है उसी तरह कर्म का यह जंजाल चित्त मे घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दुःख के द्वन्द्व निर्माण होते हैं। सारी शान्ति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और हाथ से चला भी गया। परन्तु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्त पर हावी हो जाता है। फिर उसकी नींद हराम हो जाती है।

परन्तु ऐसे इस कर्म मे यदि विकर्म को मिला दिया तो फिर आप चाहे जितने कर्म करें तो भी उसका श्रम या बोझ नहीं मालूम होता। मन ध्रुव की तरह शान्त, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है। मानो कर्म को करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

निज विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। उस विधान के आधीन बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि को कर्म में लगाना है अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि का उपयोग यथायोग्य कर्त्तव्य-कर्म में ही विवेक के प्रकाश में करना है। निज विवेक का प्रकाश अविवेक का नाशक है। अविवेक के नष्ट होते ही अकर्त्तव्य शेष नहीं रहता जिसके न रहने पर कर्त्तव्य पालन में स्वाभाविकता आ जाती है। इस दृष्टि से विवेकयुक्त मानव ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकते हैं। अतः विवेक विरोधी कर्म का मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

४० | # कर्म और कार्य-कारण सम्बन्ध

☐ आचार्य रजनीश

साधारणत कर्मवाद ऐसा कहता हुआ प्रतीत होता है कि जो हमने किया है, उसका फल हमे भोगना पडेगा। हमारे कर्म और हमारे भोग मे एक अनिवार्य कार्य-कारण सम्बन्ध है। यह बिल्कुल सत्य है कि जो हम करते हैं, उससे अन्यथा हम नही भोगते-भोग भी नही सकते। कर्म भोग की तैयारी है। असल मे, कर्म भोग का प्रारम्भिक बीज है। फिर वही बीज भोग मे वृक्ष बन जाता है।

कर्मवाद का जो सिद्धान्त प्रचलित है, उसमे ठीक बात को भी इस ढग से रखा गया है कि वह बिल्कुल गलत हो गई है। उस सिद्धान्त मे ऐसी बात न मालूम किन कारणो से प्रविष्ट हो गई है कि कर्म तो हम अभी करेंगे और भोगेंगे अगले जन्म मे। कार्य कारण के बीच अन्तराल नही होता-अन्तराल हो ही नही सकता। अगर अन्तराल आ जाय तो कार्य-कारण विच्छिन्न हो जायेंगे, उनका सम्बन्ध टूट जाएगा। आग मे मैं अभी हाथ डालूं और जलूं अगले जन्म मे—यह समझ के बाहर की बात होगी। लेकिन इस तरह के सिद्धान्त का, इस तरह की भ्रान्ति का कुछ कारण है। वह यह है कि हम एक ओर तो भले आदमियो को दुःख झेलते देखते हैं, वही दूसरी ओर हमें बुरे लोग सुख उठाते दीखते हैं। अगर प्रतिपल हमारे कार्य और कारण परस्पर जुड़े हैं तो बुरे लोगो का सुखी होना और भले लोगो का दुःखी होना कैसे समझाया जा सकता है? एक आदमी भला है, सच्चरित्र है, ईमानदार है और दुःख भोग रहा है, कष्ट पा रहा है, दूसरा आदमी बुरा है, बेईमान है, चरित्रहीन है और सुख पा रहा है, यह धन धान्य से भरा पूरा है। अगर अच्छे कार्य तत्काल फल लाते हैं तो अच्छे आदमी को सुख भोगना चाहिये और यदि बुरे कार्यों का परिणाम तत्काल बुरा होता है तो बुरे आदमी को दुःख भोगना चाहिये। परन्तु ऐसा कम होता है।

जिन्होंने इसे समझने-समझाने की कोशिश की उन्हें मानो एक ही रास्ता मिला। उन्होंने पूर्व जन्म मे किए गए पुण्य-पाप के सहारे इस जीवन के सुख-दुःख को जोड़ने की गलती की और कहा कि अगर अच्छा आदमी दुःख भोगता है तो वह अपने पिछले बुरे कार्यों के कारण और अगर कोई बुरा आदमी सुख भोगता है तो अपने पिछले अच्छे कर्मों के कारण। लेकिन इस समस्या को सुलझाने के दूसरे उपाय भी थे और असल में दूसरे उपाय ही सच हैं। जिन्होंने

जन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों के द्वारा इस जीवन के सुख-दुःख की व्याख्या कर्मवाद के सिद्धान्त को विकृत करता है। सच पूछिए तो ऐसी ही व्याख्या के कारण कर्मवाद की उपादेयता नष्ट सी हो गई है।

कर्मवाद की उपादेयता इस बात में है कि वह कहता है—तुम जो कर रहे हो वही तुम भोग रहे हो। इसलिये तुम ऐसा करो कि सुख भोग सको, आनन्द पा सको। अगर तुम क्रोध करोगे तो दुःख भोगोगे, भोग रहे हो। क्रोध के पीछे ही दुःख भी आ रहा है छाया की तरह। अगर प्रेम करोगे, शान्ति से रहोगे और दूसरों को शान्ति दोगे तो शान्ति अर्जित करोगे। यही थी उपयोगिता कर्मवाद की। किन्तु इसकी गलत व्याख्या हो गई। कहा गया कि इस जन्म के पुण्य का फल अगले में मिलेगा, यदि दुःख है तो इसका कारण पिछले जन्म में किया गया कोई पाप होगा। ऐसी बातों का चित्त पर बहुत गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति इतने दूरगामी चित्त का नहीं होता कि वह अभी कर्म करे और अगले जन्म में मिलने वाले फल से चिंतित हो। अगला जन्म अंधेरे में खो जाता है। अगले जन्म का क्या भरोसा? पहले तो यही पक्का नहीं कि अगला जन्म होगा या नहीं? फिर, यह भी पक्का नहीं कि जो कर्म अभी फल दे सकने में असमर्थ है, वह अगले जन्म में देगा ही। अगर एक जन्म तक कुछ कर्मों के फल रोके जा सकते हैं तो अनेक जन्मों तक क्यों नहीं? तीसरी बात यह है कि मनुष्य का चित्त तत्कालजीवी है। वह कहता है ठीक है, अगले जन्म में जो होगा, होगा, अभी जो हो रहा है, करने दो। अभी मैं क्यों चिन्ता करूं अगले जन्म की?

इस प्रकार कर्मवाद की जो उपयोगिता थी, वह नष्ट हो गई। जो सत्य था, वह भी नष्ट हो गया। सत्य है कार्य कारण सिद्धान्त जिस पर विज्ञान खड़ा है। अगर कार्य-कारण को हटा दो तो विज्ञान का सारा भवन धराशायी हो जाय।

ह्यूम नामक दार्शनिक ने इंगलैंड में और चार्वाक ने भारतवर्ष में कार्य कारण के सिद्धान्त को गलत सिद्ध करना चाहा। अगर ह्यूम जीत जाता तो विज्ञान का जन्म नहीं होता। अगर चार्वाक जीत जाता तो धर्म का जन्म नहीं होता, क्योंकि चार्वाक ने भी कार्य कारण के सिद्धान्त को न माना। उसने कहा, "खाओ, पीओ मौज करो" क्योंकि कोई भरोसा नहीं कि जो बुरा करता है, उसे बुरा ही मिले। देखो, एक आदमी बुरा कर रहा है और भला भोग रहा है। और भला कर रहा है, अथवा दुःखी है। जीवन में भला कर अमान्य है। बुद्धिमान आदमी जानता है कि किसी कर्म का किसी फल से कोई संबंध नहीं।

चार्वाक के विरोध में ही महावीर का कर्म सिद्धान्त है।

धर्म भी विज्ञान है और वह भी कार्य-कारण सिद्धान्त पर खड़ा है। विज्ञान कहता है, "अभी कारण, अभी कार्य।" "परन्तु जब तथाकथित धार्मिक कहते हैं—'अभी कारण, कार्य अगले जन्म में' तो धर्म का वैज्ञानिक आधार खिसक जाता है। यह अन्तराल एक दम झूठ है। कार्य और कारण में अगर कोई सम्बन्ध है तो उसके बीच में अन्तराल नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तराल हो गया तो सम्बन्ध क्या रहा ? चीजें असम्बद्ध हो गईं, अलग-अलग हो गईं। यह व्याख्या नैतिक लोगों ने खोज ली, क्योंकि वे समझ नहीं सके जीवन को।

मेरी अपनी समझ यह है कि प्रत्येक कर्म तत्काल फलदायी है। जैसे—यदि मैंने क्रोध किया तो मैं क्रोध करने के क्षण से ही क्रोध को भोगना शुरू करता हूँ। ऐसा नहीं कि अगले जन्म में इसका फल भोगूँ। क्रोध का करना और क्रोध का दुःख भोगना साथ साथ चल रहा है। क्रोध विदा हो जाता है लेकिन दुःख का सिलसिला देर तक चलता है। यदि दुःख और आनन्द अगले जन्म में मिलेंगे और उनके लिए प्रतीक्षा करनी होगी तो कहीं किसी को हिसाब-किताब रखने की जरूरत होगी। परन्तु, फल के लिये प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं होती। वह तत्काल मिलता है। हिसाब-किताब रखने की जरूरत नहीं होती। इसलिये महावीर भगवान् को भी विदा कर सके। अगर जन्म-जन्मान्तर का हिसाब-किताब रखना है तो फिर नियन्ता की व्यवस्था जरूरी है। नियन्ता की जरूरत वहाँ होती है जहाँ नियम का लेखा-जोखा रखना पड़ता है। क्रोध मैं अभी करूँ और मुझे फल किसी दूसरे जन्म में मिले तो इसका हिसाब कहाँ रहेगा ? इसलिये कुछ लोगों ने कहा—परमात्मा के पास। इन लोगों का परमात्मा महालिपिक है जो हमारे पुण्य पाप का हिसाब रखता है और देखता है कि नियम पूरे हो रहे हैं या नहीं ?

महावीर ने बड़ी वैज्ञानिक बात कही है। उनके अनुसार नियम पर्याप्त हैं, नियन्ता की जरूरत नहीं है। अगर नियन्ता है तो नियम में गड़बड़ी होने की सम्भावना बनी रहेगी। लोग उसकी प्रार्थना करेंगे, खुशामद करेंगे और वह खुश होकर नियमों में उलट-फेर करता रहेगा। कभी प्रह्लाद जैसे भक्तों को वह आग में जलने न देगा और कभी नाराज होगा तो आग को जलाने की आज्ञा देगा। उसके भक्त को पहाड़ से गिराओ तो उसके पैर नहीं टूटते, किसी दूसरे व्यक्ति को गिराओ तो उसके पैर टूट जाते हैं। प्रह्लाद को क्या पक्षपात की कथा है। उसमें अपने आदमी की फिक्र की जा रही है और नियम के अपवाद बनाये जा रहे हैं। महावीर कहते हैं कि अगर प्रह्लाद जैसे अपवाद हैं तो फिर धर्म नहीं हो सकता। धर्म का आधार समानता है, नियम है जो भगवान् के भक्तों पर उसी बेरहमी से लागू होता है जिस बेरहमी से उन लोगों पर जो उसके भक्त

नहीं हैं। यदि अपवाद की बात मान ली जाय तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि क्षय के कीटाणु किसी दवा से न मरें। हो सकता है कि क्षय के कीटाणु भी प्रह्लाद की तरह भगवान् के भक्त हों और कोई दवा काम न करे। यदि धर्म है तो नियम है और अगर नियम है तो नियन्ता में बाधा पड़ेगी। इसलिए महावीर नियम के पक्ष में नियन्ता को विदा कर देते हैं। वे कहते हैं कि नियम काफी है और नियम अखण्ड है। प्रार्थना, पूजा उनसे हमारी रक्षा नहीं कर सकती। नियम से बचने का एक ही उपाय है कि नियम को समझ लो। यह जान लो कि आग में हाथ डालने से हाथ जलता है, इसलिये हाथ मत डालो।

महावीर न तो चार्वाक को मानते हैं और न नियन्ता के मानने वालों को। चार्वाक नियम को तोड़कर अव्यवस्था पैदा करता है और नियन्ता के मानने वाले नियम के ऊपर किसी नियन्ता को स्थापित कर अव्यवस्था पैदा करते हैं। महावीर पूछते हैं कि यह भगवान् नियम के अन्तर्गत चलता है या नहीं? अगर नियम के अन्तर्गत चलता है तो उसकी जरूरत क्या है? मानो अगर भगवान् आग में हाथ डालेगा तो उसका हाथ जलेगा कि नहीं? अगर जलता है तो वह भी वैसा ही है जैसा हम हैं, अगर नहीं जलता है तो ऐसा भगवान् खतरनाक है। यदि हम उससे दोस्ती करेंगे तो आग में हाथ भी डालेंगे और शीतल होने का उपाय भी कर लेंगे। इसलिये महावीर कहते हैं कि नियम को न मानना अवैज्ञानिक है और नियन्ता की स्वीकृति नियम में बाधा डालती है। विज्ञान कहता है कि किसी भगवान् से हमें कुछ लेना-देना नहीं, हम तो प्रकृति के नियम खोजते हैं। ठीक यही बात ढाई हजार साल पहले महावीर ने चेतना के जगत् में कही थी। उनके अनुसार नियम शाश्वत, अखण्ड और अपरिवर्तननीय है। उस अपरिवर्तनीय नियम पर ही धर्म का विज्ञान खड़ा है। यह असम्भव ही है कि एक कर्म अभी हो और उसका फल अगले जन्म में मिले। फल इसी कर्म की शृंखला का हिस्सा होगा जो इसी कर्म के साथ मिलना शुरू हो जायगा। हम जो भी करते हैं उसे भोग लेते हैं। यदि मेरी अशान्ति पिछले जन्म के कर्मों का फल है तो मैं इस अशान्ति को दूर नहीं कर सकता। इस प्रकार मैं एक दम परतन्त्र हो जाता हूँ और गुरुओं के पास जाकर शान्ति के उपाय खोजता हूँ। मगर सही बात यह है कि जो मैं अभी कर रहा हूँ, उसे अनकिया करने की सामर्थ्य भी मुझ में है। अगर मैं आग में हाथ डाल रहा हूँ और मेरा हाथ जल रहा है, और अगर मेरी मान्यता यह है कि पिछले जन्म के किसी पाप का फल भोग रहा हूँ तो मैं हाथ डाले चला जाऊँगा, क्योंकि पिछले जन्म के कर्म को मैं बदल कैसे सकता हूँ? जो गुरु भी यह मानता है कि पिछले जन्म के किसी पाप के कारण मेरा हाथ जल रहा है, वे यह नहीं कहेंगे कि हाथ बाहर खींचो तो जलना बन्द हो जाय। इसका मतलब यह हुआ कि हाथ अभी डाला जा रहा है और अभी डाला गया हाथ बाहर खींचा जा सकता है

लेकिन पिछले जन्म मे डाला गया हाथ आज कैसे बाहर खीचा जा सकता है ? हमारी इस व्याख्या ने कि अनन्त जन्मो तक कर्म के फल चलते हैं, मनुष्य को एक दम परतन्त्र कर दिया है। किन्तु मेरा मानना है कि सब कुछ किया जा सकता है इसी वक्त, क्योकि जो हम कर रहे हैं, वही हम भोग रहे हैं।

जिन्दगी की विषमता को समझने के लिये ऊटपटाग व्यवस्थाऐं गढ ली जाती हैं। मेरी समझ में यदि कोई बुरा आदमी सफल होता है, सुखी है तो इसका भी कारण है। मैं बुरे आदमी को एक बहुत बडी जटिल घटना मानता हूँ। हो सकता है, वह झूठ बोलता हो, बेईमानी करता हो, लेकिन उसमे कुछ और गुण होंगे जो हमे दिखाई नही पडते। वह साहसी हो सकता है, बुद्धिमान हो सकता है, एक एक कदम को समझकर उठाने वाला हो सकता है। उसके एक पहलू को देखकर ही कि वह बेईमान है, आपने निर्णय करना चाहा तो आप गलती कर लेंगे। हो सकता है कि अच्छा आदमी चोरी न करता हो, बेईमानी भी न करता हो, लेकिन वह कायर हो। बुद्धिमान आदमी के लिये अच्छा होना अक्सर मुश्किल हो जाता है। बुद्धिमान आदमी अच्छा होने के लिये मजबूर होता है। मेरी मान्यता है कि सफलता मिलती है साहस से। अगर बुरा आदमी साहसी है तो सफलता ले आयेगा। अच्छा आदमी अगर साहसी है तो वह बुरे आदमी की अपेक्षा हजार गुनी सफलता ले आयेगा। सफलता मिलती है बुद्धिमानी से। अगर बुरा आदमी बुद्धिमान है तो उसे सफलता मिलेगी ही। अगर अच्छा आदमी बुद्धिमान है तो उसे हजार गुनी सफलता मिलेगी। लेकिन सफलता अच्छे भर होने से नही आती। सफलता आती है, बुद्धिमानी से, विचार से विवेक से। कोई आदमी अच्छा है, मन्दिर जाता है, प्रार्थना करता है, लेकिन उसके पास पैसे नही हैं। अब मन्दिर जाने और प्रार्थना करने से पैसा होने का क्या सम्बन्ध ? अगर कोई अच्छा आदमी यह कहे कि मैं सुखी नही हूँ, क्योकि मैं अच्छा हू और वह दूसरा आदमी सुखी है क्योकि वह बुरा है तो अकारण ईर्ष्या करने वाला वह आदमी बुरे होने का सबूत दे रहा है। वह ईर्ष्या से भरा हुआ आदमी है। बुरे आदमी को जो जो मिला है वह सब पाना चाहता है और अच्छा होकर पाना चाहता है। यानी आकांक्षा ही बडी बेहूदी है। यदि बुरे आदमी ने दस लाख रुपये कमा लिये तो इसके लिये उसने बुरे होने का सौदा चुकाया, बुरे होने की पीडा झेली, बुरे होने का दंश झेला। अच्छा आदमी मन्दिर में पूजा करना चाहता है, पर मे बैठना चाहता है और बुरे आदमी का दस लाख रुपये मिले हैं वह भी चाहता है, जब उसे रुपये नही मिलते तो कहता है कि मैं अपने पिछले जन्म के बुरे कर्मो का फल भोग रहा हू। उस झूठी सान्त्वना की तिकड़मी है कि वहाँ वह अगले जन्म मे स्वर्ग मे होगा यहाँ वह बुरा आदमी नरक मे।

मैं कहता हू कि कर्म का फल तत्काल मिलता है, लेकिन कर्म बहुत जटिल बात

है। साहस भी कर्म है और उसका भी फल होता है। साहसहीन भी कर्म है और उसके भी फल हैं। इसी प्रकार बुद्धिमानी भी कर्म है, बुद्धिहीनता भी कर्म। इनके भी अपने-अपने फल हैं। यदि असफलता के कारण उनके भीतर होंगे तो अच्छे आदमी भी असफल हो सकते हैं। बुरे आदमी भी सुखी हो सकते हैं यदि सुख के कारण उनके भीतर वर्तमान होंगे। किसी और का दुख तो हमें दिखता नहीं, दुख सिर्फ अपना और सुख सदा दूसरे का दिखता है। ऐसे ही शुभ कर्म हमें अपना और अशुभ कर्म दूसरे का दिखता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म को शुभ मानता है, क्योंकि इससे उसके अहंकार की तृप्ति होती है। सुख के हम आदी होते जाते हैं, दुख के कभी आदी नहीं हो पाते। आदमी दूसरे का देखता है अशुभ और सुख, अपना देखता है शुभ और दुख। उपद्रव हो गया तो वह कर्मवाद के सिद्धान्त का आश्रय लेता है। मेरी मान्यता यह है कि अगर वह सुख भोग रहा है तो उसमें कुछ ऐसा जरूर है जो सुख का कारण है, क्योंकि अकारण कुछ भी नहीं होता। अगर एक डाकू सुखी है तो उसका भी कारण है। साधु के दुखी होने का भी कारण है। अगर दस डाकू साथ होंगे तो उनमें इतना भाईचारा होगा जितना दस साधु में कभी सुना नहीं गया। लेकिन अगर दस डाकुओं में मित्रता है तो वे मित्रता के सुख अवश्य भोगेंगे, लेकिन साधु ऐसे हैं जो बिल्कुल झूठ बोलते रहेंगे। तब सच बोलने का जो सुख है वह साधु नहीं भोग सकता।

अन्त में मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अकस्मात् कुछ भी नहीं होता। यदि कुछ घटनाओं को अकस्मात् होता मान लें तो कार्य-कारण का सिद्धान्त व्यर्थ हो जाता है। यहाँ तक कि लाटरी भी किसी को अकस्मात् नहीं मिलती। हो सकता है कि जिन लाख लोगों ने लॉटरी लगाई उनमें सबसे ज्यादा संकल्प वाला आदमी वही हो जिसे लॉटरी मिली। ऐसे ही हजार कारण हो सकते हैं जो हमें दीख नहीं पड़ते। वस्तुतः उस घटना को ही अकस्मात् कहते हैं जिसके कारण का हमें पता नहीं होता। ऐसी घटनाएं होती हैं जिनका कारण हमारी समझ में नहीं आता। जीवन सचमुच बहुत जटिल है। इसमें कोई घटना कैसे घटित हो रही है यह ठीक ठीक कहना एकदम मुश्किल है, लेकिन इतना तो निश्चित है कि जो घटना हो रही है उसके पीछे कोई न कोई कारण है, चाहे वह ज्ञात हो या अज्ञात। कर्म के सिद्धान्त का बुनियादी आधार यह है कि अकारण कुछ भी नहीं होता। दूसरा बुनियादी आधार यह है कि जो हम कर रहे हैं वही भोग रहे हैं और उसमें दूसरों के कारण से नहीं हैं। हमें जानना चाहिए कि हम जो भोग रहे हैं उसके लिए हमने कुछ उपाय किया है, चाहे सुख हो या दुख, चाहे शान्ति हो या अशान्ति।

□ □ □

४१ ध्यान और कर्मयोग

□ श्री जी० एस० नरवानी

एक महात्मा से किसी ने पूछा कि भगवन् ! मनुष्य के लिए भजन मुख्य है अथवा कर्त्तव्य पालन मुख्य है ? सभी धर्म बतलाते हैं कि ईश्वर का भजन जीवन के लिए अति आवश्यक है पर विद्वान, ज्ञानी और कर्मशील व्यक्ति यही बताते हैं कि कर्म ही पूजा है। वास्तविकता क्या है ?

महात्मा ने बताया कि मनुष्य का मुख्य धर्म अपना कर्त्तव्य करना ही है। जिन्होंने 'गीता' का कुछ अध्ययन किया है, वे यही जानते हैं कि बिना फल की इच्छा रखते हुए, बिना आसक्ति या मोह के कर्म करना ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। संसार में हर बुद्धिमान प्राणी अच्छे कर्म करना चाहता है, सत्य बोलना चाहता है, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता, चोरी नहीं करना चाहता, पवित्र रहना चाहता है, सुखी व शांत रहना चाहता है, किसी से ईर्ष्या या द्वेष नहीं रखना चाहता, क्रोध से दूर रहना पसंद करता है, काम को बुरा मानता है, लोभी व लालची मनुष्य को बुरा समझता है, संसार में मोह रखना व्यर्थ मानता है। पर यह सब चाहते हुए भी व जीवन में इन गुणों की उपयोगिता समझते हुए भी, क्या उसका आचरण उसके चाहे अनुकूल हो पाता है ? मनुष्य अनजाने में, अनचाहे, परिस्थिति वश, किसी कारण वश ऐसे ऐसे कुकृत्य कर बैठता है जिन्हें वह स्वप्न में भी करने से झिझकता है। आखिर क्या ?

इसका कारण यही है कि हमने ईश्वर का ध्यान नहीं किया। इन चीजों को हमने ऊपरी मन से, बाहरी मन से तो करना चाहा पर मन में शक्ति नहीं, इसलिए हम इन्हें पूरा नहीं कर पाए। महात्मा गांधी का उदाहरण हमारे सामने है। एक दुबला-पतला आदमी बिना हथियार विदेशी सरकार के कानून तोड़ता रहा क्योंकि उसके मन में ईश्वर की शक्ति थी। उन्होंने लिखा है कि—'मैं अपने हर दिन का काम ईश्वर भजन से प्रारम्भ करता हूँ, पूरे दिन का सारा कार्यक्रम भी उसी ईश्वर की प्रेरणा से निश्चित करता हूँ। रामनाम के प्रकाश में मुझे यह भी दीख जाता है कि इस काम को पूरा करने का, अगली जगह पहुँचाने का रास्ता क्या है ? और फिर इस प्रकार सुनिश्चित कर्त्तव्य का पालन करने की शक्ति भी मुझे मेरे राम से मिलती है मेरा रामनाम सब बीमारियों की अचूक औषधि है।"

कर्त्तव्य के ठीक ठीक निभाने के लिए ही ईश्वर-उपासना की आवश्यकता है और अगर थोड़ा आगे सोचा जाए तो कर्त्तव्य के पालन को तो दूर, कर्त्तव्य के ठीक ठीक ज्ञान के लिए भी परमात्मा का भजन करना प्रथम और अनिवार्य शर्त है। कर्त्तव्य पालन करने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं —

१ सही कर्त्तव्य का ज्ञान।

२ कर्त्तव्य पालन करने या निभाने के सही रास्ते का ज्ञान।

३ कर्त्तव्य पालन करने के लिए शक्ति।

इन बातों का जीवन में आना ईश्वर की उपासना से ही संभव है। सच तो यह है कि कर्त्तव्य पालन को हम जितना आसान समझ बैठे हैं उतना बिना ईश्वर भजन के—आसान नहीं। कर्त्तव्य की बलिवेदी पर बलिदान होना बच्चों का खिलवाड़ नहीं, मात्र पुस्तकीय ज्ञान, पांडित्य व विद्वता से संभव नहीं।

ईश्वर के ध्यान से जब मनुष्य के विचार शांत होने लगते हैं, तो आत्म निरीक्षण द्वारा मनुष्य को अपनी कमियाँ दिखने लगती हैं। ध्यान से छोटी से छोटी कमी भी उभर कर सामने आ जाती है और मनुष्य उसे दूर करने की सोचता है। ध्यान करते-करते मन में मलिन संस्कार दग्ध होते रहते हैं, मन साफ होने लगता है, विचार पवित्र होते हैं, बुद्धि तीव्र होती है, विवेक प्रबल होने लगता है और आत्मा का प्रकाश मन में फैलने लगता है। ऐसे धर्म के प्रकाश में ही मनुष्य को सही कर्त्तव्य का ज्ञान होता है। सूर्य के प्रकाश में किए गए फैसले गलत हो सकते हैं, परन्तु ईश्वर के प्रकाश में अंधे भी सही निर्णय करते हैं।

अपने कर्त्तव्य का बोध या ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसे निभाने के सही रास्ते का ज्ञान भी होना चाहिए। यदि कर्त्तव्य पालन करने का रास्ता ठीक नहीं है अथवा अन्यायपूर्ण है तो निश्चय ही कर्त्तव्य-पालन से जो शांति व आनन्द हमें मिलना चाहिए, वह नहीं मिल सकेगा।

हम संसार में अक्सर देखते हैं कि कर्त्तव्य का बोध होने के बावजूद व सही रास्ता मालूम होने के बावजूद कई मनुष्य कर्त्तव्य करने से चूक जाते हैं; उनमें हिम्मत नहीं होती। ये परिस्थितियाँ भय या स्वार्थवश पैदा होती हैं। अतः कर्त्तव्य परायणता की आवश्यकता होती है, वह भी ईश्वर के ध्यान से ही प्राप्त होती है। ईश्वर का ध्यान करते-करते जब मनुष्य के हृदय में भगवान् बस जाता है तो उसमें स्वतः आत्म शक्ति का, अदम्य साहस का, निर्भयता का भी विकास होता है। गांधीजी ने अपने रोम रोम में राम को

बसा लिया था, इसलिए कर्त्तव्य-मार्ग पर हमेशा डटे रहे व निर्भयता से आगे बढते रहे ।

अत मनुष्य को रोजाना प्रात एव साय ईश्वर के ध्यान द्वारा उनकी समीपता प्राप्त करनी चाहिए जिससे कि सच्चा ज्ञान मिलता रहे, कर्त्तव्य-बोध होता रहे एव विवेक जागृत होता रहे व आत्मा सशक्त एव बलवान बनती रहे। अन्य समय में, प्रात उठते समय, रात को सोते समय कोई वस्तु खाते या पीते समय, अकेले घूमते समय, फालतू क्षणो मे मनुष्य को मानसिक चिंतन के द्वारा ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिए, समीपता प्राप्त करते रहना चाहिए व ईश्वर से ज्ञान का प्रकाश, शाति, आनन्द प्राप्त करते रहना चाहिए । ईश्वर तो वास्तव मे तत्त्व है, एक शक्ति है जिसका न कोई नाम है न रूप, जो हमने रख लिया या मान लिया वही ठीक है । वही ईश्वर शक्ति हमारे मन के सस्कारो को साफ करेगी ससार के गदे विचारो की धूल साफ करेगी । उससे हमारा मन का शीशा साफ रहेगा व हमे सही कर्त्तव्य-बोध होता रहेगा । ज्ञान और विवेक के जागृत होने के साथ साथ ईश्वरीय शक्ति भी ध्यान के द्वारा खीचनी होगी ताकि हम कर्त्तव्य निभाने मे सफल हो सकें ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कर्म अथवा कर्त्तव्य ही सच्ची पूजा है परन्तु बिना ध्यान या ईश्वर-उपासना के न तो सही कर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है, न उसके निभाने के सही रास्ते का ज्ञान हो पाएगा और न ही कर्त्तव्य पालन हेतु शक्ति प्राप्त हो सकेगी । □

□ प्रत्येक कर्तव्य-कर्म अपने अपने स्थान पर महान हैं परन्तु कब ? जब कर्म के पीछे जो भाव है वह पवित्र हो, भाव के पीछे जो ज्ञान है वह उद्देश्य-पूर्ति मे हेतु हो और उद्देश्य वह हो जिसके आगे और कोई उद्देश्य न हो। अत प्रत्येक कर्तव्य कर्म द्वारा अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति अनिवार्य है ।

□ अपवित्र उपाय से पवित्र उद्देश्य-पूर्ति की आशा करना भूल है क्योकि की हुई अपवित्रता मिटाई नही जा सकती और उसके परिणाम से बचा नही जा सकता अपितु अपवित्र उपाय का परिणाम पवित्रतम उद्देश्य को मलीन बना देगा । अत पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्र उपाय का ही अनुसरण अनिवार्य है ।

---

४२ कर्मवाद और आधुनिक चिंतन

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

कर्मवाद को सिद्धान्त माना जाए या दर्शन, इसमें मतभेद हो सकता है। मैं उसे एक वाद या विचार मानता हूँ, क्योंकि वह जड़ और चेतन के बंध और मोक्ष की प्रक्रिया का विचार करता है। विकास की प्रारम्भिक स्थितियों पार कर, जब मानव जाति ने सामाजिक जीवन शुरू किया और आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टियों से उसमें ठहराव आया तो भाषा के साथ उसमें विचार चेतना विकसित हुई। सृष्टि और जन्म-मृत्यु के रहस्यों को जानने की सहज इच्छा ने कई प्रश्न खड़े कर दिए। जैसे यह सृष्टि अपने आप बनी, या किसी ने इसे बनाया? उसका कारोबार स्वतः चल रहा है, या वह किसी अदृश्य शक्ति से नियन्त्रित है? जीव क्या है, कहाँ से आता है, और कहाँ जाता है? यह स्वतन्त्र तात्त्विक इकाई है, या कई तत्त्वों का मिश्रण है? उसमें इच्छाएँ क्यों पैदा होती हैं, वे अपने आप पैदा होती हैं या कोई पैदा करता है? आहार, निद्रा, भय और मैथुन की जैविक आवश्यकताएँ क्यों जीव के साथ जुड़ी हैं? आदमी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जितने उपकरण जुटाता है, वे उतनी ही फैलती जाती हैं, पूर्ति के संतोष के स्थान पर अपूर्ति का असंतोष तीव्रतर होता जाता है, पूर्ति के साधनों की होड़ में शोषण की सभ्यता शुरू हो जाती है। उसने जानना चाहा कि क्या आहार, निद्रा की दैनिक चर्याओं और जन्म मृत्यु की कारागारों में बद्ध जीवन के स्थान पर ऐसा जीवन पाया जा सकता है, जहाँ सब सुख अनंत हों, प्रचुर हों, स्वतन्त्र हों, आनन्दमय हों?

इस प्रकार अनंत और शाश्वत जीवन की खोज में मनुष्य ने पाया कि द्वन्द्वात्मक जीवन से छुटकारे के बाद ही, शाश्वत जीवन पाया जा सकता है। अपने विचारों को निश्चित दिशा देने के लिए उसने कुछ पूर्व कल्पनाएँ कीं। किसी ने माना कि सृष्टि और जीव किसी नियंता के अधीन हैं, वही इनको मुक्ति दिला सकता है, इसलिए उसका साक्षात्कार जरूरी है। दूसरे ने माना कि सृष्टि एक अनादि प्रवाह है जिसका न आदि है और न अंत। प्रवाह के कारणों को रोक देने से, आत्मा प्रवाह से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। तीसरे ने यह माना कि आत्मा कुछ और नहीं, कई तत्त्वों के मेल से बनी इच्छा को उभारता है दीपक की लौ की तरह उसका निर्वाण आवश्यक है, जो

चरम स्थिति या निर्वाण है। लेकिन ये विचार, किसी पूर्व कल्पना (Prothesis) को मूल मानकर चलते हैं, जिसके बारे में सभी दार्शनिकों का विचार है कि वह ईश्वर या सर्वज्ञ के द्वारा दृष्ट सत्य है, यह सत्य हो सकता है, परन्तु इस सत्य को पाने की प्रक्रिया का विचार करने वालो के लिए वह, एक पूर्वकल्पित सत्य ही होगा, क्योंकि वे यह दावा नही करते कि उन्होंने उक्त सत्य का साक्षात्कार कर लिया है।

जैन दर्शन के विचारक भी यह मानकर चलते हैं कि सृष्टि और उसमे जड चेतन का मिश्रण अनादि निधन है, यानी वह प्रारम्भ हीन सतत प्रवाह है। जीवन की सारी विषमताएँ और समस्याएँ—इसी मिश्रण की प्रतिक्रियाएँ हैं, वे वैभाविक परिणतियाँ हैं, राग चेतना की निष्पत्तियाँ हैं, जो जीव के साथ इतनी घुल-मिल गई हैं कि 'जीव' इन्ही के माध्यम से अपने को पहचानता है। उसकी यह पहचान जितनी गाढ़ी होती है, उसे सुख-दुःख की अनुभूति उतनी ही तीव्रतर होती है। रागात्मक परमाणु चेतना के प्रत्येक गुण पर आवरण डाल देते हैं, और वह दुःखी हो उठती है, अनुकूल स्थिति मे सुखी भी होती है। इस प्रकार व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण, उसी मे है न कि समाज या बाहरी परिस्थितियों मे। अपने सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता व्यक्ति स्वयं है, जिन कर्मों से यह होता है, उनका कर्ता वह स्वयं है। इस प्रकार ऊपर से देखने पर कर्मवाद–व्यक्ति को करने की स्वतंत्रता देता है और उससे मुक्त होने का अधिकार भी। परन्तु मूलतः यह प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है, और एक बार जीव जब कर्म के जंजाल में फंस जाता है (या फंसा दिया गया है) तो उससे छूटना आसान नही है। फिर भी कर्मवाद मे व्यक्ति को मुक्त होने की स्वतंत्रता है। लेकिन यह सारी विचारधारा, समाज निरपेक्ष विचारधारा है, जो मनुष्य को लौकिक दृष्टि से उदासीन और आत्म केन्द्रित बना देती है, उस पर यह बहुत बड़ा आक्षेप है। यह प्रवृत्ति मनुष्य को अकर्मण्य और सामाजिक संपर्क से निरपेक्ष बना देती है, जबकि आधुनिक चिंतन इस विचारधारा को समाज के लिए अत्यंत खतरनाक मानता है।

वास्तव मे देखा जाए तो दूसरे भारतीय दर्शनों की तरह जैन कर्मवाद भी इसी प्रवृत्ति का पोषक है। यानी इसके अनुसार व्यक्ति के नैतिक विकास मे समाज और राष्ट्र का विकास स्वतः हो जाएगा। यह मान्यता, इतिहास के उतार चढ़ाव मे कई बार झुठलाई जा चुकी है। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है कि आत्म स्वातंत्र्य की अलख जगाने वाला देश शताब्दियों तक भौतिक गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा रहा, जिसकी दूसरी मिसाल नही मिलती।

आधुनिक चिंतन की परिभाषा को लेकर चाहे जो मतभेद हों परन्तु

यह सब स्वीकारते हैं कि सुख-दुःख, गरीबी-अमीरी के कारण हमारी समाज व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था मे मौजूद हैं। पुण्य-पाप, ऊँच-नीच के विचार को सामाजिक न्याय मे आड़े नहीं आना चाहिए। परन्तु वह आता है। जैन दर्शन इस सम्बन्ध मे यथास्थिति वाद को स्वीकार करके चलता है। सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि कर्मवाद दृश्य समस्याओं के लिए अदृश्य कारणों को जिम्मेदार मानता है। दूसरा आक्षेप यह है कि कर्म प्रक्रिया इतनी जटिल है कि यह सामान्य बुद्धि के परे है। कर्मवाद का प्रयोग व्यक्ति स्तर पर किया गया, वह भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए। संसार या समाज व्यवस्था को बदलने की दिशा मे उक्त वाद का कभी प्रयोग नहीं किया गया। यह भूलना भयावह होगा कि कर्मवाद जीवन की स्वीकृति है, उससे पलायन नहीं, वीतरागता का मार्ग रागात्मकता मे से गुजरता है, मोक्ष, रागवृक्ष का फल है, फल पाने के लिए वृक्ष की पूरी संरचना की उपेक्षा का वही परिणाम होगा जो हम देख रहे हैं।

• □ •

☐ प्रत्येक कर्म ही कर्ता का चित्र है। अत कर्ता की सुन्दरता तथा असुन्दरता का परिचय उसके किये हुए कर्म से ही स्पष्ट होता है, सुन्दर कर्ता के बिना सुन्दर कार्य सम्भव नहीं है। कर्ता वही सुन्दर हो सकता है कि जिसका कर्म पर के लिए हितकर सिद्ध हो तथा किसी के लिए अहितकर न हो। अत कार्यारम्भ से पूर्व यह विकल्प रहित निर्णय कर लेना चाहिये कि उस कार्य का मानव-जीवन मे स्थान ही नहीं है जो किसी के लिए भी अहितकर है। अहितकर कार्य का अर्थ है कि जो किसी के विकास मे बाधक हो।

☐ प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य पालन का दायित्व तब तक रहता ही है जब तक कर्ता के जीवन से अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्प नष्ट न हो जाय, आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट न जाय, सहज भाव से निर्विकल्पता न आ जावे, अपने आप आयी हुई निर्विकल्पता से अरुचि न हो जाय तथा असंगतापूर्वक प्राप्त स्वाधीनता को समर्पित कर जीवन प्रेम से परिपूर्ण न हो जाय। कर्तव्य पालन से अपने को बचाना भूल है। अत प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप मानव को कर्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

---

४३ कर्म का सामाजिक सदर्भ

☐ डॉ० महावीर सरन जैन

आध्यात्मिक दृष्टि से कम सिद्धात पर बडी गहराई से विचार हुआ है। उसके सामाजिक सन्दर्भों की प्रासगिकता पर भी विचार करना अपेक्षित है।

आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति माया के कारण अपना प्रकृत स्वभाव भूल जाता है। राग-द्वेष से प्रमत्त जीव इन्द्रिया के वशीभूत होकर मन, वचन, काय से कर्मों का सचय करता है। जैसे दूध और पानी परस्पर मिल जाते हैं, वसे ही कर्म-पुद्गल के परमाणु आत्म-प्रदेशो के साथ सश्लिष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार लोह पिंड को अग्नि मे डाल देने पर उसके कण-कण मे अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असख्यात प्रदेशो पर अनन्त अनन्त कम वर्गणा के पुद्गल सश्लिष्ट हो जाते हैं।

जीव अनादि काल से ससारी है। दहिक स्थितियो से जकडी हुई आत्मा के क्रियाकलापो मे शरीर (पुद्गल) सहायक एव बाधक होता है। आत्मा का गुण चतन्य और पुद्गल का गुण अचेतन्य है। आत्मा एव पुद्गल भिन्न धर्मी हैं फिर इनका अनादि प्रवाही सम्बन्ध है। आत्मा एव शरीर के सयोग से "वैभाविक गुण" उत्पन्न होते हैं। ये हैं—पौद्गलिक मन, श्वास—प्रश्वास, आहार, भाषा। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के हैं। दोनो के सयोग से ही ये उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की मृत्यु के समय श्वास-प्रश्वास, आहार एव भाषा के गुण तो समाप्त हो जाते हैं किन्तु पुद्गल-कम के आत्म-प्रदेशो के साथ सश्लिष्ट हो जाने के कारण एक "पौदगलिक शरीर" उसके साथ निर्मित हो जाता है जो देहान्तर करते समय उसके साथ रहता है।

स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द रूप मूत-पुद्गलो का निमित्त पाकर कर्माण शरीर की इन्द्रियो द्वारा विषयो का ग्रहण करने पर आत्मा राग-द्वेष एव मोह रूप म परिणमन करती है। इसी से कर्मों का बन्धन होता है। कर्मों का उत्पादक मोह तथा उसके बीज राग एव द्वेष हैं। कम की उपाधि म आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो जाता है। कर्मों के बन्धन से आत्मा की विकृत अवस्था हो जाती है। बन्धनो का अभाव अथवा आवरणो का हटना ही मुक्ति है। मुक्ति की दशा म आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप अवस्था म स्थित हो जाती है।

इस तथ्य को भारतीय-दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा के 'आवरण' को भिन्न नामों द्वारा व्यक्त किया गया है किन्तु मूल अवधारणा में अन्तर नहीं है। आत्मा के आवरण को जैन दर्शन कर्म-पुद्गल, बौद्ध-दर्शन तृष्णा एवं वासना, वेदान्त-दर्शन अविद्या अज्ञान के कारण माया तथा योग दर्शन 'क्लेश' के नाम से अभिहित करते हैं।

आवरणों को हटाकर मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? ईश्वरवादी-सम्प्रदाय परमेश्वर के अनुग्रह, शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय को इसका हेतु मान लेते हैं। जो दर्शन जीव में ही कर्मों को करने की स्वातन्त्र्य शक्ति मानकर जीवात्मा के पुरुषार्थ को स्वीकृति प्रदान करते हैं तथा कर्मानुसार फल प्राप्ति में विश्वास रखते हैं, वे साधना-मार्ग तथा साधनों पर विश्वास रखते हैं। कोई शील, समाधि तथा प्रज्ञा का विधान करता है, कोई श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश देता है। जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य के सम्मिलित रूप को मोक्ष मार्ग का कारण मानता है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है। जो जैसा कर्म करता है उसके अनुसार वैसा ही कर्म-फल भोगता है। इसी कारण सभी जीवों में आत्म शक्ति होते हुए भी कर्मों की भिन्नता के कारण जीव की नानागतियों, योनियों, स्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप से परिभ्रमित हैं। यह कर्म का सामाजिक सदर्भ है। सामाजिक स्तर पर 'कर्मवाद' व्यक्ति के पुरुषार्थ को जागृत करता है। वह उसे सही मायने में सामाजिक एवं मानवीय बनने की प्रेरणा प्रदान करता है। उसमें नैतिकता के संस्कारों को उपजाता है। व्यक्ति को यह विश्वास दिलाता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा होता है तथा बुरे कर्म का फल बुरा होता है। राग-द्वेष वाला पापकर्मी जीव संसार में उसी प्रकार पीड़ित होता है जैसे विषम मार्ग पर चलता हुआ अन्धा व्यक्ति। प्राणी जैसे कर्म करते हैं, उनका फल उन्हें उन्हीं के कर्मों द्वारा स्वतः मिल जाता है। कर्म के फल भोग के लिए कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। समान स्थितियों में भी दो व्यक्तियों की भिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ कर्म-भेद को स्पष्ट करती हैं।

कर्म वर्गणा के परमाणु लोक में सर्वत्र भरे हैं। हमें कर्म करने से [illegible]। शरीर है तो क्रिया भी होगी। क्रिया होगी तो कर्म-वर्गणा के परमाणु [illegible] प्रदेश की ओर आकृष्ट होंगे ही। तो क्या हम क्रिया करना बन्द कर दें? क्या फिर कोई व्यक्ति जीवित रह सकता है? क्या ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन चल सकता है? ऐसी [illegible] ? [illegible] कैसे [illegible] ? [illegible] का उत्पादन कैसे होगा? क्या कर्म हीन स्थिति में कोई जिन्दा रह सकता है।

कम का मूल क्षण हिंसा है। अहिंसा से बढ़कर दूसरी कोई साधना नही है। इसी अहिंसा के व्यावहारिक जीवन मे पालन करने के सम्बध मे भगवान् महावीर के समय मे भी जिज्ञासायें उठी थी। जल मे जीव हैं, स्थल पर जीव हैं, आकाश में भी सवत्र जीव हैं। जीवो से ठमाठस भरे इस लोक मे भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है? हमे कम करने ही पड़ेंगे। माग मे चलते हुए अनजाने यदि कोई जीव आहत हो जावे तो क्या वह हिंसा हो जावेगी? यदि वह हिंसा है तो क्या हम अकमण्य हो जावें? क्रिया करनी बन्द करदें? ऐसी स्थिति मे समाज का काय किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है?

महावीर ने इन जिज्ञासाओ का समाधान किया। उन्होंने अहिंसा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति के चित्त को बहुत गहरे से प्रभावित किया। उन्होंने लोक के जीव मात्र के उद्धार का वैज्ञानिक मार्ग खोज निकाला। उन्होंने ससार में प्राणियो के प्रति आत्मतुल्यता-भाव की जागृति का उपदेश दिया, शत्रु एवं मित्र सभी प्राणियो पर समभाव की दृष्टि रखने का शखनाद किया।

यहाँ आकर आध्यात्मिक दृष्टि एव सामाजिक दृष्टि परस्पर पूरक हो जाती हैं। आत्मा का साक्षात्कार करना है। आप क्या हैं? "मैं"। इस "मैं" को जिस चेतना शक्ति के द्वारा जानते हैं, वही आत्मा है। बाकी अन्य सभी "पर" हैं। अपने को अन्यो से निकाल लो—शुद्ध आत्मा के स्वरूप मे स्थित हो जाओ। आत्म साक्षात्कार का दूसरा रास्ता भी है। अपने को अन्य सभी मे बाँट दो। समस्त जीवो पर मत्रीभाव रखो। सम्पूर्ण विश्व को समभाव से देखने पर साधक के लिए न कोई प्रिय रह जाता है न कोई अप्रिय। अपने को अन्यो मे बाँट देने पर आत्म तुल्यता की प्रतीति होती है। जो साधक आत्मा को आत्मा से जान लेता है, वह एक को जानकर सबको जान लेता है। एक को जानना ही सबको जानना है तथा सबको समभाव से जानना ही अपने को जानना है। दोनो ही स्थितियाँ केवल नामान्तर मात्र हैं। दोना मे ही राग-द्वेष के प्रसगो में सम की स्थिति है, राग एव द्वेष से अतीत होने की प्रक्रिया है। राग-द्वेष हीनता धार्मिक बनने की प्रथम सीढ़ी है। इसी कारण भगवान् महावीर ने कहा कि अध्यात्माओ को चाहिए कि वे समस्त ससार का समभाव से देखें। किसी को प्रिय एव किसी का अप्रिय न बनावें। शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियो पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है।

समभाव एव आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अपने आप अहिंसक हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्राणी मात्र जीवित रहने की इच्छा रखते हैं। सबको अपना जीवन प्रिय है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता। सभी प्राणियों का दुःख अप्रिय है। इस कारण किसी

जीवन के कर्मों का फल है। वर्तमान जीवन के आचरण के द्वारा हमारे भविष्य का स्वरूप निर्धारित होगा। वह वतमान जीवन को साधन तथा भविष्य को साध्य मानकर चलता था। पुनजन्म के विश्वास की आधार भूमि पर ही 'कर्मों के फल' के सिद्धान्त का प्रवतन हुआ।

आज के व्यक्ति की दृष्टि 'वर्तमान' को ही सुखी बनाने पर है। वह अपने वर्तमान को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहता ह। अपनी सारी इच्छाओ को इसी जीवन मे तृप्त कर लेना चाहता है। आज का मानव सशय और द्विधा के चौराहे पर खडा ह। वह सुख की तलाश मे भटक रहा है। धन बटोर रहा है। भौतिक उपकरण जोड रहा है। वह अपना मकान बनाता ह। आलीशान इमारत बनाने क स्वप्न को मूर्तिमान करता है। मकान सजाता है। सोफासेट, वातानुकूलित व्यवस्था, मँहगे पर्दे, प्रकाश-ध्वनि के आधुनिकतम उपकरण एव उनके द्वारा रचित मोहक प्रभाव। उसको यह सब अच्छा लगता है। जिन लोगो को जिन्दगी जीने के न्यूनतम साधन उपलब्ध नहीं हो पाते वे सघष करते हैं। आज वे अभाव का कारण अपने विगत कर्मों को न मानकर सामाजिक-व्यवस्था को मानते हैं। समाज से अपेक्षा रखते हैं कि वह उन्हें जिन्दगी जीने की स्थितियाँ मुहैया करावे। यदि ऐसा नही हो पाता तो वे आज हाथ पर हाथ धरकर बैठने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सारी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर देने के लिए बेताब हैं।

व्यक्ति के चिन्तन को फ्रायड एव मार्क्स दोनो ने प्रभावित किया है। फ्रायड ने व्यक्ति की प्रवृत्तियो एव सामाजिक नतिकता के बीच 'सघष' एव 'द्वन्द्व' को अभिव्यक्त किया है। उसकी दृष्टि मे 'सैक्स' सर्वाधिक प्रमुख है। इसी एकागी दृष्टिकोण से जीवन का विश्लेषित एव विवेचित करने का परिणाम 'कीन्से रिपोर्ट' के रूप में सामने आया। इस रिपोर्ट ने सैक्स के मामले में मनुष्य की मन स्थितियो का विश्लेषण करके 'नामल प्राणी' के व्यवहार के मानदण्ड निर्धारित किए। सयम की सीमायें टूटने लगी। भोग का अतिरेक सामान्य व्यवहार का पर्याय बन गया। जिनके जीवन म यह अतिरेक नहीं था उन्होंने अपने को मनोरोगी मान लिया। सैक्स-कुण्ठाओ के मनोरोगियो की सख्या बढ़ती गयी।

मनोविज्ञान भी चेतना के ऊर्ध्व आरोहण मे विश्वास रखता है। प्रेम म तो सताप, विश्वास, अनुराग एव आस्था प्राप्त होती है। किन्तु पाश्चात्य जीवन ने तो प्रेम का अथ इन्द्रियो की निर्बाध तृप्ति मान लिया। 'प्रेम' को निरथक करार दे दिया गया। 'वासना' तृप्ति ही जिन्दगी का लक्ष्य हो गया। प्रेम म जो मधुरिमा और त्याग होता है। अब हैवानियत एव भोग की बाढ़ आ गयी। परिवार की व्यवस्थायें टूटने लगी। एकनिष्ठ प्रेम का आदश समाप्त होने लगा।

व भूल गए कि प्रेम मे सौन्दर्य चेतना के लिए एकनिष्ठता आवश्यक है । मनुष्य ने अपने को पशु जगत् से भिन्न 'मानव' बनाया था, समाज का निर्माण किया था, काम भाव का संयमीकरण किया था, स्व पत्नी द्वारा, काम वासना के संतुष्टि की प्रक्रिया द्वारा ब्रह्मचर्य की सामाजिक व्यवस्था का आदर्श निर्मित किया था । वह सुखी था । उसकी जिन्दगी में अपने प्रेम के आलम्बन के प्रति विश्वास रहता था । उसने इस सत्य की खोज निकाला था कि सम्भोग-सुख की पूर्ण अनुभूति एवं तृप्ति के लिए भी इन्द्रिय-नियन्त्रण आवश्यक है ।

इस परिवर्तन से क्या व्यक्ति को सुख प्राप्त हो सका है ? परिवार के सदस्यों मे पहले परस्पर जो प्यार एवं विश्वास पनपता था उसकी निरंतर कमी होती जा रही है । जो सदस्य भावना की पवित्र डोरी से बँधे रहते थे, वह टूटती जा रही है । पहले पति-पत्नी का सुख-दुःख एक होता था । उनकी इच्छाओं की धुरी 'स्व' न होकर 'परिवार' होती थी । वे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति करने के बदले अपने बच्चों एवं परिवार के अन्य सदस्यों की इच्छाओं की पूर्ति मे सहायक बनना अधिक अच्छा समझते थे ।

पाश्चात्य जीवन ने पहले संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को तोड़ा । फिर परिवार मे पति-पत्नी अपने मे सिमटे, बच्चों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों की उपेक्षा अवहेलना की । परिवार मे अपने ही बच्चे बेगाने हो गए । बच्चों का कमरा अलग, माँ-बाप का कमरा अलग । बच्चों की दुनिया अलग, माँ-बाप की दुनिया अलग । एक ही घर मे रहते हुए भी कोई भावात्मक सम्बन्ध नहीं । बच्चों में असंतोष पनपा । वे विद्रोही हो गए । अधिक भावुक एवं संवेदनशील 'हिप्पी' बन गए । 'हिप्पी पीढ़ी' इतिहास के पन्नों पर उभर गयी । जो बच्चे घर से भागे, उन्होंने जब बड़े होकर अपना घर बसाया तो उनके घर में उनके माँ-बाप पराये हो गए ।

पहले पति-पत्नी आजीवन साथ-साथ रहने के लिए प्रतिबद्ध होते थे । दोनों का सुख-दुःख एक होता था । दोनों का विश्वास रहता था कि वे आजीवन साथ-साथ रहेंगे । विवाह पर कोई नहीं कहता था कि आप लोग आजीवन साथ रहें । यह तो जीवन का माना हुआ तथ्य होता था । आजीवन सुखी एवं सानन्द रहने की कामना की जाती थी । अब मनुष्य की चेतना [illegible] पूर्ण एवं [illegible] हो कर रह गयी तो [illegible] सिमटता गया । सम्पूर्ण जीवन सुख का अपेक्षा भोगने का [illegible] मनुष्य ने प्रेम की एकनिष्ठता का आदर्श भी तोड़ डाला । [illegible] परस्पर विश्वास भी टूट रहा है । तलाकों की संख्या बढ़ती जा रही है । [illegible] [illegible] अकेलापन [illegible] गया है । [illegible] भीड़ में [illegible] गया है । मानसिक रोगों की संख्या बढ़ती जा रही है । [illegible]

को जोड लेने के बाद भी मानसिक दृष्टि से अशान्त हैं। तनावो का दायरा बढ़ता जा रहा है। इन तनावों को दूर करने के लिए व्यक्ति अपने को भुलाता है। मद्यपान करता है, चरस, भाँग का सेवन करता है। उनसे भी जब नशा नही होता तो 'एल एस डी', 'हैरा', 'ऐमीड्रीन', 'वैलियम', 'मैनड्रेक्स' लेता है। इनसे भी मानसिक थकान नही मिटती तो 'हेरोइन' यानी 'एच' लेता है। इन्ही प्रक्रियाओ से गुजरकर ऐसे मुकाम मे पहुँच जाता है जहाँ चेतना अधेरी कोठरी मे बन्द हो जाती है, पुरुषार्थ थक जाता है। अपराध प्रवृत्तियो के शिकार मानसिक रोगियो की जिन्दगी मे फिर प्रकाश की कोई किरण कभी रोशनी नही फैलाती।

कार्ल मार्क्स ने शोषक और शोषित—इस वर्ग सघर्ष को उभारकर तथा इतिहास की अर्थ परक व्याख्या के द्वारा रोटी के प्रश्न को मानवीय चेतना का केन्द्र बिन्दु बनाकर प्रस्थापित किया। उत्पादन के साधनो पर किसका अधिकार है, उत्पादन की प्रक्रिया में रत लोगो के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं तथा उत्पादित भौतिक सम्पदा का लाभ एव उसके वितरण का क्या प्रबन्ध है आदि तथ्यों पर मार्क्स तथा उनकी विचारणा से प्रभावित अन्य व्यक्तियो ने विचार किया। मार्क्सवाद की विचारधारा का प्रभाव एशिया, अफ्रीका तथा लटिन अमेरिका के देशो मे राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियो, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी क्रान्ति के सघर्षों, विभिन्न देशो मे व्यापक आम जनवादी मोर्चों के सगठनो तथा समाज वादी देशो मे उत्पादन के साधनो पर सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली मे पहचाना जा सकता है। साधनहीन अथवा शोषितो का चिन्तन भी बदला है। वे अपनी जिन्दगी की मुसीबतो का कारण व्यवस्था को मानकर समाज एव राज्य से साधनो की माँग कर रहे हैं। यह बात भी आज स्पष्ट है कि राज्य के कल्याणकारी कार्यक्रमो के क्रियान्वयन द्वारा बहुत सी मुसीबतो एव कष्टों को दूर किया जा सकता है। मगर व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति की मानसिकता को सर्वथा नही बदला जा सकता। वस्तुत केवल भौतिक दृष्टि से विचार करना भी एकांगिता है। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने मात्र से शोषण समाप्त हो ही जावेंगे—यह भी निश्चित नही है। सार्वजनिक स्वामित्व के नाम पर राजकीय पूँजीवाद (State Capitalism) के स्थापित हो जाने पर क्या उसके चारित्रिक स्वरूप मे परिवर्तन आता है? यह कहा जाता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति पर पूँजीपति वर्ग का निजी स्वामित्व एव नियत्रण रहता है। राजकीय पूँजीवाद में पूँजीवादी व्यवस्था म ही राष्ट्र एव नेतृत्व वर्गों के हित में इसके उपयोग की सम्भावनायें पैदा होती हैं।

मगर प्रश्न है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के नाम पर यदि कम्युनिस्ट अधिनायकी सत्ता पर कब्जा कर लेते हैं तो क्या पार्टी-अधिनायकवाद के छद्मवश में सत्ता पर इनकी तानाशाही स्थापित नही हो जाती तथा यदि [illegible] के बाद

में राजकीय स्वामित्व आता है तो आगे चलकर उसके पूँजीवादी [illegible] स्वरूप में बदलने की सम्भावना से कैसे इन्कार किया जा सकता है ?

वास्तव में 'पेट की भूख' एवं 'शरीर की भूख' मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं। प्राकृतिक जीवन में मनुष्य पशुओं की तरह आचरण करता है। अपनी भूख को मिटाने के लिए कोई नियम नहीं होते। इस अवस्था में शारीरिक दृष्टि से सबल मनुष्यों के सामने निर्बल मनुष्यों को हार [illegible] पड़ती है। सबल मनुष्य निर्बल को पराजित कर भूख मिटाता है। भूख मिटाकर भी उसके जीवन में शान्ति नहीं रहती। उसे अन्य सबल व्यक्तियों का डर [illegible] रहता है। छीना-झपटी, झगड़ा-फसाद जीवन में घर कर जाता है। इनसे बचने के लिए मनुष्य ने समाज बनाया। शरीर की भूख तथा पेट की भूख की तृप्ति के लिए सामाजिक नियम बनाए। शरीर की भूख की तृप्ति के लिए विवाह संस्था का जन्म हुआ। परिवार बना। घर बना। निश्चित हुआ एक पुरुष की एक पत्नी। उसकी पत्नी पर उसका अधिकार। उसकी पत्नी पर दूसरे का कोई अधिकार नहीं। दूसरों की पत्नियों पर उसका कोई अधिकार नहीं। उसने अपनी झोंपड़ी बनायी। घर बनाया। घर के चारों ओर चार दिवारी बनायी। घर के क्षेत्र की सीमा निर्धारित हुई। उसके घर पर उसका अधिकार। उसके घर पर दूसरों का अधिकार नहीं। दूसरों के घर पर उसका कोई अधिकार नहीं।

पेट की भूख मिटाने हेतु उसने जमीन साफ की, बीजों का वपन किया, कृषि-कर्म किया। अपने खेत के चारों ओर मेड़ें बनायीं। सरहदें स्थापित कीं। उसकी सरहद वाली भूमि पर दूसरों का अधिकार नहीं। दूसरों के खेत पर उसका अधिकार नहीं। अपना-अपना खेत, अपनी अपनी पैदावार।

अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य प्रकार के उद्यम एवं उद्योग धन्धों का विकास हुआ, इन क्षेत्रों में इसी प्रकार की सीमा एवं [illegible] निर्धारित हुई।

इस प्रकार समाज के अस्तित्व की आधारशिला परस्पर स्वीकृत सीमा, एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण न करने का संकल्प, [illegible] परस्पर सम्मान एवं एक दूसरे के अस्तित्व तथा उस पर अधिकार [illegible] सहिष्णुता ही है। इसी समाज में व्यक्ति संयम के साथ भोग करना [illegible] अपने [illegible] का बेहतर बनाया जाता है।

मनुष्य में नैसर्गिक प्रवृत्ति के साथ-साथ वृत्तियों के उदात्तीकरण, [illegible] [illegible] की प्रवृत्ति भी रहती है। इसी कारण वह अपने जीवन की [illegible] है। सामाजिक जीवन नीति से ही सम्भव है, [illegible] [illegible]

व लिए सयम की लगाम आवश्यक है। समाज मे व्यवस्था एव स्वच्छ वातावरण तभी रह सकता है जब उसके सदस्य सयमित आचरण करें। प्रेम, करुणा, बन्धुत्व-भाव के द्वारा ही मनुष्य का जीवन उन्नत एव सामाजिक बनता है। चेतना का विकास होने पर ही मानव समाज लोक कल्याण की भावना की ओर उन्मुख होता है। जब जिन्दगी लक्ष्यहीन हो जाती है तो सम्पूर्ण जीवन मे भटकाव आ जाता है। यही भटकाव सन्त्रास एव तनाव को जन्म देता है। इससे मुक्ति पाना समस्या बन जाती है। जब-जब सयम की सीमायें टूटती हैं, जीवन एव परिवेश दूषित एव विषाक्त होने लगता है।

परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करने, वशानुक्रमण एव व्यक्तित्व का प्रसार तथा आत्म परिवेष्टन के अतिक्रमण के कारण मनुष्य अकेला नही रह पाता। वह समाज बनाता है। समाज के अस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग, समझदारी एव साझेदारी आवश्यक है। कोई भी समाज धम चेतना से विमुख होकर नही रह सकता। धम सम्प्रदाय नही। धम पवित्र अनुष्ठान है। जिन्दगी मे जो हमे धारण करना चाहिए—वही धर्म है। हमे जिन नैतिक मूल्यो को जिन्दगी में उतारना चाहिए—वही धम है। समाज की व्यवस्था, शान्ति तथा समाज के सदस्यो मे परस्पर प्रेम एव विश्वास का भाव जगाने के लिए धम का पालन आवश्यक है। धम के पालन का अथ ही है—श्रेष्ठ नैतिक कर्मों के अनुरूप आचरण।

मन की कामनाओ को नियन्त्रित किए बिना समाज रचना सम्भव नहीं है। कामनाओ के नियन्त्रण की शक्ति या तो धम में है या शासन की कठोर व्यवस्था मे। धम का अनुशासन 'आत्मानुशासन' होता है। व्यक्ति अपने पर स्वय नियन्त्रण करता है। शासन का नियन्त्रण हमारे ऊपर 'पर' का अनुशासन होता है। दूसरो के द्वारा अनुशासित होने पर हम विवशता का अनुभव करते हैं, परतन्त्रता का बोध करते हैं, घुटन की प्रतीति करते हैं।

धर्म मानव हृदय की असीम कामनाओ को स्व की प्रेरणा से सीमित कर देता है। धम हमारी दृष्टि को व्यापक बनाता है, मन में उदारता, सहिष्णुता एव प्रेम की भावना का विकास करता है।

अभी तक धम एव दर्शन की व्याख्यायें इस दृष्टि से हुई कि उनसे हमारा भविष्य जीवन उन्नत होगा। धम के आचरण को वतमान व्यक्तिगत जीवन एव सामाजिक जीवन की दृष्टि से सार्थक बनाया गया है, इसका केन्द्र बनाकर चिन्तन करने की महती आवश्यकता है तभी धम का सामाजिक सदर्भ स्पष्ट हो सकेगा।

•□•

का पोषण करेंगे। वे ऐसी व्यवस्था करेंगे कि उनका धन-साधन सुरक्षित रहे और जो उनकी सत्ता को उखाडने की कोशिश करें, वे दण्ड के भागी बनें। न केवल राजदण्ड बल्कि धार्मिक व्यवस्था भी ऐसी करावेंगे कि उनको कोई छेडे नहीं। ऐसे नियम व उपदेश का प्रचार होगा कि पराया धन नरक मे ले जाने वाला ह, अत उस ओर नजर भी न डालें। इससे सुन्दर व्यवस्था बनी रहे और जो जैसा जीवन जी रहे हैं, उसी मे सुख महसूस करें। जो वर्तमान स्थिति है उसे पूर्व कर्मों का फल मानकर इस जीवन मे पश्चात्ताप करें और आगे का जीवन सुधारने का प्रयत्न करें। इसीलिये मार्क्स ने धर्म को जनता के लिये अफीम की सज्ञा दी ह।

व्यक्ति को फल अपने कर्म के अनुसार मिलता है। इस वैज्ञानिक सिद्धांत को कौन नकार सकता ह ? जैसा बीज वैसा फल। जैसा कर्म वैसा जीवन।

परन्तु व्यक्ति पर लागू होने वाले सिद्धात को बिना अपवाद के पूरे समाज पर लागू करके समाज की व्यवस्था बनाना और उसकी अच्छाइयां या बुराइयों को तर्कसगत बनाना उतना वैज्ञानिक नही है। बल्कि यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस कर्म सिद्धात को समाज-व्यवस्था का आधार बनाने मे निहित स्वार्थों ने कार्य किया है और धर्म व कर्म के वैज्ञानिक और शुद्ध स्वरूप को विकृत कर व्यवस्था को स्थायी बनाये रखने का प्रयास किया ह।

यदि धार्मिक और दार्शनिक बार-बार यह कहें कि जो सुख तुम्हें मिला या मिलेगा वह कर्म आधारित है और पूर्व जन्म के कर्मों का फल है तो अपनी वर्तमान स्थिति के बारे मे यही समझ कर सतोष करेगा कि उसके पूर्व जन्म के कर्म खराब हैं अत उसे ऐसा दुःखी जीवन मिला है और वर्तमान को किसी तरह भोगते हुए अगले जीवन को सुधारने का प्रयत्न करना है। वर्तमान को कैसे सुधारें, यह कौन बताये ? जब अमीर आदमी के पास धन-दौलत है तो वह उसको अपने पूर्व जन्म के कर्म का फल मानकर गर्व करता है कि यह उसका पुराना गौरव है और उसको भोगना उसका हक है। यदि कोई उसे छीनने का प्रयत्न करे तो धार्मिक कहते हैं यह पाप है क्योंकि सम्पत्ति पर उसका हक पूर्व जन्म के कर्मों के फल से है।

व्यक्ति का वर्तमान के कर्मों के फल प्राप्त कर उसका भोग करना एक बात है और भूत के कर्मों के फल पर बिना प्रयत्न के भी वर्तमान अमीरी मे रहना दूसरी बात है। यह अमीरी और गरीबी कर्म आधारित नहीं वरन् समाज व्यवस्था पर आधारित है। जैसी व्यवस्था होगी उसी आधार पर गरीबी या अमीरी होगी।

व्यक्ति धन कमाकर रोटी खाये यह वर्तमान कर्म का फल है, परन्तु पिता कमाकर पुत्र के लिए छोड़ जाय और पुत्र उसका भोग करे, यह पूर्व जन्म

है परन्तु कही विद्रोह का काम नही। गरीबो को धार्मिकों ने काफी गहरी नींद सुला दिया है। यदि सिर कभी उठाया भी तो राजदण्ड और उच्च वर्ग के अत्याचारा ने दृढतापूर्वक दबा दिया है। सदियो के अत्याचार से वे मूक बन गये हैं। चुपचाप सहना सीख गये हैं। कर्मों के सुफल का इन्तजार है, इस जीवन में नही तो अगले जीवन में सही।

कर्म सिद्धात मानव को सबल बनाने, अपने प्रति जागरूक और सक्रिय बनाने के लिये था। कर्म का फल उसे ही मिलेगा जिसने कर्म किया है, परन्तु व्यवस्था ऐसी बना दी कि कर्म का फल बिचौलिये-श्रेष्ठ वर्ग-छीन ले गये। हल चलाया किसान ने और फल खाया जमींदार ने। यदि किसान ने आवाज उठाई तो पिटाई हो गई। तब कोई धार्मिक नही बोला। धार्मिको का लालन-पालन तो राजा ही करते थे। उनको भिक्षा तो श्रेष्ठ घरो से ही मिलती थी। उन्होने उस पिटे किसान को पुचकारा और मरहम पट्टी की और सलाह दी "अगले जीवन को सुधार"।

कर्म सिद्धात का सबध व्यक्तिगत जीवन से है समाज की सरचना से इसका सीधा सबध नही है। समाज मे भाईचारे, सहानुभूति और सहृदयता के नये सस्कार डालने होंगे। आज समाज में हृदयहीनता जगह-जगह देखी जाती है। यह सब मानव मूल्यो के खिलाफ है। लेकिन धन के नशे मे चूर और उनका यह गर्व कि यह धन उनके कर्मों का फल है और जो गरीब हैं वे गरीबी भोगने के लिये हैं, ये सस्कार हृदयहीनता के कारण हैं। कर्म-सिद्धांत की आड लेकर धनी वर्ग बहुत दिन सुखी नही रह सकता। समाज-सरचना की वजह से धन का योग है, यदि उन्होंने सहृदयता और सहानुभूति नही दर्शाई और गरीबी-अमीरी मे काफी अन्तर रहा तो वह दिन दूर नही जब विद्रोह की आग भड़केगी।

विद्रोह का आधार हिंसा है। अत उसका सुफल हो सिके, आवश्यक नही। परिवर्तन मे अहिंसा का आधार हो तो समाज में सरसता व सहृदयता बनी रह सकती है। विद्रोह के अनन्तर एक सबल वर्ग दूसरे वर्ग पर अधिकारूढ़ हो सकता है, परन्तु अहिंसात्मक परिवर्तन निर्देशित ढग से हो सकता है और उसमें शोषक और शोषित दोनों मुक्त होते हैं। अत समय रहते समाज की व्यवस्था मे निर्देशित परिवर्तन, शिक्षा और सस्कृति के माध्यम से हो तो न्याय-वादी और समतावादी समाज का आधार बनाया जा सकता है। गुमराह कर विषमताओ का पोषण अततोगत्वा खतरनाक साबित हो सकता है।

•□•

के कर्म का फल नहीं वरन् समाज-व्यवस्था का फल है। यदि समाज-व्यवस्था में यह नियम हो कि पिता की सम्पत्ति पुत्र को नही मिलेगी या कोई व्यक्ति निजी सम्पत्ति नही रख सकेगा तो क्या कोई गरीब घर और अमीर घर हो सकता है ? पिता का हक यदि पुत्र को मिलेगा ही नही तो पुत्र को नया प्रयत्न करना होगा और वह है उसके कर्म का फल।

परन्तु जब हम कर्म सिद्धात की आड लेते हैं तो व्यवस्था का पोषण करते हैं। पिता की सम्पत्ति पुत्र को मिले और वह उसका भोग करे, यह समाज व्यवस्था है न कि कर्म-व्यवस्था।

पूंजीवादी व्यवस्था में जिसके पास उत्पादन का साधन अर्थात् जमीन, सोना, पशु आदि कुछ है, वह आगे सवर्द्धन कर सकता है बशर्ते अपनी सम्पत्ति को सम्हाल कर रखे। परन्तु जिसके पास कोई सम्पत्ति नहीं है उसे जन्म भर मजदूरी के अलावा कोई राह नही है।

अक्सर कहा जाता है कि जो गरीब हैं वे वास्तव में मेहनत नहीं करते और गरीबी मे ही मस्त रहना चाहते हैं। लेकिन अध्ययन बताता है कि जो जितने गरीब हैं उतनी ही अधिक कडी मेहनत व लम्बे समय तक कार्य करते हैं। अच्छे पद या सम्पत्ति वाला व्यक्ति मेहनत का कार्य या लम्बे घंटों तक कार्य नही करते जबकि भूमिहीन मजदूर दिन भर कार्य करके भी रोटी खाने जितना नही कमा पाते। धन जोडने की बात तो बहुत दूर है।

धनवान के पुत्र को धनहीन कर गरीब के बराबर की स्थिति मे लाकर बराबर का मौका दिया जाय और फिर जो अच्छी स्थिति या कमजोर स्थिति में आवे तो वे उनके कर्म के फल हैं। परन्तु धनवान और गरीब की दौड तो बराबरी की दौड नहीं है। हम कई बार कहते हैं कि सबके लिये बराबर के अवसर हैं परन्तु यह भ्रम मात्र है। जो धनवान पुत्र है उसे पढ़ने का, पूंजी का, बचपन मे अच्छे लालन-पालन सबका लाभ मिला है जबकि गरीब का बचपन मे पूरा खाना व पहनने को भी नहीं मिलता। अत यह कहना कि गरीबी या अमीरी पूर्व कर्म का फल है, यह भ्रम है। यह वर्तमान व्यवस्था का ही फल है इसे समझना चाहिये।

बार-बार जब उपदेश देते हैं कि तुम गरीब हो, अछूत हो या नीच कुल के हो, क्योंकि तुमने पूर्व जन्म मे कर्म खराब किये हैं तो यह उनको गुमराह करना है। कर्म जीवन को सुधारने के लिये हैं। कर्म भुलावा देने के लिये नहीं है। यदि पूर्व कर्म से ही सब कुछ होता है और इस जीवन के कर्म का फल अभी नहीं मिलता है तो निष्कर्मण्यता को बढ़ावा मिलता है। फिर तो शांत होकर भोगना ही जीवन का उद्देश्य बनता है। यही कारण है कि भारत में इतनी गरीबी

ह परन्तु कही विद्रोह का काम नही । गरीबो को धार्मिकों ने काफी गहरी नींद सुला दिया है । यदि सिर कभी उठाया भी तो राजदण्ड और उच्च वर्ग के अत्याचारो ने दृढतापूर्वक दबा दिया है । सदियो के अत्याचार से वे मूक बन गये हैं । चुपचाप सहना सीख गये हैं । कर्मों के सुफल का इन्तजार ह, इस जीवन मे नहीं तो अगले जीवन मे सही ।

कर्म सिद्धात मानव को सबल बनाने, अपने प्रति जागरूक और सक्रिय बनाने के लिये था । कर्म का फल उसे ही मिलेगा जिसने कर्म किया है, परन्तु व्यवस्था ऐसी बना दी कि कर्म का फल बिचौलिये–श्रेष्ठ वर्ग–छीन ले गये । हल चलाया किसान ने और फल खाया जमीदार ने । यदि किसान ने आवाज उठाई तो पिटाई हो गई । तब कोई धार्मिक नही बोला । धार्मिको का लालन-पालन तो राजा ही करते थे । उनको भिक्षा तो श्रेष्ठ घरा से ही मिलती थी । उन्होने उस पिटे किसान का पुचकारा और मरहम पट्टी की और सलाह दी "अगले जीवन को सुधार" ।

कर्म सिद्धात का सबध व्यक्तिगत जीवन से है समाज की सरचना से इसका सीधा सबध नही है । समाज मे भाईचारे, सहानुभूति और सहृदयता के नये सस्कार डालने होंगे । आज समाज मे हृदयहीनता जगह-जगह देखी जाती है । यह सब मानव मूल्यो के खिलाफ है । लेकिन धन के नशे मे चूर और उनको यह गर्व कि यह धन उनके कर्मों का फल है और जो गरीब हैं वे गरीबी भोगने के लिये हैं, ये सस्कार हृदयहीनता के कारण हैं । कर्म सिद्धांत की आड लेकर धनी वर्ग बहुत दिन सुखी नही रह सकता । समाज-सरचना की वजह से धन का योग है, यदि उन्होने सहृदयता और सहानुभूति नही दर्शाई और गरीबी-अमीरी मे काफी अन्तर रहा तो वह दिन दूर नही जब विद्रोह की आग भड़केगी ।

विद्रोह का आधार हिंसा है । अत उसका सुफल हो मिले, आवश्यक नही । परिवर्तन मे अहिंसा का आधार हो तो समाज मे सरसता व सहृदयता बनी रह सकती है । विद्रोह के अनन्तर एक सबल वर्ग दूसरे वर्ग पर सत्तारूढ हो सकता है, परन्तु अहिंसात्मक परिवर्तन निर्देशित ढग से हो सकता है और उसमे शोषक और शोषित दोनो मुक्त होते हैं । अत समय रहते समाज की व्यवस्था म निर्देशित परिवर्तन, शिक्षा और सस्कृति के माध्यम से हो तो न्याय वादी और समतावादी समाज का आधार बनाया जा सकता ह । गुमराह कर विषमताओ का पोषण अन्ततोगत्वा सत्यानाश साबित हो सकता ह ।

•□•

४५ "जैसी करनी वैसी भरनी" पर एक टिप्पणी

☐ डॉ राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

हम सभी सुनते आये हैं कि जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायगा। 'जसी करनी वैसी भरनी'। परन्तु हम में से बहुतो का यह अनुभव भी है, कि व्यवहार मे इस मान्यता के उल्लघन ही अधिक मिलते हैं। यदि अनुभव स इस मान्यता की पुष्टि नहीं होती तो इस क्यो सही समझा जाय ? एक उत्तर यह हो सकता है कि यह मान्यता एक ऐसी दण्ड व्यवस्था की सूचक है, जो तब भी सक्रिय रहती है, जब मानवीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, और परिणाम स्वरूप सन्मार्ग मे प्रवृत्ति के लिए इसमे विश्वास सहायक है। परन्तु पुन शका होती है कि यदि ऐसी कोई दण्ड व्यवस्था है तो उसकी पुष्टि किस प्रकार होती है ? मानवीय व्यवस्था के छिन्न भिन्न होने पर 'त्राहि माम्, त्राहि माम्' तो सर्वत्र सुनाई पडता है, परन्तु उस पुकार को कोई सुनता है, यह कैसे निश्चय हो, जबकि अनुभव इसके विपरीत है। पुराण तथा साहित्य के क्षेत्र से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे कर्म फल की सगति की युक्ति का औचित्य सिद्ध हो। परन्तु ऐसे सभी उदाहरणो के विषय मे, विवाद की स्थिति (ऐतिहासिकता की दृष्टि स) होने से, इतना ही कहा जा सकता है कि यह मान्यता मानवीय इच्छा की द्योतक है, हम चाहते हैं, कि ऐसा हो, पर ऐसा होगा, इसकी कोई गारन्टी नही। और यदि किन्ही अवसरो पर ऐसी सगति मिल भी जाय तब भी यह सिद्ध नही होगा कि यह सगति अनिवार्य है। इसकी अनिवार्यता केवल तभी सिद्ध मानी जा सकती है जब उसका अपवाद असम्भव हो।

दूसरी ओर इस उक्ति की विलक्षणता यह है कि विपरीत अनुभव होने पर भी बुद्धि को यह बात युक्तियुक्त लगती है, कि जो जसा करगा वह वसा फल पायेगा। ऐसा क्यो ? इस सम्बन्ध मे दो भिन्न प्रकार की बातो की ओर ध्यान जाता है। प्रथम तो कार्यकारण का सिद्धान्त, दूसरे कर्ता के सन्दर्भ मे उस का जीवनवृत्त। यह बुद्धि की एक माग है कि यदि घटनाए बुद्धिग्राह्य हैं तो उनमें कार्यकारण सम्बन्ध प्राप्त होना चाहिए। यदि ऐसे संसार की कल्पना करें जिसमे कुछ भी सम्भव हो, किसी घटना के बाद कोई भी घटना हो जाना हो, तो वहाँ बुद्धि की कोई गति नहीं हो सकती—ऐसे ससार के विषय म किसी भी घटना के बारे म कोई युक्तियुक्त बात नही कही जा सकती। भविष्य के विषय म हमारी अपेक्षाएँ पहले तो हो ही नहीं सकतीं, और यदि हम किसी प्रकार

कल्पना कर भी लें, तो उसकी सभाव्यता के बारे में कोई निश्चय सम्भव नही होगा। इसके विपरीत मानवीय व्यवहार बडी सीमा मे इस अपेक्षा पर निर्भर है कि घटनाओ मे कोई परस्पर सम्बन्ध होता है इस सम्बन्ध को कार्यकारण के रूप मे जाना जा सकता है, तथा इस प्रकार के ज्ञान के आधार पर ही कर्म की सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है। अन्य शब्दो मे, व्यवस्था एव सगठन की अवधारणा ज्ञान तथा कर्म के लिए समान रूप मे महत्त्वपूर्ण हैं।

कुछ दार्शनिको ने इस सम्बन्ध मे यह शका उठाई है कि कार्यकारण की अनिवार्यता का कोई बौद्धिक एव आनुभाविक आधार नही है। घटनाओ के किसी क्रम विशेष को अनेक बार देखने पर एक घटना से दूसरी घटना की ओर हमारा ध्यान सहसा ही चला जाता है, और हम मान बैठते हैं कि एक दूसरे का कारण है। स्कॉटलण्ड के दार्शनिक ह्यूम का यह मत दार्शनिको के लिए भारी चुनौती रहा है। इस मत को यदि मान भी लें, तब भी इस बात पर कोई प्रभाव नही पडता कि विषय ग्रहण के लिए बुद्धि की किंचित मात्रा की पूर्ति आवश्यक है। इस बहस मे जाये बिना तथा कम से कम इतना स्वीकार कर लेने पर कि घटनाओ मे किसी प्रकार का क्रम देखना सम्भव है, उसका आधार चाहे कुछ भी हो, कर्म के विषय मे भी यह अपेक्षा होती है कि कोई भी कर्म परिणाम स्वरूप किसी स्थिति विशेष मे परिसमाप्त होता है। इस परिणाम तथा कर्म की ठोस प्रक्रिया मे कोई सम्बन्ध होता है। यह उपयुक्त सम्बन्ध होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस ढाचे मे हम कर्म तथा परिणाम को दो अलग अलग स्थितियां—कारण तथा कार्य के रूप मे देख रहे हैं।

यहा एक कठिनाई उपस्थित होती है और वह कर्म के जीवनवृत्त को दूसरे रूप मे देखने के लिए बाध्य करती है। परिणाम को कर्म से अलग देखने से क्या तात्पर्य है? हमने कहा कि परिणाम वह स्थिति है जिसमे कर्म की परिसमाप्ति होती है। तो क्या यह कहना अधिक सगत नही होगा कि परिसमाप्ति तक जो कुछ होता है, वह सब कर्म है? किसी व्यक्ति का इच्छा करना, मनन करना, विषय अथवा स्थिति विशेष (लक्ष्य) के प्राप्ति के निमित्त उद्यम करना, लक्ष्य को प्राप्त करना—ये सभी अवस्थाएँ कर्म के जीवन वृत्त की विभिन्न अवस्थाएं हैं, और इनमे अन्तिम स्थिति कर्म के परिणाम की स्थिति है। इस अवस्था मे कर्म तथा परिणाम का भेद वस्तुत कर्म के अन्तर्गत ही पड़ेगा—कदाचित 'कर्म' के स्थान पर केवल प्रक्रिया कहना अधिक उचित होगा—प्रक्रिया तथा परिणाम कर्म के दो अग होंगे जिनमे कारण और कार्य का सम्बन्ध माना जा सकेगा। और फिर कारण तथा कार्य की सगति के सन्दर्भ मे प्रक्रिया तथा परिणाम की सगति की चर्चा करना कदाचित् अधिक युक्तिसगत होगा।

यही प्रबुद्ध पाठक यह आपत्ति उठायेंगे कि कर्म फल की सगति, प्रक्रिया और परिणाम की सगति की बात नही है। इस आपत्ति का समाधान के लिए

व्यक्ति को एक समर्थ कर्त्ता का दर्जा देते हैं, और यह मान कर चलते हैं कि वह चाहता तो जो उसने किया वह, वह नही भी कर सकता था, वस्तुत उसे वह नही करना चाहिए था, उसे वैसा नही चाहना चाहिए था। हम मान लेते हैं कि जो उसने किया उसका आरम्भ एक निश्चित इच्छा अथवा प्रेरणा थी, उसके परे सोचने की कोई आवश्यकता नही है। और इतना उसके कर्तृत्व को निश्चित करने के लिए पर्याप्त है, और निश्चित नियमो के आधारो पर हम व्यक्ति का उसके किए लिए उपयुक्त दण्ड का विधान करते हैं।

दूसरी ओर जब हम कर्म को 'समझना' चाहते हैं जब सम्बन्धित कर्मफल की सगति के अपवाद सामने आते हैं, तब हम वैयक्तिक प्रणाली को छोड़कर समष्टिमूलक प्रणाली को अपनाते हैं। कर्म को समझने के लिए हम स्वभाव, आदत, तात्कालिक परिस्थिति, व्यक्ति का सास्कृतिक परिवेश तथा अनेक दूसरे पहलुओं पर सोचते हैं, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है। हमें यह युक्तियुक्त नही लगता कि जो न किया हो उसका हमे फल मिले तथा जो किया हो उसका फल नही मिले। परिणामस्वरूप हमने जन्म जन्मान्तर की कल्पना की, अदृष्ट तथा अपूर्व की कल्पना की। हमे लगा कि किसी व्यवस्था के बिना तो जीवन की कल्पना ही सम्भव नही है, वह व्यवस्था मूलत न्याय, औचित्य, धर्म की रक्षा करती है। मानव स्वय, (अपनी परिसीमा के कारण) किसी व्यवस्था को स्थापित करने, तथा उसकी रक्षा करने मे असमर्थ रहते हैं तो यह मूल व्यवस्था सक्रिय होती है तथा दैवी दण्ड विधान समाज की स्थिति तथा स्थिरता की रक्षा करता है। परन्तु यहा फिर एक और दिलचस्प बिन्दु की ओर ध्यान जाता है। मानवो के समाज में जो अव्यवस्था है, कर्मफल की जहा असगति है, वहाँ वस्तुत दैवी विधान ही सक्रिय है। हमे असगति इसलिए दिखलाई पड़ती है कि हम पूरी शृ खला को नही देख पाते, जो पूरी शृ खला को देख सकता, जो जन्म-जन्मान्तरो मे फले जीवन का सारा गणित कर सकता, वह यह देख लेता कि मूलत व्यक्ति ही अपने सारे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के लिए उत्तरदायी है। एक जन्म मे जो असगत लगता है एक से अधिक जन्मो को देखने पर सगति की अदृष्ट कड़ियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

परन्तु बहुत लोग जन्म-जन्मान्तर तथा अदृष्ट को बीच मे लाना पसन्द नही करेंगे। शायद वे कहे कि मानवीय सम्बन्धो मे, मानव के क्रिया कलाप तथा उसके परिणामो के बीच किसी सगति को न तो पाया जा सकता है, और न स्थापित किया जा सकता है। फलत कर्मफल का असगति कोई समस्या नहीं है परन्तु ऐसी अवस्था में कोई भी समस्या नही होगी। परन्तु समस्याएँ हो ... अत इस दृष्टि को छोड़ना होगा। तब उस अवस्था में कर्मफल की असगति को कैसे समझा जाय? 'क' की पत्नी तथा बच्चे हत्या के लिए उत्तरदायी नही है तो वे उसका दण्ड क्या भोगें? शायद यहाँ कहा जाय कि यदि मैं पत्नी और

बच्चे नही होते तो उन्हे दण्ड नही भोगना पडता परन्तु उनका पत्नी तथा बच्चे होना क्या उनके अपने सकल्प का परिणाम है ? शायद पत्नी के लिए यह कहा जा सकता हो, क्या बच्चो के लिए भी यह कहा जा सकता है ? शायद यहा यह कहा जाय कि जिस समाज मे 'क' सदस्य था उसकी सरचना मे ही ये सम्बन्ध अतर्निहित हैं, तथा इन सम्बन्धो का एक विशेष प्रकार का होना, समाज के सदस्यो के लिए विशिष्ट प्रकार के परिणाम लाता है। यदि ऐसे समाज की कल्पना करें जिसमे 'क' को कारावास मिलने पर पत्नी तथा बच्चो की देखभाल समाज के अन्य सदस्यो पर, अथवा व्यवस्था पर आश्रित होती, तो वहा, स्पष्टतया इनके लिए भिन्न परिणाम होते। परन्तु हमारे समाज मे, अथवा ऐसे ही किसी समाज मे, जहा 'क' के किए फल अन्यो को भी भुगतना पडता है, वहा शायद मान्यता यह है कि बीवी बच्चो का मोह 'क' को उस अविवेकपूर्ण कृत्य से बचा लेता। दूसरो को इससे सबक लेना चाहिए, और यदि उन्हे अपने बीवी बच्चो से मोह है, तो उन्हे ऐसे अविवेकपूर्ण कृत्यो से बचना चाहिए। अन्य शब्दो मे यद्यपि बीवी बच्चो ने ऐसा कुछ नही किया जो उन्हें 'क' के किए का फल भुगतना पडे, उनका एक विशेष सामाजिक सरचना का अग होना ही उनकी विपत्ति का कारण है। जिस प्रकार दैवी अथवा प्रच्छन्न व्यवस्था को न जानने पर कर्मफल की सगति हमे अप्राप्य होती है, उसी प्रकार समाज की सरचना को न समझने के कारण हम उसे नही देख पाते, दोनो ही अवस्थाओ मे कर्म तथा फल का कोई सीधा सम्बन्ध हो, अथवा वे किसी एक सरल शृखला का अग हों, यह आवश्यक नही है। हमने यह देखा कि समाज की ऐसी सरचना की कल्पना सम्भव है जिसमे यह सम्बन्ध अधिक निकट का हो। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य है कि जिन विचारको ने न्याय तथा दण्ड की उस व्यवस्था की कल्पना की है जिसमे अपराधी का बहिष्कार नही किया जाता, अपितु उसके साथ लगभग उसी प्रकार का व्यवहार होता है जसा रुग्ण व्यक्तियो के साथ। वे वस्तुत ऐसी सामाजिक सरचना को प्रस्तुत करते हैं जिसमे कर्मफल की सगति अधिक सगत रूप मे प्राप्त होती है।

इस विवेचन मे जिन दो दृष्टियो की बात की गई है, वे महाभारत के मनीषियो के लिए अलग-अलग नही थी। शान्तिपर्व मे इस बात पर बडा बल दिया गया है कि राजा तथा राज्य इतने घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध होते हैं कि सारी सामाजिक व्यवस्था इस सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब है। राजा के दण्डधारण के अभाव मे न केवल सारी व्यवस्था ही छिन्न भिन्न हो जाती है अपितु प्राकृतिक घटनाए भी अनियमित हो जाती हैं। वर्षा, ऋतुए मानव जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। जीवन कल्याणमय हो तथा समृद्ध दिशा मे विकास करे, ऋतुओ का सहयोग अथवा उनकी अनुकूलता भी आवश्यक है। ऐसा लगता है कि समस्त चराचर जगत् की एक अखण्ड कल्पना तथा उसके आधार पर एक [illegible]

व्यवस्था मानवीय समाज एव व्यापार की समझ में आधारभूत स्थान रखती है। राजा का कर्त्तव्य न केवल दण्ड नीति द्वारा दुष्टो को दण्ड देकर मर्यादा स्थापित करना, अपितु सभी वर्णों के त्रिवर्ग की रक्षा करना भी था। पूर्वाग्रह यह लगती है कि सभी सदस्य अपना-अपना कर्त्तव्य शास्त्रविहित रूप में नहीं निभायेंगे, तथा एक दूसरे के धर्म क्षेत्रो में हस्तक्षेप करेंगे तो ऐसी अव्यवस्था जन्म लेगी जिसमें कोई व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि नहीं कर सकेगा। व्यक्ति का कल्याण तथा एक निश्चित सामाजिक सरचना परस्पर इतने घनिष्ठ रूप में सम्बधित हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती। पृथ्वी पर राजा तथा परलोक में देवता इस सरचना की रक्षा करते हैं।

यह कल्पना बडी मोहक है, परन्तु फिर यही प्रश्न उठता है कि किसी भी समय समाज में विघटन आरम्भ ही कैसे हुआ ? यहाँ महाभारत का सन्दर्भ दकर हमारा उद्देश्य महाभारत के मनीषियो के विचारो की मीमासा नहीं है अपितु केवल इस ओर ध्यान आकर्षित करना है कि कर्मफल की सगति का प्रश्न सामाजिक सरचना के प्रश्न से जुडा हुआ है।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि कर्मफल की सगति के विषय में हमें असन्तोष इसलिए होता है कि हम प्रथम तो कर्म को एक ऐसी सरल शृंखला के रूप में देखते हैं जो एक निश्चित आदि तथा अन्त रखती है दूसरे इस शृंखला को हम एक अन्य शृंखला अर्थात् कारण-कार्य की शृंखला के उदाहरण के रूप में ले लेते हैं जहाँ हम दो घटनाओ में सीधे एक निश्चित संबंध मान बैठते हैं। दोनो ही अपेक्षाए अनुचित हैं। कार्य तथा फल एक ही चीज नहीं है, दूसरे कर्म की आवश्यकता तथा पर्याप्ति अवस्थाएँ हमें कर्म को एक जटिल व्यवस्था के अग के रूप में देखने के लिए बाध्य करती हैं। □

जिस कार्य का सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके बिना किये किसी प्रकार न रह सकें, जिसके सम्पादन के साधन उपलब्ध हों, जिससे किसी का अहित न हो, ऐसे सभी कार्य आवश्यक कार्य हैं। आवश्यक कार्य को पूरा न करने से और अनावश्यक कार्य का त्याग न करने से कर्ता उद्देश्य पूर्ति में सफल नहीं होता। अत मानव मात्र को अनावश्यक कार्य का त्याग और आवश्यक कार्य का सम्पादन करना अनिवार्य है।

---

४६ कर्म सिद्धान्त : एक टिप्पणी

□ डॉ० शान्ता महतानी

प्राय यह कहा जाता है कि अच्छे कम का फल अच्छा होता है और बुरे कम का फल बुरा। यहा प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'अच्छा' क्या है और 'बुरा' क्या है ? इन पदो को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है क्योकि 'अच्छा' और 'बुरा' इन पदो को परिभाषित करते समय हम उन्हें कुछ परिस्थितियो या वस्तुओ या मानसिक अवस्थाओ से जोडते हैं। इतना ही नही कुछ व्यक्तियो के लिये एक ही परिस्थिति अच्छी हो सकती है तो अन्यो के लिये बुरी। न केवल यही बल्कि यह भी सही है कि परिस्थिति जो एक समय विशेष में अच्छी कही गयी, वही अन्य समय मे बुरी कही जाती है। इसी प्रकार जब हम ससार मे देखते हैं तो पाते हैं कि कुछ व्यक्ति दुराचारी और बेईमान होते हुए भी सुखी जीवन बिताते हैं तो दूसरी ओर सदाचारी और ईमानदार व्यक्ति दुखी देखे जाते हैं। जब इन विसगतियो के बारे मे प्रश्न उठाया जाता है तो उनकी यह कहकर व्याख्या की जाती है कि ये अपने पिछले जन्मो का फल भोग रहे हैं और इस जीवन मे जो कम कर रहे हैं, उनका फल अगले जीवन मे भोगेंगे।

'कर्म' पद की व्याख्या के लिये इस शब्द के अन्य प्रयोगो पर विचार कीजिये। उदाहरण के रूप मे इस कथन को लें— करम गति टारे नाहिं टरे'। इस कथन मे प्रयुक्त 'कम' पद पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि यहा 'कम' पद का वह अथ नही है जो ऊपर के उदाहरण से लक्षित होता है। यहाँ 'भाग्य' के अर्थ म 'कम' पद को समझा जा रहा है। लेकिन भाग्य भी तो कम के अनुसार निर्धारित होना है।

एक और अन्य अथ पर विचार कीजिये। वह अपने कर्मों का फल भोग रहा है।' इस कथन म व्यक्ति के इसी जीवन मे कर्मों के आधार पर प्राप्त फलों की बात कही जा रही है। उदाहरण के रूप मे कोई गरीब लडका मेहनत-मजदूरी करके शिक्षा प्राप्त करता है और अपनी योग्यता के आधार पर अच्छी नौकरी पा जाता है तो हम कहते हैं यह उसके कर्मों का फल है। इसी प्रकार अगर कोई व्यक्ति निरन्तर शराब पीने के कारण अपना स्वास्थ्य खराब कर लेता है तो भी हम इसी प्रकार की बात कहते हैं।

उपयु क्त सभी उदाहरणो म कम के द्वारा कुछ व्यापारो का व्याख्या

की जा रही है और 'कर्म' पद का प्रयोग विभिन्न अर्थों मे किया जा रहा है। अतः कर्म के स्वरूप और उससे सम्बन्धित कुछ प्रश्नो की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करना वाछनीय है।

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिक तन्त्र किसी न किसी रूप मे कर्म के प्रत्यय को स्वीकार करते हैं। कर्म को बन्धन के कारण के रूप मे एव मुक्ति के साधन के रूप मे व्याख्यायित किया गया है। कर्म के बारे में विभिन्न मान्यताएँ हैं जिनके आधार पर कर्म के कारण और साधन रूप पर प्रकाश पड़ता है। एक मान्यता है कि प्रत्येक कर्म का कोई न कोई परिणाम अवश्य होता है (या होना चाहिये)। इस मान्यता (या वास्तविकता ?) का आधार है कारण और कार्य नियम की सार्वभौमिकता। दूसरे शब्दों मे, कारण और कार्य मे सार्वभौमिक सम्बन्ध है। इसी कारण और कार्य के नियम के आधार पर कर्म और फल के बीच सम्बन्ध की व्याख्या की जाती है। और कहा जाता है कि अगर हम इस नियम कि 'कर्म होगा तो फल अवश्य मिलेगा' को स्वीकार नही करेंगे तो कारण कार्य नियम की सार्वभौमिकता को भी अस्वीकार करना पडेगा। अगर हम थोडा विचार करें तो ज्ञात होगा कि कर्मवादी मात्र इतना ही नही कह रहा है कि कारण और कार्य के बीच का सम्बन्ध भौतिक घटनाओं की व्याख्या तक सीमित है वरन् वह इस नियम को नैतिक घटनाओं की व्याख्या के लिये भी कह रहा है। ऐसा करते समय उसका यह दावा है कि कर्म का जैसे प्राकृतिक परिणाम होता है, उसी प्रकार नैतिक परिणाम भी होता है। देखा जाय तो कर्मवादी की रुचि इसी मे ही होती है। कर्म चाहे व्यक्तिगत रूप से किया जाय या सामूहिक रूप से, उसका नैतिक परिणाम अवश्य होता है। इसीलिए कर्मवादी कहता है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे का बुरा परिणाम होता है।

कर्म के नैतिक परिणाम के बारे मे सभी कर्मवादी एक मत नहीं हैं। नैतिक परिणाम मानने वाले विचारक यह मानते हैं कि कर्म से एक शक्ति उत्पन्न होती है जो जीव मे सुरक्षित रहती है और बाद मे नैतिक परिणाम उत्पन्न करती है। ये विचारक किसी व्यक्ति के हैजे से मरने या पेड़ से गिरकर हड्डी के टूटने जैसी घटनाओं की व्याख्या भी व्यक्ति द्वारा पिछले जन्म में किये गये अशुभ कर्मों के आधार पर करते हैं। इस दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि कर्मवादी न तो कर्म के प्राकृतिक कारणों मे रुचि रखता है और न प्राकृतिक परिणाम में। उसके अनुसार किसी घटना का प्राकृतिक कारण वास्तविक कारण नहीं होता, वास्तविक कारण होता है पिछले कर्म से उत्पन्न शक्ति जो जीव मे परिणाम उत्पत्ति तक रहती है। प्राकृतिक कारण उसके लिए गौण होते हैं। उदाहरण के रूप में हैजे से मरना या पेड़ से गिरकर मरना पिछले कर्म (उसके द्वारा किसी व्यक्ति की हत्या) का परिणाम कहा जायेगा।

'कम की शक्ति' के स्वरूप के बारे में तथा उसके निर्देशन के बार मे विभिन्न भारतीय दाशनिक तत्रो के मत अलग अलग हैं जिनकी सक्षप मे चर्चा करना सम्भव नही। यहा केवल दो विवादास्पद बिन्दुओ, जिन पर चर्चा की जानी चाहिये, को इगित किया जाता है—(१) क्या चेतन सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थात् कम मे शक्ति रह सकती है ? तथा (२) क्या नैतिक मूल्यो और प्राकृतिक गुणो को समान स्तर का माना जा सकता है ? इन प्रश्नो को उठाने का आधार यह है कि 'होना चाहिये' और 'है' दो अलग-अलग कोटिया हैं। एक को दूसरे मे घटित करने मे तार्किक कठिनाई उत्पन्न होती है।

कुछ दशन-सम्प्रदाय कम सिद्धान्त के साथ ईश्वर के प्रत्यय को भी जोडते हैं। इन दाशनिको का मत है कि ईश्वर कुछ भी कर सकता है क्योंकि वह सवज्ञ है और सवशक्तिशाली है। लेकिन क्या उचित और अनुचित, शुभ और अशुभ, अच्छा या बुरा क्या है, इसे भी ईश्वर तय करता है ? लेकिन हम देखते हैं नैतिक नियम सावभौमिक नही होते और चू कि नैतिक नियम प्राकृतिक नियम जैसे नही हैं अत ईश्वर के नियमो के ज्ञान की सम्भावना सदेहास्पद है। इन आलोचनाओ से बचने का एक ही माग है और यह है कि ईश्वर को नैतिक नियमो का स्रोत न मानकर मानव या मानव-समाज को ही नैतिकता का स्रोत माना जाय।

कर्म से सम्बन्धित उपयुक्त विश्लेपण से यह निष्कष निकलता है कि कमवाद की एक मान्यता तो यह है कि प्रत्येक कम का उसके अनुसार फल मिलता है, दूसरी मान्यता है कि पुनजन्म होता है और तीसरी मान्यता (कुछ दशनों के अनुसार) यह है कि ईश्वर की सत्ता है और वह इन सबका नियमण करता है।

लेकिन इसके साथ साथ हमने यह भी देखा है कि ऐसा मानने पर कुछ वचारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए एक सुझाव प्रस्तुत किया कि अगर नैतिक विधान को मानवीय विधान मान लिया जाय तो ये कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं। इस प्रकार की विचारधारा के पक्ष मे हमें बहुत से तक मिल सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कम के बारे में जानता है, अत वह अपने कम के लिए उत्तरदायी भी है। अत उसे कर्मों के लिए पुरस्कार और दण्ड दिया जा सकता है। लेकिन इस मत के विरुद्ध भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित की जा सकती हैं क्योंकि विभिन्न कालों और समाजो में नैतिकता के स्तर या अच्छे और बुरे की परिभाषा भिन्न भिन्न रही है, अत हम कोई सावकालिक और सावभौमिक नियम नहीं बना पायेंगे। नैतिक नियम निरपवाद एव निरपेक्ष होना चाहिए। □

सेवा आत्मा का विस्तार

☐ डॉ० नरेन्द्र भानावत

जग मे हैं जितने भी प्राणी,
उन सबके मन और भाव है।
जैसा मैं सुख दुख अनुभवता,
वैसा ही उनका स्वभाव है।

उनके सुख-दुख में सहभागी
बनकर करूँ सभी को प्यार।
सेवा आत्मा का विस्तार ॥१॥

भूखो को भोजन नसीब हो,
तृषितजनों को निर्मल पानी।
रोगी को औषध मिल जाये,
भीतजनो को निर्भय वाणी ॥

जो जडता मे मूर्च्छित-चर्चित,
खोलूँ उनके चेतन द्वार।
सेवा आत्मा का विस्तार ॥२॥

सेवा सौदा नही, हृदय का
सहज उमडता अमित स्नेह है।
जो इसमें रमता उसके हित,
सारी वसुधा परम गेह है ॥

सेवा का सुख शाश्वत, स्वाश्रित,
उसमे किंचित् नहीं विकार।
सेवा आत्मा का विस्तार ॥३॥

सेवा से सब मल गल जाते,
नयी शक्ति नव तेज निखरता।
आत्म-गुणों का सिंचन होता,
दुख दर्दों का जाल बिखरता ॥

सेवा से बनते परमातम,
दुर्लभ नर जीवन का सार।
सेवा आत्मा का विस्तार ॥४॥

☐ ☐ ☐

तृतीय खण्ड

●

कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान

४७ कर्म और आधुनिक विज्ञान

□ आचार्य अनन्तप्रसाद जैन

'कर्म' का जो रूप और आत्मा के साथ सम्बन्ध के प्रारूप जो जैन सिद्धान्त ने स्थापित किए हैं, वे अत्यन्त आधुनिक विज्ञानमय हैं। जैन कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान में कोई विभेद नहीं है—सिवा इसके कि एक जीव-आत्मा-शरीर धारी से सम्बन्धित है तो दूसरा प्रायोगिक, रासायनिक और भौतिक प्रभावों के समीकरणों से संयुक्त है। आधुनिक विज्ञान ने जीव-जीवन और आत्मा सम्बन्धित रिसर्च (अनुसंधान) तो बहुत किया और कर रहा है पर अभी तक किसी विशेष नतीजे पर नहीं पहुँच पाया है। जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले, तपस्या (गंभीर चिन्तन) द्वारा जीवन के विषय में जो उपलब्धियाँ प्राप्त कीं वे वैज्ञानिक तथ्यों और प्रयोगों द्वारा अकाट्य एवं पूर्णतः समर्थित पाई जाती हैं। यदि वैज्ञानिकों ने थोड़ा भी जैन कर्म सिद्धान्त का अध्ययन किया होता या करते तो एक महान् सफलता की उपलब्धि उनके खोजों और अनुसंधान (रिसर्च) में हुई होती परन्तु अफसोस यही है कि वैज्ञानिक धर्म सिद्धान्त को बकवास मानते हैं और धर्माधिकारी लोग विज्ञान को धर्मद्वेषी। यदि दोनों मिलकर काम करें तो संसार की कितनी ही विसंगतियों और समस्याओं को सुलझाने में कठिनाई नहीं रह जाय। विशेषकर जैन कर्म सिद्धान्त तो परम वैज्ञानिक है। इस ओर आधुनिक वैज्ञानिकों तथा विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ ऐसे साहित्य के सृजन की परम आवश्यकता है जिससे ऐसे लोगों में इस विषय में दिलचस्पी उत्पन्न हो सके।

विज्ञान का इलेक्ट्रन, प्रोटन, न्यूट्रन, पोजीट्रन आदि हमारे जैन कर्म सिद्धान्त के "पुद्गल परम परमाणु" ही हैं। तीर्थंकरों ने इन्हें जीव-जीवन और आत्मा से संबंधित प्रभावों को व्यक्त किया। वे तो मानव की चेष्टा, उसके दुःखों का निवारण, शाश्वत आनंद और मोक्ष प्राप्ति की दिशा में ही मानसिक अनुसंधान (तपस्या या गंभीर चिंतन) द्वारा उपलब्ध तथ्यों को प्रकाश में लाने में लग रहे। उन्होंने भौतिक या सांसारिक सभी सुख दुःख समय पाकर त्याग करने का ही उपदेश दिया। भौतिक संसार विज्ञान में इतना अधिक उन्नति कर गया है—पर क्या सभी सुखी हो सके हैं? भौतिक समृद्धियाँ और जीवन के साधन काफी बढ़ गए हैं। फिर भी मानव असंतुष्ट और दुःखी ही पाया जाता है। भोग विलास से क्षणिक सुख ही होता है। शाश्वत सुख तो तीर्थंकरों के बतलाए मार्ग

पर चलकर ही मिल सकता है। तीर्थंकरो ने भी साधारण मानव की भांति जन्म लिया और अपनी साधना और सम्यक् चिंतन और आचरण द्वारा महात्मा —भगवान बन गए।

विज्ञान तो आजकल महानाश—प्रलय का अग्रदूत बन गया है। विकसित कुछ बड़े देशो ने ऐसे अस्त्रशस्त्रो का निर्माण कर लिया है और करते जा रहे हैं जिनसे ससार या पृथ्वी टुकडे टुकडे होकर समाप्त की जा सकती हैं। सब तीर्थंकरो का कर्म-सिद्धात इसके ठीक विपरीत देश और ससार में तथा किसी भी समाज मे सुख शान्ति की स्थायी स्थापना कर सकता है।

जैन कर्म सिद्धान्त की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं—जिनमे मुख्य है आत्मा और पुद्गल के सम्बन्ध की विशद, विश्विवस्त, पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या। सभी जीवधारियो के साथ अनादिकालीन रूप से आत्मा के साथ पुद्गल (मटर) निर्मित शरीर है। शरीर हलन-चलन काय या कर्म का माध्यम है और आत्मा चेतना, ज्ञान और अनुभूति का माध्यम। बिना आत्मा के सभी पुद्गल शरीर निष्क्रिय और बेजान जड हैं। किसी शरीर में जब तक आत्मा विद्यमान रहता है वह शरीर कम करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे बिजली की हर प्रकार की मशीनें। बिजली की मशीन या तंत्र तरह-तरह के विभिन्न बनावटोवाले होते हैं पर बिना बिजली के कुछ भी काम नही कर सकते। उसी प्रकार सभी प्राणियों और जीवधारियो के शरीरो का निर्माण—बनावट भिन्न भिन्न होती है—पर वे सभी अपने शरीरो मे आत्मा रहने पर ही काम करते हैं। आत्मा के नहीं रहने पर वे मुर्दा—निष्क्रिय होते हैं। आत्मा सभी मे समान है पर बनावट विभिन्न होने से उनके काय अलग अलग होते हैं जैसे बिजली के यन्त्रा म।

जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार किसी जीवधारी में स्थूल शरीर के अतिरिक्त "कार्मण शरीर" और "तैजस" शरीर भी होता है। इन दोनों को हम नहीं देख सकते। इनके निर्माण करने वाले पुद्गल परमाणु और उनके सघ इतने सूक्ष्म होते हैं कि देखना समव नहीं होता। इनमे कार्मण शरीर सबसे प्रमुख है। यही मानव या किसी भी जीवधारी के कायकलापो का प्रेरक नियन्ता या कर्तावर्ता है। हमारा शरीर अनेकानेक रासायनिक द्रव्यो के सम्मिलन से बना हुआ है। ये रासायनिक पदार्थ, सभी के सभी, पुद्गल निर्मित होते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक विज्ञान के इलेक्ट्रन, प्रोटन, न्यूट्रन, पोजीट्रन आदि जैन सिद्धान्त मे वर्णित "पुद्गल" हैं। चूंकि "एटम" को हिन्दी मे परमाणु की सज्ञा दी गई है—इसलिए इलेक्ट्रन आदि को मैंने "परम परमाणु" कहा है। ये ही परम परमाणु "पुद्गल" हैं। पुद्गल परम परमाणु ही आपस में मिल मिलकर परमाणु (एटम) बनाते हैं और ये एटम (पुद्गल परमाणु) मिलकर अणु (मोलीक्यूल) बनाते हैं। जिनमे मिलने सम्बन्धक होने से,

ठोस, तरल और गैस बनते हैं। शरीर के भीतर अनेकानेक प्रकार के ये पुद्गल पिण्ड या रासायनिक सगठन हैं। इनमे सवदा कुछ न कुछ परिवतन होता रहता है। सारा वायुमडल पुद्गल परमाणुओ से भरा हुआ है। विश्व की हरएक वस्तु, हरएक अणु-परमाणु सवदा कपन-प्रकपन युक्त हैं—जिससे हरएक वस्तु से पुद्गलो का अजस्र प्रवाह होता रहता है।

हम भोजन, पान करते हैं जिनसे भीतर रासायनिक प्रक्रियाएँ होती रहती हैं और शरीर के भीतर हर समय नए पुद्गल पिण्ड बनते रहते हैं और पुरानो में कुछ परिवतन होता रहता है। इन्ही पुद्गल पिण्डो के बीज रूप पुद्गल परमाणुओ से कामण शरीर का निर्माण होने से उसमे भी परिवर्तन होते रहते हैं। बाहर से अनतानत पुद्गल परमाणु विभिन्न सगठनो मे आते रहते हैं और भीतर से निकलते रहते हैं। और आपसी क्रिया प्रक्रिया द्वारा आंतरिक पुदगल-पिण्डो में अथवा रासायनिक सगठनो में परिवतन होते रहते हैं। कुछ क्षणिक, कुछ अधिक समय तक रहने वाले कुछ काफी स्थायी प्रकार के नए-पुराने सगठन बनते बिगडते रहते हैं। जो पुद्गल परमाणु शरीर के अतगत पुद्गल पिण्डो से मिलकर—सघबद्ध होकर या रासायनिक क्रिया द्वारा स्थायी परिवतन कर देते हैं उन्हें जन साहित्य मे "आस्रव" नाम दिया गया है। रासायनिक क्रिया द्वारा सघबद्धता हो जाने पर उस क्रिया को 'बध" कहते हैं। ये परिवर्तन यथानुरूप "कार्मण शरीर" मे भी होते रहते हैं। मानव जो कुछ भी करता, कहता या विचारता है वे सभी किसी न किसी पुद्गल पिण्ड द्वारा ही परिचालित, प्रेरित या प्रभावित होते हैं। यह "कम प्रकृति" कही जाती है। इनका विशद पर सक्षिप्त विवरण दो पुस्तको से प्राप्त हो सकता है। ये हैं—हिन्दी मे—"जीवन रहस्य एव कम रहस्य" तथा अग्रजी मे "मिस्ट्रीज ऑफ लाइफ एण्ड इटनल ब्लिस।"[1] इन्हें देखें। कम सिद्धात जैन वाङ्मय मे बडे ही विशाल रूप में वर्णित है यदि पुद्गल परमाणुओ का आना-जाना और आंतरिक पुद्गल पिडो से सघबद्ध होकर "बधादि" करना समझ मे आ जाय तो फिर परम वैज्ञानिक जैन कम सिद्धात समझने मे कोई कठिनाई नही हो और तब ज्ञान श्रुतज्ञान न रहकर वैज्ञानिक सम्यक ज्ञान हो जाय।

यह "बध" ही भाग्य है। जो आस्रवित पुद्गल बध बनाते हैं उन्हें कम पुद्गल या सक्षेप म 'कम" कहते हैं और ये कम पुदगल कामण शरीर मे रासायनिक क्रिया द्वारा प्रतिबन्धित हो जाते हैं। यह बधन प्रतिबधन सवदा चलता रहता है। 'कर्मों" मे भी परिवतन होता रहता है। हमारे यहा आठ प्रकार के "कम-बध' कहे गए हैं। जो आत्मा के आठ गुणो को आच्छादित या मर्यादित कर देते हैं। कम

[1] पुस्तकें मिलने का पता —तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तरप्रदेश
पारस भवन, आय नगर, लखनऊ, पिन २२६ ००१
जीवन रहस्य एव कम रहस्य—मूल्य रु० ३ ६०
मिस्ट्रीज ऑफ लाइफ एण्ड इटनल ब्लिस—मूल्य रु० ७ ६०

पुद्गलो का आस्रव हमारे शारीरिक, मानसिक, वाचिक हलन चलन द्वारा होता है। आस्रव के अन्य कई कारण जैन शास्त्रो मे वर्णित हैं। आस्रवित पुद्गल काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि "कषायो" और बुरी भावनाओं द्वारा "बध" मे परिणत हो जाते हैं। ये बध कुछ क्षणिक, कुछ अध स्थायी और कुछ स्थायी होते हैं। ये सभी कुछ, रासायनिक पद्धति द्वारा, शरीर से कर्म कराने की व्यवस्था करते हैं। अच्छे कर्म पिण्ड अच्छा कर्म और बुरे कर्म पिण्ड बुरा कर्म प्रभावित करते हैं। आत्मा स्वय कुछ नही करता वह तो शुद्ध, बुद्ध, आनन्द है। परन्तु उसकी उपस्थिति मे ही कर्म होते हैं अन्यथा तो शरीर निर्जीव अचेतन, जड ही है।

हम जो कुछ भी करते हैं—देखते-सुनते हैं सभी कुछ पुद्गल निर्मित-पुद्गलमय होते हैं। इन्हे जैन वाङ्मय मे "व्यवहार" कहा गया है। "निश्चय" तो केवलमात्र आत्मा या आत्मा मे लीन हो जाना ही है। एकाग्रता स एक ही प्रकार का कर्मास्रव होता है। आत्मा मे ध्यान लगाने से चिन्ता, माया, मोह आदि से निर्लिप्त होने से कर्म पुद्गलों का आगमन और बध एकदम रुक जाता है। इतना ही नही पुद्गल पिण्डों में से पुद्गल परमाणु नि सृत होते हैं। उनसे कर्मों की "निर्जरा" भी होती है। जिससे आत्मा की शुद्धता, कर्मों या कर्म पुद्गलो से छुटकारा मिलने से बढ़ती है।

अनतकालिक परपरा से चले आते कौटुम्बिक अथवा सामाजिक प्रचलनों मे फसे लोग 'अज्ञान" में ही पडे रहकर सच्चे ज्ञान और सच्चे धर्म की शिक्षा की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं। इसके लिए सभी को षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ—जैसा जैन सिद्धान्त मे वर्णित है, उसकी जानकारी आवश्यक है। पर जैन सिद्धान्तो का तीव्र विरोध स्वार्थी लोगो ने इतना फला रखा है कि इनका ज्ञान विरले लोगो को ही हो पाता है। जैन समाज भी इन तत्त्वो का प्रचार-प्रसार उचित रीति से नही करता, इससे ससार अव्यवस्था, अनीति और अनाचार एव दु खो से भरा हुआ है। सरल भाषा में सरल कागज वाली लिए यदि जैनदर्शन और सिद्धान्त की पुस्तकें लिखकर समस्त ग्रामो में प्रचारित की जाए तो ससार का बडा भला हो। अभी तो हमारे धर्मगत पण्डित और गुरु मुनि लोगों का ध्यान इधर गया ही नही तो क्या हो? जन समाज को इन तत्त्वों के प्रचार-प्रसार पर मदिर-निर्माण से अधिक खर्च करना चाहिए। इसी से समस्त सच्चा भला होगा। जन मदिरो और सस्थाओ म तो रुपया बहुत इकट्ठा है पर उस धन का सदुपयोग नहीं हो पाता। प्रति वर्ष मूर्ति प्रतिष्ठा कल्याणक महोत्सव आदि समारोहो पर लाखों रुपया इकट्ठा होता है, पर का इन रुपयो का एक फीसदी भी तत्त्व ज्ञान के प्रचार प्रसार मे खर्च होगा? यदि यह धन ईंट, पत्थर, मदिर, मूर्ति तथा इमारतों में न लगाकर प्रचार म उचित रीति स खर्च किया जाय तो समाज, देश, विश्व और मानवता का कितना भला हो!

४८

कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान

□ श्री अशोककुमार सक्सेना

विज्ञान को जड से चेतन करने का श्रेय आचार्य जगदीशचन्द्र वसु का है, जिन्होंने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि सारी प्रकृति जीवन से स्पंदित होती है और तथाकथित 'अचेतन' तथा 'चेतन' मे सीमारेखा व्यर्थ है। इसी प्रकार आइन्स्टाइन ने यह प्रक्रिया प्रारम्भ की जिसके आधार पर आधुनिक विज्ञान 'वस्तु' और 'विचार' को एक साथ देख सकने मे समर्थ हो सका। जिस प्रकार पृथक-पृथक् बिन्दुओ की कोई आकृति नही होती है परन्तु वे मिलकर कोई चित्र बना सकते हैं, उसी प्रकार पारमाणविक अवयव—प्रोटान इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, मेजान, क्वार्क—स्वय 'वस्तु' न होकर केवल 'विचार' हैं, किन्तु वे मिलकर कोई वस्तु अर्थात् परमाणु बना सकते हैं। इसी प्रकार का एक विचार है 'फोटोन' जो प्रकाश का 'निर्माण' करता है—और वैज्ञानिक पोली का विचार है—'न्यूट्रिनो', जो कि ठोस द्रव्य से एकदम अनासक्त भाव से गुजर जाता है। इसके अतिरिक्त आइन्स्टाइन की सभी ब्रह्माण्डिकियाँ एक मान्यता मे आधीन परिकल्पित की जाती हैं, जिसे ब्रह्माण्डिकीय सिद्धान्त कहते हैं, जिसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड सर्वत्र औसतन एक जैसा है अर्थात् द्रव्य और गति का वितरण पूरे ब्रह्माण्ड में औसतन वैसा ही है जैसा उसके किसी भाग—उदाहरणार्थ हमारी नीहारिका—आकाशगंगा—मन्दाकिनी मे। इस मान्यता के पीछे 'गणितीय सौन्दर्यबोध' के अतिरिक्त और कोई आधार नही है—और इस प्रकार आइन्स्टाइन के सूत्रो के आधार पर विभिन्न ब्रह्माण्डिकियाँ वरो हो प्रस्तुत की जाने लगी जैसे कर्म-सिद्धान्त के आधार पर जैन, बौद्ध, सांख्य आदि दर्शन।

प्रकृति की लीला समझने के लिये मानव के पास गणित ही 'एक भरोसा, एक बल' है, परन्तु गणितीय निष्कर्ष निराकार ब्रह्म की तरह होते हैं। उनके साकार रूप की उपासना प्रयोगशाला के मन्दिर में होती है और इंजीनियरी तथा प्रौद्योगिकी अपना काम निकालने के लिए सिद्धि-प्राप्ति का प्रयास है। इसी प्रकार परम तत्व को समझने के लिए कर्म सिद्धान्त एक यान्त्रिक ग्रंथ है जिसमें स्वयं आत्मा निराकार ब्रह्म है और मोक्ष या कैवल्य या सिद्धि प्राप्ति के साधन हैं—भक्ति, कर्म, ज्ञान व योग।

संसार की सभी घटनाएँ, जीवों की सभी चेष्टाएँ कर्म के सिद्धान्त पर

जगत् कर्म की ही गति का फल है। देवता लोग भी कर्म के बन्धनों से परे नहीं हैं। अवतार लेने पर भगवान भी कर्म के गतिचक्र मे घूमने लगते हैं। कर्म की गति बड़ी विचित्र है। इसके आदि—अन्त को जानना सरल नहीं है। इसी से कहा गया है—'गहना कर्मणो गति'।

विश्व मे व्याप्त विषमता का एकमात्र कारण प्राणियो द्वारा किये गये अपने कर्म हैं। 'कर्मजम् लोकवैचित्र्य', अर्थात् विश्व की यह विचित्रता कर्मजन्य है, कर्म के कारण है।

"करम प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तसि फल चाखा" —यही कर्म सिद्धान्त है, जिसे वेदान्त, गीता, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, योग, अद्वैत, काश्मीरीय शैव, वैष्णव, भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत—सभी दर्शन स्वीकार करते हैं।

विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्यो से यह स्पष्ट है कि कर्म क्रिया या वृत्ति या प्रवृत्ति या द्रव्यकर्म है, जिसके मूल में राग और द्वेष रहते हैं—'रागो य दोसो विय कम्मबीयं'। हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य संस्कार, धर्म अधर्म, कर्माशय, अनुशय या भावकर्म छोड जाता है। संस्कार से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इसी का नाम संसार है, जिसके चक्र में पड़े हुए प्राणी कर्म, माया, अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, वासना या मिथ्यात्व से संलिप्त हैं, जिनके कारण वे संसार के वास्तविक स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं, अत प्राणी के प्रत्येक कार्य राग द्वेष से अभिनिवेश हैं। इसलिए प्राणियो का प्रत्येक कार्य आत्मा पर आवरण का ही कारण होता है। परन्तु सत्व रजस तमो रूपा त्रिगुणात्मिका अविद्या त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक् है। जीव और कर्म के सम्बन्ध का प्रवाह अनादि है। कर्म प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के संसार में न लौटने को सभी प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं।

आत्मा ही कर्म का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता है—"य कर्त्ता कर्म भेदानाम् भोक्ता कर्मफलस्य च" यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनों एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं तथापि आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता है, पुद्गल कर्मकृत समस्त भावों का कर्त्ता नहीं है।

गीता में स्पष्ट कहा है—"नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभु", अर्थात् परमेश्वर न तो किसी के पाप को लेता है और न पुण्य को, यानी प्राणी मात्र को अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं। कर्म अपना फल स्वयं देते हैं। 'कर्मणा बध्यते जन्तु' (महाभारत, शान्तिपर्व) अर्थात् प्राणी कर्म से बंधता है और कर्म की परम्परा अनादि है। ऐसी परिस्थिति में 'बुद्धि कर्मानुसारिणी'

अर्थात् कम के अनुसार प्राणी की वृद्धि होती है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिभवति तादृशी' अर्थात् अच्छे आशय से किया गया कार्य पुण्य और बुरे अभिप्राय से किया गया काय पाप का निमित्त होता है। इसलिये साधारण लोग यह समझते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पाप पुण्य का लेप न लगेगा, इससे वे उस काम को तो छोड देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नही छूटती, इससे वे इच्छा रहने पर भी पाप-पुण्य के बन्ध से अपने को मुक्त नही कर सकते। सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग मे है। अनासक्त भाव से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इसीलिये "कमण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (गीता), अर्थात् कर्म करना अपना अधिकार है, फल पाना नही। परम पुरुषाथ या मोक्ष पाने के तीन साधन हैं—श्रद्धा या भक्ति या सम्यग् दशन, ज्ञान या सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र अर्थात कम और योग। मनोनिग्रह, इन्द्रिय जय आदि सात्विक कम ही कम माग है और चित्त-शुद्धि हेतु की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योग माग है। कममाग और योगमाग दोनो ही कम सिद्धान्त के अभिन्न अग हैं।

चार्ल्स डार्विन का जैव-विकासवाद जिस प्रकार से सरलतम से जटिलतम जीव की उत्पत्ति बतलाता है, उसी प्रकार कम सिद्धान्त भी जीव या आत्मा क आध्यात्मिक विकास को कम के आधार पर मानता है और कर्मानुसार जीव को विभिन्न योनियो मे से होकर जन्म जन्मांतर गुजरना पडता है। जीव मोह के प्रगाढतम परदे को हटाता हुआ उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की परिमापक रेखाओ या गुणस्थानो या चित्त भूमिकाओ की विभिन्न अवस्थाओ मे स होकर गुजरता है (पातजल योग-दशन, योगवासिष्ठ, श्री देवेन्द्रसूरिकृत कमविपाक) और जब अज्ञान रूपी हृदय ग्रथियाँ विनष्ट हो जाती हैं तभी मोक्ष या कवल्य प्राप्त होता है (शिव गीता)। यही आत्मा के विकास की पराकाष्ठा है। यही परमात्म-भाव या अभेद है। यही ब्रह्मभाव है। यही जीव का शिव होना है, यही पूर्ण आनन्द है। तपस्या के कारण पुण्य के उदय होने से तत्व की प्राप्ति जीवित अवस्था मे यदि किसी जीव को हो जाय, तो उसके ज्ञान के प्रभाव से उसकी वासना नष्ट हो जाती है, क्रियमाण या प्रारब्ध कम का नाश हो जाता है एव सचित कम भी शक्तिहीन हो जाते हैं। यही जीवन मुक्त की अवस्था है, जिसके पश्चात् परम पद की प्राप्ति होती है। अत परम पद के जिज्ञासु को अनासक्त होकर कम का करते रहना चाहिये, क्योंकि कम और भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती और ज्ञान की प्राप्ति से ही परम पद की प्राप्ति होती है। मोक्ष कहीं बाहर से नही आता। वह आत्मा का समस्त शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है। सभी निवृत्तवादियो का सामान्य लक्षण यही है कि किसी प्रकार से कर्मो को जड नष्ट करना और ऐसा स्थिति पाना कि जहां से फिर जन्मचक्र में आना न पडे, क्योंकि पुनर्जन्म और परमोक्ष

का कारण कर्म है। जीव कर्मों के आवरण को पुरुषार्थ द्वारा हटाता है। सिद्ध जीव की विकसित दशा है।

वैज्ञानिक क्लाइन की ब्रह्माण्डिकी गोचर ब्रह्माण्ड को एक परिमित व्यवस्था—परानीहारिका (मैटागैलेक्सी) का सदस्य मानती है। इस परानीहारिका मे पहले द्रव्य और प्रतिद्रव्य दोनो उपस्थित थे। प्रतिद्रव्य के सम्बन्ध मे यो समझिये कि परमाणु के जो दो सौ से ऊपर ज्ञात अवयव हैं उनमें से कुछ के 'विरोधी' अवयव प्रयोगशाला में पहचान लिए गए हैं, तो यदि समस्त अवयवों के विरोधी अवयव हों और वे आपस में मिल भी सकें तो 'प्रति परमाणु' बन सकता है और फिर आगे प्रतिद्रव्य का भी अस्तित्व सम्भव है। यदि प्रतिद्रव्य है तो वह द्रव्य के साथ नही रह सकता—परस्पर सयोग होते ही वे एक-दूसरे को समाप्त कर देंगे और इस प्रक्रिया में अकल्पनीय ऊर्जा की सृष्टि होगी—परन्तु प्रतिद्रव्य अकेले बना रह सकता है, जैसे कि द्रव्य अलग बना रह सकता है। प्रतिद्रव्य की बनी हुई एक दुनिया भी हो सकती है। उस दुनिया मे क्या हो सकता है, इस चर्चा के अपने-अलग मजे हैं और 'प्रतिविश्व' पर वैज्ञानिकों का कोई एकाधिकार भी नही है। उदाहरण के लिये कृष्ण-माता की उदात्तता सिद्ध करने के लिए कुछ वैष्णव दार्शनिको ने 'गोलोक' की कल्पना प्रतिविश्व के रूप मे ही की है, जिसका विशेष लाभ यह है कि परकीया प्रेम जो इस लोक मे अधम कृत्य है, उस लोक मे उत्तम कृत्य हो जाता है। भारतीय दर्शन में सत्यलोक, ब्रह्मलोक, तपलोक, महर्लोक, भुवर्लोक, पितृलोक, देवलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि की कल्पना प्रतिविश्व के रूप में ही है।

इसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्वरूप इस विश्व में एक-एक ब्रह्माण्ड मे अनन्तानन्त जीव हैं। ब्रह्माण्ड की अनेकता और अनन्तता अब वैज्ञानिक भी स्वीकृत कर चुके हैं। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डाक्टर हेरल्ड उरे ने दूसरी दुनिया में जीवन के बारे में एक अनोखा सिद्धान्त पेश किया है, जिसके अनुसार जरूरी नहीं कि जहा भी विकसित सभ्यता अथवा विशाल जीवन हो, वहां पानी और आक्सीजन हो ही। शुक्रग्रह जैसे गैसीय वातावरण युक्त ग्रहों के आकाश में भी जीवन उसी तरह पनप सकता है, जैसे पृथ्वी के ऊपर महासागरों में पनपा। पृथ्वी के जीवधारियों के शरीर में भले ही कार्बन यौगिकों का बाहुल्य है, मगर अन्य ग्रहों पर जीवन बिलकुल भिन्न तत्वों से बना हो सकता है। जिन ग्रहों पर सरसरी तौर से जीवन नहीं दिखाई देता वहां भी 'भूमिगत' जीवन हो सकता है। हो सकता है आए दिन हम जो उड़न-तश्तरियां वगैरह पृथ्वी पर देखते हैं, वे हमारे 'पड़ोस' से आई हों और पृथ्वी से आक्सीजन, जल तथा अन्य आवश्यक पदार्थ एकत्र करके वापिस चली जाती हों। इस सिलसिले में कदाचित् पृथ्वी और शुक्र के बीच पृथ्वी और

मगल के बीच तथा मगल से कुछ पीछे तक के अन्तरिक्ष मे "तैरते अन्तरिक्ष नगरो' की सम्भावना को भी गम्भीरता से ले रहे हैं, अर्थात् ब्रह्माण्ड में अनन्त जीवन है। अनतानन्त जीवो मे एक एक जीव के अनतानन्त जन्मो मे एक एक जन्म मे अनतानन्त कर्म हैं।

समस्त विश्व एक ही 'शक्ति' और 'शक्तिमान' का उल्लसित रूप है। सभी चिन्मय हैं। परम शिव सर्वथा स्वतन्त्र होकर बिना किसी की सहायता से, केवल अपनी ही 'शक्ति' से, सृष्टि को लीला के लिए उद्भावित करते हैं और लीला का संवरण भी कर लेते हैं। वस्तुत यही आकर साधक को "एकमेवाद्वितीय नेह नानास्ति किंचन" तथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का वास्तविक अनुभव होता है। 'माया' या 'कर्म' ब्रह्मशक्ति, ब्रह्माश्रित है, पर 'ब्रह्म' सत्य है, परन्तु विचार-दृष्टि से माया या कर्म 'सदसद्विलक्षण' है, किन्तु माया या कर्म को स्वीकार कर उसको ब्रह्ममयी, नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से 'ब्रह्म' और 'माया' या 'कर्म' की एकरसता हो जाती है, यह एकरसता माया या कर्म को त्याग कर या तुच्छ समझकर नही बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने मे है क्योंकि मूल प्रकृति 'अव्यक्त' है। कर्म की गति अनादि है, अविद्या अनादि है। अविद्या या कर्म तथा जीव का सम्बन्ध भी अनादि है, परन्तु ये कर्मगति, अविद्या या कर्म सम्बन्ध, अनित्य हैं। इनका नाश यद्यपि परिणाम के द्वारा ही होता है तथापि नाश के लिए भी सृष्टि का होना आवश्यक है। अव्यक्त रूप के रहने से सृष्टि नहीं हो सकती तो फिर सृष्टि होती कैसे है ? वास्तव मे 'कार्य' वस्तुत 'कारण' मे वर्तमान है, अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व 'कार्य' कारण मे अव्यक्त रूप मे रहता है। कार्य की उत्पत्ति और नाश का अर्थ 'उस विषय की सत्ता का होना या न होना' नही है। कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है—'अव्यक्त मे व्यक्त होना' तथा कार्य के नाश का अर्थ है—'व्यक्त से अव्यक्त होना।' यह भी एक प्रकार का परिणाम है, जिसके कारण अव्यक्त मूल प्रकृति मे अव्यक्त रूप मे वर्तमान वस्तु व्यक्त हो जाती है, अर्थात् न किसी की 'उत्पत्ति' और न किसी का 'नाश' होता है, केवल स्वरूप मे परिवर्तन होता है वस्तु मे नही, यानी समस्त विश्वरूप कार्य मूल प्रकृति रूप कारण में अव्यक्तावस्था मे वर्तमान रहता है।

भौतिक विज्ञान के अनुसार जगत् मे किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता, रूपान्तर मात्र होता है। विज्ञान शक्ति के संरक्षण सिद्धान्त मे, पदार्थ की अनश्वरता के सिद्धान्त मे विश्वास करता है। जब जगत के जड़ पदार्थों की यह स्थिति है, तब इन्ही के अभिन्न निमित्त-उपादान कारण चेतन आत्मतत्त्व की अनश्वरता समुचित न्याय से सुतरां सत्य होनी चाहिए।

श्री अरविन्द द्वारा चेतना के विभिन्न स्तरों की परिकल्पना के साथ-साथ

'अति मानव' का सृष्टि-विकास तथा भूतल पर देवत्व के स्वयं आविर्भाव की उच्चतम परिकल्पना भारत के प्राचीन मनीषियों के सिद्धान्त से निराली है। मूलतः यह परिकल्पना डार्विन के विकासवाद की श्रेष्ठतम आध्यात्मिक परिणति है।

विश्व में प्रत्येक कार्य की प्रतिक्रिया होती है, जिससे प्रकृति में कार्य शक्ति का सन्तुलन बना रहता है। उसी प्रकार कर्म एक क्रिया है और फल उसकी प्रतिक्रिया है, अतः जो भले या बुरे कर्म हमने किये हैं, उनका अच्छा या बुरा फल हमें भुगतना पड़ेगा।

स्वामी विवेकानन्द ने कर्म-सिद्धान्त की वैज्ञानिक विवेचना की है। उनका कथन है कि जिस प्रकार प्रत्येक क्रिया जो हम करते हैं, हमारे पास पुनः वापिस आती है प्रतिक्रिया के रूप में, उसी प्रकार हमारे कार्य दूसरे मनुष्यों पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं और अन्य मनुष्य के कार्य हमारे ऊपर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। समस्त मस्तिष्क जो कि समान प्रवृत्ति रखते हैं, वे समान विचार से प्रभावित होते हैं। यद्यपि मस्तिष्क पर विचारों का यह प्रभाव दूरी आदि अन्य कारणों पर निर्भर करता है, तथापि मस्तिष्क सदैव अभिग्रहण के लिए खुला रहता है।

जिस प्रकार दूरस्थ ब्रह्माण्डकीय पिण्डों से आने वाली प्रकाश तरंगें पृथ्वी तक आने में करोड़ों प्रकाश वर्ष ले लेती हैं, उसी प्रकार विचार-तरंगें भी कई सौ वर्षों तक संचरित होती हुई स्पन्दन करती रहती हैं जब तक कि वे किसी अभिग्राही तक न पहुँच जायें। इसलिये, बहुत कुछ सम्भव है कि हमारा वातावरण इस प्रकार के अच्छे तथा बुरे विचार-स्पन्दनों के कम्पनों से ओतप्रोत हो। जब तक कि कोई मस्तिष्क-अभिग्राही ग्रहण नहीं कर लेता है तब तक प्रत्येक मस्तिष्क से निकला हुआ विचार स्पन्दन करता रहता है और मस्तिष्क जो कि इनको ग्रहण करने के लिए खुला हुआ है, तत्काल इन विचार स्पन्दनों में से कुछ को अभिगृहीत कर लेता है, अतः एक मनुष्य जब कोई बुरा कार्य करता है तो उसका मस्तिष्क वातावरण में व्याप्त बुरी विचारधाराओं के स्पन्दनों को लगातार ग्रहण करता रहता है। यही कारण है कि बुरा कार्य करने वाला सतत बुरे कार्य ही करते रहने में तत्पर रहता है। यही बात अच्छा कार्य करने वाले पर भी लागू होती है।

हमारे सभी कार्य—अच्छे या बुरे—दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुये हैं। उनके बीच हम कोई सीमा रेखा नहीं खींच सकते। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो एक ही समय में अच्छा तथा बुरा फल न रखता हो।

जो अच्छा कार्य करने वाला यह जानता है कि अच्छे कर्म में भी कुछ—

कुछ बुराई है और बुराइयों के मध्य जो देखता है कि कहीं-न-कही पर कुछ अच्छाई भी है, वही कर्म के रहस्य को जानता है। इसलिये हम कितनी भी कोशिश क्यो न करलें, कोई भी काय पूर्णतया शुद्ध या अशुद्ध नहीं हो सकता।

दूसरो के प्रति लगातार अच्छे काय करने के जरिये हम अपने को भूलने का प्रयास करते हैं। यह अपने को भूलना ही वह बहुत बडा सबक है जो हमे अपनी जिन्दगी में सीखना चाहिये। अपने को भूलने की यह अवस्था ही ज्ञान, भक्ति और कम का अपूव सयोग है, जहा पर "मैं" नही रहता।

इस जन्म मे देखी जाने वाली सब विलक्षणतायें न वतमान जन्म की कृति ही का परिणाम है, न माता-पिता के केवल सस्कार का ही, और न केवल परिस्थिति का ही। इसलिये आत्मा के अस्तित्व को गभ में आरम्भ समय से और भी पूर्व मानना पडता है, जिससे अनेक पूव जन्म की परम्परा सिद्ध होती है, क्योंकि अपरिमित ज्ञान शक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकती। इस प्रकार आत्मा अनादि है और इस अनादि तत्त्व का कभी नाश नही होता। गीता में सच ही कहा है—

न जायते म्रियते व कदाचिन्नाय भूत्वा, भविता न भूय ।
अजो नित्य शाश्वतोय पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीर ॥

और "नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सत "—इस सिद्धान्त को सभी दाशनिक व अब आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं।

पुनजन्म का मूल कारण विभिन्न प्रकार के शुभाशुभ कम ही हो सकते हैं, जिनके फलस्वरूप प्राणिमात्र को तारतम्य या वैषम्य से जन्म से मृत्युपयन्त सुख-दुख भोगने पडते हैं। पूवजन्म के सस्कार मन मे रहते हैं। उन सस्कारों को उद्भासित करने वाला देश, काल, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी पदाथ जमे ही सामने आता है, सस्कार उद्भासित हो जाते हैं और प्राणी को पूव जन्म के अभ्यास से उस काय मे प्रवृत्त कर देते हैं।

प्राध्यापक हक्सले का कथन है कि विकासवाद के सिद्धात की तरह देहान्तरवाद सिद्धात भी वास्तविक है। कुलक्रमागत सक्रमण के प्रवक्ता मानवीय आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नही करते। उनके मतानुसार अपने वशजों में कोषाणुगत सक्रमण की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य अमर बन सकता है। यदि यह सही है तो आइन्स्टाइन या गाँधी के वशजों को हम आइन्स्टाइन या गाँधी के समान ही क्यों नहीं देखते? इसलिए पूर्णता प्राप्त करने के सदर्भ में विकासवाद का सिद्धात पुनजन्म और कम सिद्धान्त की प्रक्रिया द्वारा अधिक सरल और अपेक्षाकृत उत्तम तरीके से समझा जा सकता है।

जीवन के कण-कण और क्षण-क्षण के साथ कर्म-सूत्र अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, "न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत" (गीता) अर्थात् कोई भी क्षणभर के लिए भी बिना कुछ कर्म किये नहीं रहता, "एग आया" आत्मा अपने मूल-स्वभाव की दृष्टि से एक है। यह निश्चित निश्चय विचार है कि आत्मा व परमात्मा, जीव तथा ब्रह्म के बीच अन्तर डालने वाला तत्त्व 'कर्म' ही तो है। जीव-सृष्टि का समूचा चक्र 'कर्म' की धुरी पर ही घूम रहा है। कर्म-सम्पृक्त जीव ही आत्मा है, और कर्म विमुक्त जीव ही ब्रह्म अथवा परमात्मा है। कर्मवाद का दिव्य सन्देश है कि तुम अपने जीवन के निर्माता और अपने भाग्य विधाता स्वयं हो। संक्षेप में कर्म-सिद्धान्त आध्यात्मिक विश्वास और विकास का प्रबल कारण होने के साथ लोक जीवन में समभाव का आलम्बन करने की सीख देता है। जैसा पुरुषार्थ होगा, वैसा ही भाग्य बनेगा। प्रत्येक आत्मा कर्म से मुक्त होकर सत् चित्त-आनन्द स्वरूप को प्राप्त करने में समर्थ है।

□□□

दूहा धरम रा

□ श्री सत्यनारायण गोयनका

सदा जुद्ध करतो रवै, लेवै करड़्या जीत।
बणै वीर पुरुसारथी, या संतां री रीत ॥१॥

यो हि सत रा जुद्ध है, यो हि पराक्रम घोर।
काम क्रोध अर मोह सूं, रासै मुखड़ा मोड़ ॥२॥

राग द्वेष अभिमान रा, बैरि बड़ा बलवान।
चूक जाणै मद गिर पड़, पीड़ित कर दे प्राण ॥३॥

संत सदा जाग्रत रवै, कर न रवै प्रमाद।
भव भव बंधन काट कर, चखै मुक्ति को स्वाद ॥४॥

अन्तरमन रण खेत मह, अरी भेळा होय।
एक एक नै खतम कर, संत विजेता होय ॥५॥

सतत जूझतो ही रवै, जद तक देह पर्यन्त।
हान करै अरिगण सकल, हुइ जावै अरहन्त ॥६॥

४६ कर्म सिद्धान्त : वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में

☐ डॉ महावीरसिंह मुड़िया

जन दर्शन के अनुसार प्रत्येक ससारी आत्मा कर्मों से बद्ध है। यह कम बध आत्मा का किसी अमुक समय में नहीं हुआ, अपितु अनादि काल से है। जसे खान से सोना शुद्ध नही निकलता, अपितु अनेक अशुद्धियो से युक्त निकलता है, वसे ही ससारी आत्माएँ भी कर्म बधनो से जकडी हुई हैं।

सामाय रूप से जो कुछ किया जाता है, वह कम कहलाता है। प्राणी जसे कम करता है, वैसा ही फल भोगता है। कर्म के अनुसार फल को भोगना नियति या क्रम है। परलोक मानने वाले दशनो के अनुसार मनुष्य द्वारा कम किये जाने के उपरात वे कम, जीव के साथ अपना सस्कार छोड जाते हैं। ये सस्कार ही भविष्य में प्राणी को अपने पूर्वकृत कम के अनुसार फल देते हैं। पूर्व कृत कम के सस्कार अच्छे कम का अच्छा फल एव बुरे कम का बुरा फल दते हैं। पूवकृत कम अपना जो सस्कार छोड जाते हैं, और उन सस्कारा द्वारा जा प्रवृत्ति होती है, उसमे मूल कारण राग और द्वेप होता है। किसी भी कर्म की प्रवृत्ति राग या द्वेष के अभाव में असम्भावित होती है। अत सस्कार द्वारा प्रवत्ति एव प्रवृत्ति द्वारा सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। यह परम्परा ही ससार कहलाता है।

जैन दर्शन के अनुसार कम सस्कार मात्र ही नही है, अपितु एक वस्तुभूत पदाथ है जिसे कामण जाति के दलिक या पुद्गल माना गया है। ये दलिक रागी द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते हैं। यद्यपि ये दलिक भौतिक हैं, तथापि जीव के कम अर्थात् क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते हैं।

कमबध व कर्ममुक्ति

जन कर्मवाद मे कर्मोपाजन के दो मुख्य कारण माने गये हैं—योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन के सामाय व्यापार को जन परिभाषा में योग कहते हैं। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति करता है तब उसके आसपास रहे हुए कम योग्य परमाणुओं का आगमन होता है। इस प्रक्रिया का नाम आस्रव है। कषाय के कारण कम परमाणुओं का आत्मा से मिल जाना बध कहलाता है। कमबध का प्रारम्भ ही कम का उप

है। ज्यों ज्यों कर्मों का उदय होता जाता है, त्यों-त्यों कर्म आत्मा से अलग होते जाते हैं। इसी प्रक्रिया का नाम निर्जरा है। जब आत्मा से समस्त कर्म अलग हो जाते हैं तब उसकी जो अवस्था होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर कर्म सिद्धान्त

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विद्युत चुम्बकीय तरंगों (Electromagnetic Waves) से ठीक उसी प्रकार भरा पड़ा है जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकाकाश कार्मण वर्गणा रूप पुद्‌गल परमाणुओं से भरा हुआ है। ये तरंगें प्रकाश के वेग से लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश की ओर गमन करती रहती हैं। इन तरंगों की कम्पन शक्ति बहुत अधिक, यहाँ तक कि X-Rays की कम्पन शक्ति ($१०^{१३}$ से $१०^{१७}$ किलो साइकिल प्रति सैकण्ड) से करोड़ों गुनी ज्यादा होती है। तरंगों की आवृत्ति (frequency), n, तथा प्रकाश के वेग (c) में निम्न सम्बन्ध है—(λ=तरंग की लम्बाई)=Wavelength

$$c=n\lambda$$

अब एक खास आवृत्ति (frequency) की विद्युत चुम्बकीय तरंगों को एक प्राप्तक द्वारा पकड़ने के लिए उसमें एक ऐसे दोलित्र (oscillator) का उपयोग किया जाता है कि यह उन्हीं आवृत्ति पर कार्य कर रहा हो। इस विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) के सिद्धान्त से आकाश में व्याप्त तरंगें, प्राप्तक (Receiver) द्वारा आसानी से ग्रहण करली जाती हैं।

ठीक यही घटना आत्मा में कार्मण-स्कन्धों के आकर्षित होने में होती है। विचारों या भावों के अनुसार मन, वाणी या शारीरिक क्रियाओं द्वारा आत्मा के प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न होते हैं जिसे पहले 'योग' कहा गया है। अर्थात् योग शक्ति से आत्मा में पूर्व से उपस्थित कर्म रूप पुद्‌गल परमाणुओं (जो आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही होकर पूर्व से प्रवर्तमान थे) में कम्पन होता है। इन कम्पनों की आवृत्ति की न्यूनाधिकता, कषायों की ऋजुता या मंदी मन्दता के अनुसार होती है। शुभ या अशुभ परिणामों से विभिन्न तरंग लम्बाइयों की तरंगें आत्मा के प्रदेशों से उत्पन्न होती रहती हैं और इस प्रकार की कम्पन क्रिया है इसे एक दोलित्र (oscillator) की भांति मान सकते हैं, जो आकाश में उपस्थित उन्हीं तरंग लम्बाई के लिए साम्य (tunned या resonance) समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में भाव कर्मों के माध्यम से, ठीक उसी प्रकार की तरंगें आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, और आत्मा अपने स्वभाव गुण के कारण विकृत कर नयी-नयी तरंगें पुनः आत्मा में उत्पन्न करती है। इस तरह यह स्वचालित दोलित्र (self oscillated oscillator) की भांति व्यवहार कर नयी-नयी तरंगों को हमेशा खींचता रहता है। कर्मवाद में यह आस्रव कहा गया है।

ये पुद्गल परमाणु आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित ही करते हैं न कि वे दोनों एक-दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसे सम्बन्ध के बावजूद भी जीव, जीव रहता है और पुद्गल के परमाणु, परमाणु रूप में ही रहते हैं। दोनों अपने भौतिक गुणों (Fundamental properties) को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते। यह कर्मबन्ध है।

यदि आत्मा के प्रदेशों में परमाणुओं की कम्पन प्रक्रिया ढीली पड़ने लगे, जो कि योगों की सरलता से ही सम्भव हो सकती है, तो बाहर से उसी अनुपात में कार्मण परमाणु कम आएँगे अर्थात् आकर्षण क्रिया हो न होगी, अर्थात् संवर होना शुरू होगा। जब नई तरंगों के माध्यम से पुद्गल परमाणुओं का आना बन्द हो जाता है तो पहले से बैठे हुए कार्मण परमाणु अवमंदित दोलन (Damped oscillation) करके निकलते रहेंगे। अर्थात् प्रतिक्षण निर्जरा होगी और एक समय ऐसा आयेगा जब प्राप्तिक दोलित्र (oscillator) कार्य करना बन्द कर देगा। निर्विकल्पता की उस स्थिति में योगों की प्रवृत्ति एवं दम बन्द हो जायगी और संचित कर्म शेष न रहने पर फिर प्रदेशों की कम्पन-क्रिया का प्रश्न ही नहीं उठता, अर्थात् कर्मों की निर्जरा हो जायेगी। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जीर्णावस्था ही मोक्ष कहलाती है।

इस प्रकार तरंग सिद्धान्त (wave theory) में विद्युतीय साम्यावस्था (Electrical resonance) की घटना से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष भलीभांति समझा जा सकता है।

टेलीपैथी

विचार करते समय मस्तिष्क में विद्युत उत्पन्न होती है। इस विचारशक्ति की परीक्षा करने के लिए पेरिस के प्रसिद्ध डॉ० बेरडुक ने एक यन्त्र तैयार किया। एक कांच के पात्र में सुई के सदृश एक महीन तार लगाया गया और मन को एकाग्र करके थोड़ी देर तक विचार शक्ति का प्रभाव उस पर डालने से सुई हिलने लगती है। यदि इच्छा शक्ति निर्बल हो तो उसमें कुछ भी हलचल नहीं होती। विचार शक्ति की गति बिजली से भी तीव्र है—लगभग तीन लाख किलोमीटर प्रति सेकण्ड। जिस प्रकार यन्त्रों द्वारा विद्युत तरंगों का प्रसारण और ग्रहण होता है और रेडियो, टेलीफोन, टेलिप्रिन्टर, टेलिविजन आदि विद्युत को मनुष्य के लिए उपयोगी व लाभप्रद साधन बनाते हैं, इसी प्रकार विचार-विद्युत की लहरों का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण और ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया को टेलीपैथी कहा जाता है। टेलीपैथी के प्रयोग से हजारों मील दूरस्थ व्यक्ति से विचारों का आदान प्रदान व प्रेषण-ग्रहण कर सकते हैं। भविष्य में यही टेलीपैथी की प्रक्रिया सरल और सुगम हो जनसाधारण के लिए भी महान् लाभदायक सिद्ध होगी, ऐसी पूरी सम्भावना है। □

५०

जैन कर्म सिद्धान्त और विज्ञान: पारस्परिक अभिगम

□ डॉ॰ जगदीशराय जैन

जैन कर्म सिद्धान्त को समझने के लिए "आत्मा" के स्वरूप को समझना आवश्यक है और इसके वैज्ञानिक विवेचन के लिए आत्मा अथवा जीव के सम्बन्ध में वैज्ञानिक धारणा क्या है, दोनों धारणाओं में काई अन्तर है या मूलतः एक ही हैं, इसके लिए वैज्ञानिक इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल में वैज्ञानिक पदार्थों के गुण, स्वभाव, शब्द, प्रकाश, विद्युत इत्यादि के अनुसंधान में लगे रहे। मानव के जीवन एवं आत्म स्वभाव-ज्ञान, राग, द्वेष, भावना इत्यादि प्रश्नों की ओर उनका ध्यान न था। प्राचीन वैज्ञानिकों में से अधिकतर ज्ञान को भौतिक मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ मानते थे। उनके विचार में आत्मा पुद्गल से पृथक् कोई वस्तु न थी। सर्वप्रथम वैज्ञानिक टॅडल ने बटलर पादरी के आत्मा के समर्थन में कहा कि पुद्गल चेतना रहित ज्ञान शून्य जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतना युक्त ज्ञानमयी तत्त्व है और क्योंकि यह असम्भव है कि एक ही पदार्थ का स्वभाव जड़ व अचेतन हो और साथ-साथ उसका स्वभाव ज्ञानमयी व चेतन भी हो। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में "उपयोगो जीव लक्षणम्" लिखा गया है जिसका अर्थ है कि जानने की क्रिया, यह जीव का लक्षण है। ज्ञान, आत्मा का एक निज गुण है जो कभी भी किसी हालत में आत्मा से विलग नहीं हो सकता। जड़ पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण भी किये जा सकते हैं और समझे भी जा सकते हैं। मगर आत्मा अति सूक्ष्म वस्तु है। यह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। कहा भी है—"नोइन्दियग्गेज्झ अमुत्ति भावा।" भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर बालफोर स्टीवर्ट, सर आलिवर लाज, प्रोफेसर मैक्स इत्यादि ने केवल आत्मा के अस्तित्व तथा नित्यता को ही स्वीकार नहीं किया बल्कि परलोक के अस्तित्व को भी माना। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ॰ जगदीशचन्द्र बसु के अनुसन्धान ने तो यह सब कुछ वनस्पति संसार के लिए भी सिद्ध कर दिया है। एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि तत्त्व न ही विनाशशील है और न ही उत्पाद्य है। यद्यपि बाह्य रूप में परिवर्तन होता रहता है। इस सिद्धान्त को आत्मा पर लागू करें तो आत्मा न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी इसका विनाश होगा अर्थात् अजर-अमर है, केवल इसके बाह्य अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। आत्मा में बाह्य अवस्था के परिवर्तन के कारण का स्पष्टीकरण करने के लिए कर्मों वैज्ञानिक भी ज्ञात और अज्ञात मन के सिद्धान्त को लेकर इस दिशा में प्रयास कर रहे हैं।

आत्मा के बाह्य अवस्था के परिवर्तन का कारण जैन कर्मसिद्धान्त, आत्मा द्वारा स्वयं किए हुए कर्मों को मानता है। कहा है—

> अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
> अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

अर्थात् आत्मा ही सुख-दुःख का जनक है और आत्मा ही उनका विनाशक है। सदाचारी सन्मार्ग पर लगा हुआ आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर लगा हुआ दुराचारी अपना शत्रु है। वैज्ञानिक न्यूटन का एक नियम यह भी है कि क्रिया और प्रतिक्रिया एक साथ होती रहती है अर्थात् जब जीव कोई कर्म करेगा तो उसकी प्रतिक्रिया उसके किए कर्मानुसार, उसकी आत्मा पर अवश्य अंकित होगी। विज्ञान के आविष्कार बेतार के तार (Wireless Telegraphy), रेडियो, टेलीविजन आदि के कार्य से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जब कोई कार्य करता है तो समीपवर्ती वायुमंडल में हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है और उससे उत्पन्न लहरें चारों ओर बहुत दूर तक फैल जाती है उन्हीं लहरों के पहुँचने से शब्द व आकार बिना तार के रेडियो, टेलीविजन में बहुत दूर-दूर स्थानों पर पहुँच जाते हैं और उन्हें जिस स्थान पर चाहें वहीं पर अंकित कर सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई जीव मन, वचन अथवा शरीर से कोई कार्य करता है तो उसके समीपवर्ती चारों ओर के सूक्ष्म परमाणुओं में हलन चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है। ये सूक्ष्म परमाणु जिन्हें कार्मणवर्गणा भी कहा जाता है, आत्मा की ओर आकर्षित होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेते हैं।

जैन कर्मसिद्धान्त इन कर्म परमाणुओं को स्थूल रूप से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय नाम की संज्ञा देता हुआ इनकी १४८ प्रकृतियाँ बतलाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कर्म कहे जाते हैं क्योंकि इनसे आत्मा का अनन्त ज्ञान, दर्शन व वीर्य आच्छादित होकर, कषाय, विषय, विकार, आदि उत्पन्न हो जाते हैं। वेदनीय, आयु नाम और गोत्र कर्म आत्मा के गुणों का घात न करने के कारण अघातिक कर्म कहलाते हुए भी मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं। आठ कर्मों का स्वभाव (प्रकृति) भिन्न-भिन्न होने के कारण प्रकृतिबंध कहलाता है। कर्मबन्ध हो जाने के बाद जब तक फल देकर अलग नहीं हो जाता, तब तक की काल मर्यादा (आबाधा काल) स्थितिबन्ध कहलाता है। सब कर्मों में मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थितिबन्ध (आबाधाकाल) ७० कोडा कोडी सागरोपम की मानी गई है और साथ-साथ में यह भी कहा गया है कि किया कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। बुरे कर्म अशुभ या कटुक फल देते हैं और शुभ कर्म मधुर फल प्रदान करते हैं। विभिन्न प्रकार के रस (कटुक या मधुर फल) का अनुभाग बन्ध कहते हैं और कर्म दलिकों के समूह का प्रदेश बन्ध कहते हैं। बद्ध

कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ चिपटा रहे और किस प्रकार का तीव्र, मन्द या मध्यम फल प्रदान करे, यह जीव के कषाय भाव पर निर्भर है। अभिप्राय यह है कि यदि कषाय तीव्र है तो कर्म की स्थिति लम्बी होगी और विपाक भी तीव्र होगा। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषाय को नरक का कारण माना जाता है। अत कषाय की तीव्रता और मन्दता के कारण स्थिति और अनुभाग बन्ध की न्यूनाधिकता समझनी चाहिए। अरिहन्त भगवान् वीतरागता के कारण कषायों से सब प्रकार से अतीत होते हैं। अत उन्हें स्थिति और अनुभाग बन्ध होते ही नहीं हैं। योग के निमित्त से कर्म तो आते हैं परन्तु कषाय न होने के कारण उनकी निर्जरा होती रहती है। "सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध" अर्थात् संक्षेप में कषाय ही कर्म बन्ध के मूल कारण हैं। कर्म का फल अमोघ है—अनिवार्य है अर्थात् किये हुए कर्म विपाक होने पर तो अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। यह शाश्वत सत्य है। तभी तो किसी ने कहा है—

जरा कर्म देख कर करिए, इन कर्मों की बहुत बुरी मार है।
नही बचा सकेगा परमात्मा, फिर औरों का क्या एतबार है॥

वैज्ञानिक लीचेटलीयर का सिद्धान्त है कि प्रत्येक तन्त्र या संस्थान अपनी साम्यस्थिति से असाम्यस्थिति में यदि चली जाती है तो भी वह अपना पुन साम्यस्थिति में आने का प्रयास करती है। अर्थात् आत्मा के द्वारा किये कर्मानुसार आत्मा पर कर्मवर्गणा का आवरण चढ़ेगा तो भी कर्म विपाक उचित समयानुसार आत्मा के अनन्त वीर्य या तपस्या द्वारा जीव किये हुए कर्मों की निर्जरा भी करेगा, तभी तो साम्यस्थिति को पुन प्राप्त कर सकेगा। इससे श्रमण भगवान महावीर के इस वचन की पुष्टि हो जाती है कि सभी भव्य आत्माएँ नवीन कर्मों के आगमन का निरोध कर और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष में पहुँच जाएँगी। जैन दर्शन आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति (अनन्त वीर्य) इत्यादि गुण मानता है जिनको कर्म प्रकृतियों ने दबा दिया है। निश्चयनय से विचार करें तो प्रत्येक आत्मा शुद्ध रूप में सिद्ध स्वरूप है। कहा भी है—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, बूझै बिरला कोय॥

मानव में अनन्त शक्ति, बल, वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ विद्यमान है। जो मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति में अनेक विघ्न व बाधाओं के उपस्थित होने पर भी प्रयत्नशील रहते हैं अन्त में उन पुरुषार्थी मनुष्यों के मनोरथ सफल हो जाते हैं। तभी तो कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ को प्रगति का मूल कहा है। भगवान महावीर ने मानव जाति को यह महान् सन्देश दिया है कि मानव अपने स्वयं का

निर्माण और विध्वस तेरे स्वय के हाथो मे है अर्थात अपने सत्कार्यो द्वारा तू स्वय को बना भी सकता है और असत् कार्यो द्वारा अपने को बिगाड भी सकता है। कहा है—

कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

अर्थात् कर्म ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं, कर्म ही मनुष्य को क्षत्रिय बनाते हैं, कर्मों से ही मनुष्य वैश्य है और कर्मों से ही शूद्र। सभी तीर्थंकर भगवान्, महापुरुष श्री राम, श्री कृष्ण, महात्मा गाधी आदि ने कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ के माध्यम से ही अपने-अपने लक्ष्यो को प्राप्त किया है।

सवणे णाणे य विणाणे, पच्चक्खाणे य सजमे।
अणासवे तवे चेव वोदाणे अकिरिअ सिद्धि ॥

उक्त गाथा आध्यात्मिक साधना के लिए तो रची ही गई है पर वैज्ञानिक भी इसी गाथा के भाव अनुसार चलकर ही वैज्ञानिक नियम व सिद्धान्तो को सिद्ध कर पाते हैं। वैज्ञानिक सब प्रथम ज्ञान को अनन्त मानता है, उसको प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साहित्य व ज्ञानगोष्ठी इत्यादि का सहारा लेता है और उस ज्ञान को अनेकान्तवाद अर्थात सापेक्षवाद की कसौटी पर कसता है। विज्ञान के किसी नियम या सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए वैज्ञानिक को अपने मन, वचन काय का पूर्ण रूप से सयम, त्याग, तपस्या अर्थात् पुरुषार्थ को अपनाना पडता है। भगवान् महावीर का कथन है कि सत्य को जब तक अनेक दृष्टिकोणों से नही देखेगा तब तक उसका साम्ययोगी बनना सम्भव नहीं है। इस प्रकार सम्यक्ज्ञान को प्राप्त कर सयम के द्वारा नवीन कर्मों के आस्रव को रोकता हुआ तपस्या द्वारा अपने पूर्व सचित कर्मों का क्षय अर्थात् निर्जरा करता हुआ मन, वचन, काय रूप योगो का निरोध करके सार शब्दो मे सम्यक्चारित्र को अपना कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। इन सब के लिए कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ अत्यन्त आवश्यक है।

'भव कोडि सचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ' अर्थात तपस्या से करोडो भवो के सचित कर्मों की निर्जरा कर दी जाती है। श्रमण भगवान महावीर ने अपने पूर्व सचित कर्मों को जो कि पहले हुए २३ तीर्थंकरों के सार कर्मों का मिलाकर के बराबर थे, अपनी उग्र तपस्या द्वारा क्षय कर दिया। तभी तो अन्य सब तीर्थंकरों की अपेक्षा से महावीर भगवान के तप को उग्र तप बताया गया है। यह 'आवश्यक नियुक्ति' की गाथा "उग्गं च तवो कम्म विसेसओ वद्धमाणस्स" से स्पष्ट है। वर्तमान इस मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है कि

५१
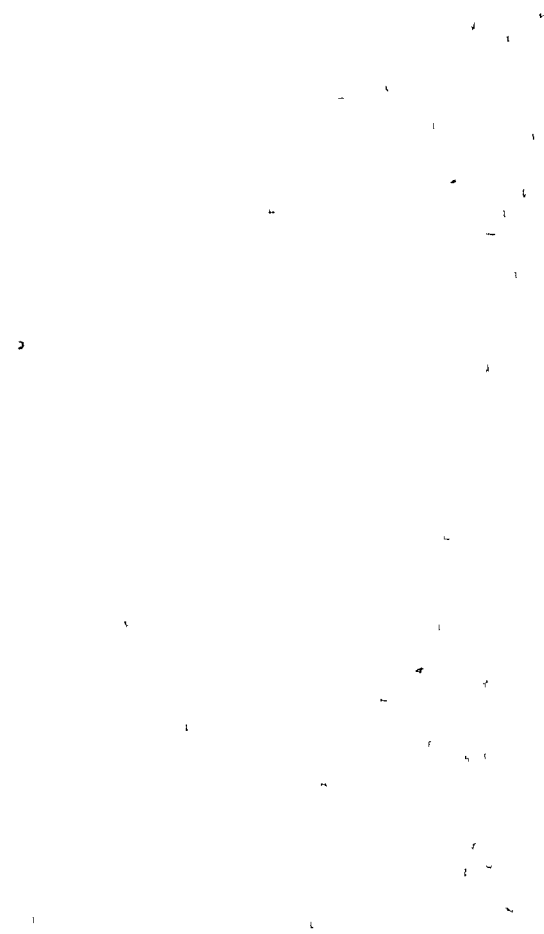
कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ

□ डॉ० प्रेम सुमन जैन

जैन आगम साहित्य में प्रतिपादित कर्म और पुरुषार्थ सम्बन्धी चिन्तन का प्रभाव प्राकृत कथाओ मे भी देखने को मिलता है। वैसे तो प्राय प्रत्येक प्राकृत कथा मे पूवज-म,, कर्मों का फल तथा मुक्ति प्राप्ति के लिए सयम, वैराग्य आदि पुरुषार्थों का सकेत मिलता है। किन्तु कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं जो कम-सिद्धा-त का ही प्रतिपादन करती हैं, तो कुछ पुरुषाथ का। भारतीय सस्कृति मे चार पुरुषार्थों का विवेचन है—धम, अथ, काम एव मोक्ष। वस्तुत प्राकृत कथाओ मे इनमें से दो को ही पुरुषाथ माना गया है काम और मोक्ष को। शेष दो पुरुषाथ इनकी प्राप्ति मे सहायक हैं। धम पुरुषाथ से मोक्ष सधता है तो अथ से काम पुरुषाथ अर्थात् लौकिक समृद्धि व सुख आदि। प्राकृत कथाओ मे इन लौकिक और पारलौकिक दोनो पुरुषार्थों का वर्णन है, कि-तु उनका प्रभाव समाज पर भिन्न-भिन्न पडा है।

प्राकृत कथाओ मे कम-सिद्धात को प्रतिपादित करने वाली कथाएँ 'नाताधम कथा' मे उपलब्ध हैं। मणिकुमार सेठ की कथा मे कहा गया है कि पहले उसने एक सुन्दर वापी का निर्माण कराया। परोपकार एव दानशीलता के अनेक काय किए। किन्तु एक बार जब उसके शरीर मे सोलह प्रकार की व्याधियाँ हो गयी तो देश के प्रख्यात् वद्यो की चिकित्सा द्वारा भी मणिकुमार स्वस्थ नही हो सका। क्योकि उसके असाता कर्मों का उदय था। इसलिए उसे रोगों का दु ख भोगना ही था। इसी ग्रथ मे काली भार्या की एक कथा है, जिसमे अशुभ कर्मों के उदय के कारण उसकी दुष्प्रवृत्ति मे बुद्धि लग जाती है और वह साध्वी के आचरण मे शिथिल हो जाती है।

आगम ग्रथा मे विपाक सूत्र कम सिद्धात के प्रतिपादन का प्रतिनिधि ग्रथ है। इसमे २० कथाएँ हैं। प्रारम्भ की दस कथाएँ अशुभ कर्मों के विपाक को एव अतिम दस कथाएँ शुभ कर्मों के फल को प्रकट करती हैं। मियापुत्र की कथा क्रूरतापूवक आचरण करने के फल को व्यक्त करती है तो सागरदत्त की कथा मांसभक्षण के परिणाम को। इसी तरह की अन्य कथाएँ विभिन्न कर्मों के परिपाक का स्पष्ट करती हैं। इन कथाओ का स्पष्ट उद्देश्य प्रतीत होता है कि अशुभ कर्मों को छोडकर शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त हों।

५१

कर्म और पुरुषार्थ की जैन कथाएँ

□ डॉ० प्रेम सुमन जैन

जैन आगम साहित्य मे प्रतिपादित कर्म और पुरुषार्थ सम्बन्धी चिन्तन का प्रभाव प्राकृत कथाओ मे भी देखने को मिलता है। वैसे तो प्राय प्रत्येक प्राकृत कथा में पूर्वज म,, कर्मों का फल तथा मुक्ति-प्राप्ति के लिए सयम, वैराग्य आदि पुरुषार्थों का सकेत मिलता है। कि तु कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं जो कर्म-सिद्धा त का ही प्रतिपादन करती हैं, तो कुछ पुरुषार्थ का। भारतीय सस्कृति मे चार पुरुषार्थों का विवेचन है—धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष। वस्तुत प्राकृत कथाओ मे इनमे से दो को ही पुरुषार्थ माना गया है काम और मोक्ष को। शेष दो पुरुषार्थ इनकी प्राप्ति मे सहायक हैं। धर्म पुरुषार्थ से मोक्ष सधता है तो अर्थ से काम पुरुषार्थ अर्थात लौकिक समृद्धि व सुख आदि। प्राकृत कथाओ मे इन लौकिक और पारलौकिक दोना पुरुषार्थों का वर्णन है, कि तु उनका प्रभाव समाज पर भिन्न-भिन्न पडा है।

प्राकृत कथाओ मे कर्म-सिद्धात को प्रतिपादित करने वाली कथाएँ 'नाताधर्म कथा' मे उपलब्ध हैं। मणिकुमार सेठ की कथा में कहा गया है कि पहले उसने एक सु दर वापी का निर्माण कराया। परोपकार एव दानशीलता के अनेक काय किए। किन्तु एक बार जब उसके शरीर मे सोलह प्रकार की व्याधियाँ हो गयी तो देश के प्रख्यात् वैद्यों की चिकित्सा द्वारा भी मणिकुमार स्वस्थ नही हो सका। क्योकि उसके असाता कर्मों का उदय था। इसलिए उसे रोगो का दु ख भोगना ही था। इसी ग्रथ मे काली आर्या की एक कथा है, जिसमे अशुभ कर्मों के उदय के कारण उसकी दुष्प्रवृत्ति मे बुद्धि लग जाती है और वह साध्वी के आचरण मे शिथिल हो जाती है।

आगम ग्रथो मे विपाक सूत्र कर्म सिद्धात के प्रतिपादन का प्रतिनिधि ग्रथ है। इसमे २० कथाएँ हैं। प्रारम्भ की दस कथाएँ अशुभ कर्मों के विपाक को एव अन्तिम दस कथाएँ शुभ कर्मों के फल को प्रकट करती हैं। मियापुत्र की कथा क्रूरतापूर्वक आचरण करने के फल को व्यक्त करती है तो सोरियदत्त की कथा मांसभक्षण के परिणाम को। इसी तरह की अन्य कथाएँ विभिन्न कर्मों के परिपाक का स्पष्ट करती हैं। इन कथाओ का स्पष्ट उद्देश्य प्रतीत होता है कि अशुभ कर्मों को छोडकर शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त हो।

जल में बदल देने की बात कही। राजा ने कहा—यह नहीं हो सकता। तब मंत्री ने कहा कि पुद्गलों में जीव के प्रयत्न और स्वाभाविक रूप से परिवर्तन किया जा सकता है। राजा ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। तब सुबुद्धि ने जल शोधन की विशेष प्रक्रिया द्वारा उसी खाई के अशुद्ध जल को अमृततुल्य मधुर और पेय बनाकर दिखा दिया। तब राजा की समझ में आया कि व्यक्ति की सद्प्रवृत्तियों के पुरुषार्थ उसके जीवन को बदल सकते हैं। अन्त में राजा और मंत्री दोनों जैन धर्म में दीक्षित हो गये। इसी ग्रंथ में समुद्रयात्रा आदि की कथाएं भी हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि संकट के समय भी साहसी यात्री अपना पुरुषार्थ नहीं त्यागते थे। जहाज भग्न होने पर समुद्र पार करने का भी प्रयत्न करते थे। अनेक कठिनाइयों को पार कर भी वणिकपुत्र सम्पत्ति का अर्जन करते थे।

'उत्तराध्ययन टीका' (नेमीचन्द्र) में एक कथा है, जिसमें राजकुमार, मंत्रीपुत्र और वणिकपुत्र अपने-अपने पुरुषार्थ का परीक्षण करके बतलाते हैं। 'दशवैकालिक चूर्णी' में चार मित्रों की कथा में पुरुषार्थ की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। 'वसुदेवहिण्डी' में अर्थ और काम पुरुषार्थ की अनेक कथोपकथाएँ हैं। अर्थोपार्जन पर ही लौकिक सुख आधारित है। अतः इस ग्रंथ की एक कथा में चारुदत्त दरिद्रता को दूर करने के लिए अंतिम क्षण तक पुरुषार्थ करना नहीं छोड़ता। 'उच्छाहेसिरियसति' इस सिद्धांत का पालन करता है। 'समराइच्च कहा' में लौकिक और पारमार्थिक पुरुषार्थ की अनेक कथाएँ हैं।

उद्योतनसूरि ने 'कुवलयमाला कहा' में एक ओर जहाँ कर्मफल का प्रतिपादन किया है, वहाँ चण्डसोम आदि की कथाओं द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पापी से पापी व्यक्ति भी यदि सद्प्रवृत्ति में लग जावे तो वह सुख समृद्धि के साथ जीवन के अंतिम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकता है। सागरदत्त की कथा में कहा गया है कि लोक में धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में से जिसके एक भी नहीं है उसका जीवन जड़वत् है। अतः अर्थ का उपार्जन करे जिससे शेष पुरुषार्थ की सिद्धि हो (कुव० ५८ १३-१४)। सागरदत्त की कथा से ज्ञात होता है कि बाप-दादाओं की सम्पत्ति से परोपकार करना व्यर्थ है। जो अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन का दान करता है वही प्रशंसा का पात्र है। इसके शब्द हैं —

> जो देइ धणं दुहसय समज्जियं अत्तणा भुय-बलेण ।
> सो किर पसंसणिज्जो इयरो चोरो विय वराओ ॥ कुव० १०३ २२ ॥

इसी तरह इस ग्रंथ में धनदत्त की कथा है। वह अपने पिता के धन को छोड़कर व्यापार करने के लिए रत्न-द्वीप में जाना चाहता है। वह पिता के इसलिए धन नहीं लेना चाहता क्योंकि वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से

निराश हो चुका था। तव धनदत्त उसे समझाता है कि पुरुषार्थ-हीन होने से ता लक्ष्मी विष्णु को भी छोड देती है और जो पुरुषार्थी होता है उसी पर वह दृष्टि-पात करती है। अत तुम पुन साहस करो। व्यक्ति के लगातार प्रयत्न करने पर ही भाग्य बदला जा सकता है।

प्राकृत के अन्य कथा-ग्रथो मे भी इस प्रकार की पुरुषार्थ सम्बन्धी कथाएँ देखी जा सकती हैं। श्रीपाल-कथा कम और पुरुषार्थ के अन्तद्वन्द्व का स्पष्ट उदाहरण है। मैना-सुन्दरी अपने पुरुषार्थ के बल पर अपने दरिद्र एव कोढी पति का स्वस्थ कर पुन सम्पत्तिशाली बना देती है। प्राकृत के ग्रथो में इस विषयक एक बहुत रोचक कथा प्राप्त है। राजा भोज के दरबार मे एक भाग्यवादी एव पुरुषार्थी व्यक्ति उपस्थित हुआ। भाग्यवादी ने कहा कि—सब कुछ भाग्य से होता है, पुरुषार्थ व्यर्थ है। पुरुषार्थी ने कहा—प्रयत्न करने से ही सब कुछ प्राप्त हाता है, भाग्य के भरोसे बैठे रहने से नही। राजा ने कालिदास नामक मत्री को उनका विवाद निपटाने को कहा। कालिदास ने उन दोनो के हाथ बाँधकर उन्हे एक अधेरे कमरे मे बद कर दिया और कहा कि आप लोग अपने-अपने सिद्धान्त का अपनाकर बाहर आ जाना। भाग्यवादी निष्क्रिय होकर कमरे के एक कोने में बठा रहा जबकि पुरुषार्थी तीन दिन तक कमरे से निकलने का द्वार खोजता रहा। अत मे थककर वह एक स्थान पर गिर पडा। जहाँ उसके हाथ थे वहाँ चूहे का बिल था, अत उसके हाथ का बधन चूहे ने काट दिया। दूसरे दिन वह किसी प्रकार दरवाजा तोडकर बाहर आ गया। बाद मे वह भाग्यवादी को भी निकाल लाया और कहने लगा कि उद्यम के फल को जानकर यावत्-जीवन उसे नहीं छोडना चाहिए। पुरुषार्थ फलदायी होता है।

उज्जमस्स फल नच्चा, विउसदुगनायगे ।
जावज्जीव न छड्डेज्जा, उज्जमफलदायग ।।

यहाँ इस विषय से सम्बन्धित पाँच प्रमुख कथाएँ दी जा रही हैं।

उनमे कर्म एव पुरुषार्थ के स्वरूप को समझने मे मदद मिलती है।

[१]

आटे का मुर्गा

☐ डॉ० प्रेम सुमन जन

यौधेय नामक जनपद की राजधानी राजपुर के चण्डमारी देवी के मन्दिर में सामने बलि देने के लिए छोटे-बड़े पशुओं के कई जोड़े एकत्र कर दिए गये हैं। एक मनुष्य-युगल की प्रतीक्षा है। राजा मारिदत्त व राज्य-कर्मचारियों ने

एक सुन्दर नर-युगल को लाकर वहाँ उपस्थित किया—साधुवेश में एक युवा साधु और एक युवा साध्वी। सिर पर मृत्यु होते हुए भी चेहरे पर अपूर्व सौम्यता, करुणा और तेज। उनके सामने बलि देने वाले राजा की तलवार अचानक नीचे झुक गयी। कौतूहल जग गया। यह नर युगल कौन है? राजा ने पूछा—बलि देने के पूर्व मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' नर-युगल के मुनि कुमार ने जो परिचय दिया वह इस प्रकार है।

अवन्ति नामक जनपद में उज्जयिनी नगरी है। वहाँ यशोधर राजा अपनी रानी अमृतमति के साथ निवास करता था। एक रात्रि में यशोधर ने रानी अमृतमति को एक महावत के साथ विलास करते देख लिया। पाप की इस पराकाष्ठा से राजा का मन संसार से विरक्त हो गया। प्रातःकाल जब उसके उदास मन का राजमाता चन्द्रमति ने कारण पूछा तो यशोधर ने एक दुःस्वप्न की कथा गढ़ दी। किन्तु राजमाता से राजा के दुःख की गहराई छिपी न रही। अतः उसने अपने पुत्र के मन की शान्ति के लिए कुलदेवी चण्डमारी के मंदिर में पशु-बलि देने का आग्रह किया। किन्तु यशोधर पशु-बलि के पक्ष में नहीं हुआ। तब माता ने उसे सुझाया कि आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि दी जा सकती है। यशोधर ने विवश होकर यह प्रस्ताव मान लिया। किन्तु इस शर्त के साथ कि इस बलिकर्म के बाद वह अपने पुत्र यशोमति को राज्य देकर विरक्त हो जायेगा।

रानी अमृतमति ने जब यह सब जाना तो उसे ज्ञात हुआ कि रात्रि में महावत के साथ किये गये विलास को राजा जान गया है। राजमाता भी इसे जानती होगी। अतः अब दोनों को रास्ते से हटाना होगा। अतः उसने बड़ी चतुराई से राजा और राजमाता को उसी दिन अपने यहाँ भोजन पर आमंत्रित किया और उसी दिन बलि चढ़ाये हुए उस आटे के मुर्गे में विष मिलाकर प्रसाद के रूप में माँ और पुत्र को उसने खिला दिया। इससे यशोधर और उसकी माँ चन्द्रमति दोनों की मृत्यु हो गयी।

संकल्पपूर्वक की गयी आटे के मुर्गे की हिंसा के कारण घोर कर्मबंध हुआ। उसके कारण वे दोनों माँ-बेटे छह जन्मों तक पशु-योनि में भटकते रहे। कुत्ता, हिरन, मछली, बकरा, मुर्गा आदि के जन्मों को पार करते हुए एक संयोग से सुदत्त नामक आचार्य के उपदेश से अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हो आया। उनमें पश्चात्ताप की अग्नि ने उनके पूर्व दुष्कर्मों को जला दिया। वे अगले जन्म में उसी यशोमति राजा और कुसुमावलि रानी के यहाँ युगल रूप में उत्पन्न हुए। अभयरुचि और अभयमति ... कहीं आचार्य सुदत्त से जब यशोमति ने पूर्वजों का वृत्तान्त पूछा तो ज्ञात हुआ कि उनके पिता यशोधर एवं पितामही चन्द्रमति उनके यहीं पुत्र एवं पुत्री के रूप में पैदा हुए हैं। यह सब

सुनकर उन दोनो बालको को बचपन मे ही ससार का स्वरूप समझ मे आ गया। अत वे बाल्यावस्था मे ही साधु एव साध्वी बन गये ।

'हे राजा मारिदत्त ! हम दोनो साधु-साध्वी यशोमति के वही पुत्र-पुत्री हैं। हमने आटे के मुर्गे की बलि चढाकर जो ससार के दुख उठाये हैं, उन्हें तुम्हारे सामने कह दिया है। अब तुम्हारी इच्छा कि तुम हमारे साथ इन निरपराधी मूक पशुओ की बलि दो या नही।' राजा मारिदत्त यह वृत्तान्त सुनकर मुनि युगल के चरणो मे गिर पडा और उसने निवेदन किया कि हमारे द्वारा किए गए अपमान को क्षमा करें भगवन् ! हमे भी अपने उस कल्याण मित्र गुरु के पास ले चलें ।[1]

[२]

सियारिनी का बदला

☐ डॉ० प्रेम सुमन जैन

जम्बू द्वीप के भरतक्षेत्र मे उज्जयिनी नगरी है। वहाँ सुभद्र सेठ अपनी पत्नी जया के साथ रहता था। उनके धन-धान्य एव अन्य सुखों की कमी नहीं थी। किन्तु कोई सतान न होने से वे दोनो दुखी थे। कुछ समय बाद उनके एक पुत्र हुआ, जो अत्यन्त सुकुमार था अत उसका नाम सुकुमाल रख दिया गया। किन्तु कर्मों का कुछ ऐसा सयोग कि पुत्र-दर्शन के बाद ही सेठ ने दीक्षा ले ली। अत जया सेठानी बहुत दुखी हुई। उसने एक ज्ञानी मुनि से अपने पुत्र के भविष्य के सम्बन्ध में पूछा। मुनि ने कहा—'सुकुमाल को ससार के सब सुख मिलेंगे। किन्तु जब कभी भी किसी मुनि के उपदेश इसके कानों में पड़ेंगे तब यह मुनि बन जायेगा।' यह सुनकर जया सेठानी ने अपने महल के चारों ओर ऐसी व्यवस्था कर दी कि दूर-दूर तक किसी मुनि का आगमन न हो और न ही उनके उपदेश सुनाई पडें ।

समय आने पर जया सेठानी ने सुकुमाल का ३२ कुमारियों से विवाह कर दिया। उनके सबके अलग-अलग महल बनवा दिये। वहाँ सुख-सुविधाओं के सभी साधन उपलब्ध करा दिये ताकि सुकुमाल को कभी भी उन महलों की परिधि से बाहर न आना पडे ।

एक बार जया सेठानी की समृद्धि और सुकुमाल की सुकुमारता की प्रसिद्धि सुनकर उस नगर का राजा सेठानी के घर आया। जया सेठानी ने राजा का पूरा सत्कार किया एव उसे अपने पुत्र से मिलाया। उसके साथ भोजन

---

१ [illegible] के यशस्तिलकचम्पू की प्रमुख कथा का संक्षिप्त रूपान्तर ।

इधर सेठानी के घर में सुकुमाल के निष्क्रमण का समाचार मिलते ही सब परिजन नगर के बाहर दौड़े। जब तक वे मुनि सुकुमाल के समीप पहुँचे तब तक उस सियारिनी द्वारा उनका भौतिक शरीर खाया जा चुका था। इस दृश्य को देखकर सारे लोग स्तब्ध रह गये। तब सुकुमाल के दीक्षा गुरु सूर्यमित्र ने उनकी शंका का समाधान करते हुए उन्हें सुकुमाल और सियारिनी के पूर्व-जन्म की कथा इस प्रकार सुनायी।

"इसी भरतक्षेत्र में कौशाम्बी नगरी है। वहाँ अतिबल राजा अपनी मदनावली रानी के साथ राज्य करता था। उसके यहाँ सोमशर्मा नामक मन्त्री था। उसके काश्यपी नामक पत्नी थी। उनके दो पुत्र थे—अग्निभूति और वायुभूति। पिता की मृत्यु के बाद माता काश्यपी ने अपने दोनों पुत्रों को पढ़ने के लिए उनके मामा सूर्यमित्र के पास उन्हें राजगृही भेजा। सूर्यमित्र ने मामा-भानजे के सम्बन्ध को छिपाकर रखा और उन्हें अच्छी शिक्षा दी। किन्तु जब दोनों पुत्रों को इस सम्बन्ध की जानकारी मिली तो अग्निभूति ने सोचा कि मामा ने हमारे हित के लिए ऐसा किया। अन्यथा हम पढ़ न पाते। किन्तु वायुभूति ने इसे अपना अपमान समझा और वह मामा सूर्यमित्र को अपना शत्रु मानने लगा।

एक बार सूर्यमित्र मुनि के रूप में कौशाम्बी में आये। तब अग्निभूति ने उनका बहुत सत्कार किया, किन्तु वायुभूति ने उनका अपमान किया। इससे दुःखी होकर अग्निभूति को भी संसार की असारता का भान हो गया। उसने भी सूर्यमित्र के पास मुनिदीक्षा ले ली। जब यह बात अग्निभूति की पत्नी सोमदत्ता को ज्ञात हुई तो वह बहुत चिन्तित हुई। उसने अपने देवर वायुभूति से बड़े भ्राता अग्निभूति को घर लौटा लाने का अनुरोध किया। इससे वायुभूति और क्रोधित हो गया। उसने अपनी भौजाई सोमदत्ता के सिर पर अपने पैरों से प्रहार कर दिया। इससे सोमदत्ता बहुत दुःखी हुई। उसने कहा कि मैं अभी अबला हूँ। इसलिए तुमने मुझे लातों से मारा है। किन्तु मुझे जब अवसर मिलेगा मैं तुम्हारे इन्हीं पैरों को नोंच-नोंचकर खाऊँगी। इस निदान के पश्चात् सोमदत्ता मृत्यु को प्राप्त हो गई। वहाँ से अनेक जन्मों में भटकती हुई आज वह यहाँ इस सियारिनी के रूप में उपस्थित है।

उधर वायुभूति का जीव भी मरकर नरक में गया। वहाँ से निकलकर पशु योनि में भटका। जन्मान्तर में चाण्डाली हुआ। फिर मुनि उपदेश पाकर ब्राह्मण पुत्री नागश्री के रूप में पैदा हुआ। वहाँ उसने व्रतों का पालन कर इस नगर में जया सेठानी के यहाँ सुकुमाल के रूप में जन्म लिया। शुभ कर्मों के उदय में सुकुमाल ने मुनि दीक्षा ली। किन्तु अशुभ कर्मों के उदय से उन्हें इस सियारिनी द्वारा किया गया यह उपसर्ग सहना पड़ा है।"

साथ रहेगा। इसके अलावा भी तुम्हें कभी कोई संकट हो तो मुझे याद करना। मैं तुम्हारी मदद करूंगा' ऐसा कहकर वह नागकुमार चला गया।

एक दिन जब विद्युत्प्रभा जंगल मे अपने बगीचे के नीचे सो रही थी। तब वहाँ पाटलिपुत्र का राजा जितशत्रु अपनी सेना के साथ आया। उसने इस जादुई बगीचे के साथ सुन्दर विद्युत्प्रभा को देखकर उससे विवाह कर लिया। राजा ने विद्युत्प्रभा का नाम बदलकर 'आराम शोभा' रख दिया और उसे अपनी पटरानी बना दिया। इस प्रकार आराम शोभा के दिन सुख से बीतने लगे।

इधर आरामशोभा की सौतेली माता के एक पुत्री उत्पन्न हुई और वह क्रमश युवा अवस्था को प्राप्त हुई। तब उसकी माता न विचार किया कि राजा मेरी पुत्री को भी रानी बना ले ऐसा कोई उपाय करना चाहिए। उसकी सौतेली मां ने कपटपूर्ण अपनत्व दिखाकर आरामशोभा को मारने के लिए अपने पति अग्निशर्मा के साथ तीन बार विषयुक्त लड्डू बनाकर भेजे। किन्तु उस नागकुमार की सहायता से वे लड्डू विषरहित हो गये। तब उस सौतेली मा ने प्रथम प्रसव कराने के लिए आरामशोभा को अपने घर बुलवाया। वहाँ आरामशोभा ने एक पुत्र को जन्म दिया। तभी उस सौतेली मा ने आरामशोभा को धोखे से घर के पिछवाड़े के कुए मे डाल दिया और समझ लिया कि आरामशोभा मर गयी है। किन्तु वहाँ उस नागकुमार ने आरामशोभा के लिए कुए के भीतर ही एक महल बना दिया।

इधर उस सौतली मा ने अपनी पुत्री को आरामशोभा के स्थान पर राजा की रानी बनाकर उसके पुत्र के साथ पाटलिपुत्र भेज दिया। किन्तु इस नकली आरामशोभा के साथ उस जादुई बगीचे के न होने से राजा को शका हो गयी। वह चुपचाप असली बात की खोज में रहने लगा। उधर पुत्र और पति के शोक से दुखी आरामशोभा नागकुमार की सहायता से रात्रि में अपने पुत्र को देखने चुपके-से राजमहल मे आने लगी। किन्तु उसे सुबह होने के पहले ही लौटना पड़ता था। अन्यथा उसका जादुई बगीचा हमेशा के लिए नष्ट हो जायेगा। किन्तु एक दिन राजा ने असली आरामशोभा को पकड़ लिया और सारी बातें जान ली। तभी वह जादुई बगीचा नष्ट हो गया। किन्तु आरामशोभा अपने पुत्र और पति से मिलकर सतुष्ट हो गयी। राजा ने आरामशोभा की सौतेली मां और पुत्री को सजा देनी चाही तो आरामशोभा ने उन्हें माफ करा दिया।

एक दिन राजा के साथ वार्तालाप करते हुए आरामशोभा ने प्रश्न किया कि मुझे बचपन मे इतने दुख क्यों मिले और बाद मे राजमहल के सुख मिलने का क्या कारण है? जादुई बगीचे ने मेरी सहायता क्यों की? तब राजा आरामशोभा को एक मुनि के पास ले गया। उसने उन्होंने अपनी जिज्ञासा का

समाधान करना चाहा। तब उन ज्ञानधारी साधु ने आरामशोभा के पूर्वजन्म का संक्षेप में इस प्रकार कहा—

"इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में चम्पानगरी है। वहाँ कुलधर नामक एक सेठ था। उसकी पत्नी का नाम कुलानन्दा था। उनके आठ पुत्रियाँ हुईं। आठवीं का नाम दुर्भागी रखा गया। बहुत समय तक उसका विवाह नहीं हुआ। किन्तु संयोग से एक बार कोई परदेशी युवक सेठ कुलधर की दुकान पर आया। किसी प्रकार सेठ ने उस युवक के साथ दुर्भागी का विवाह कर दिया। किन्तु अपने घर को वापिस लौटते हुए वह युवक दुर्भागी को अकेला सोता हुआ छोड़कर भाग गया। जागने पर दुर्भागी को बहुत दुःख हुआ। किन्तु इसे भी अपने कर्मों का फल मानती हुई वह किसी प्रकार उज्जयिनी में मणिभद्र सेठ के यहाँ पहुँच गयी। वहाँ उसने अपने शील और व्यवहार से सेठ के परिवार का दिल जीत लिया। वह सेठ के धार्मिक कार्यों में भी मदद करने लगी। उसे जो भी पैसे सेठ से मिलते उनकी सामग्री खरीदकर वह गरीबों में बाँट देती। उसका सारा समय देवपूजा और गुरुपूजा में ही व्यतीत होने लगा।

अचानक मन्दिर में लगा हुआ बगीचा सूखने लगा। सेठ ने बहुत उपाय किये, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। तब दुर्भागी ने इस काम को अपने ऊपर लिया और प्रतिज्ञा की कि जब तक यह बगीचा हरा भरा नहीं हो जाता तब तक वह अन्न ग्रहण नहीं करेगी। उसकी इस तपस्या से नागदेवी प्रसन्न हुई और उसने बगीचे को हरा भरा कर दिया। इससे दुर्भागी का मन धर्म में और दृढ़ हो गया। वह कठोर तपस्याएँ करने लगी। अन्त में उसने अनशन व्रत धारण करते हुए अपने प्राण त्यागे। वहाँ से वह स्वर्ग में उत्पन्न हुई। वहाँ पर भी धर्म भावना के प्रति रुचि होने के कारण उसे मनुष्य जन्म मिला और वह अग्निशर्मा ब्राह्मण के घर विद्युत्प्रभा नाम की पुत्री हुई।

उस दुर्भागी ने अपने जीवन का पूर्वभाग सम्यक्त्व रहित परिवार में व्यतीत किया था, अतः उसके विचारों और भावों में सद्भावना नहीं थी। इसी से उसने दुष्कर्मों का बन्धन किया। उन्हीं के कारण उसे विद्युत्प्रभा के भव में बचपन में बहुत दुःख भोगने पड़े हैं। किन्तु दुर्भागी का अन्तिम जीवन एक धार्मिक परिवार में व्यतीत हुआ। उसने स्वयं धार्मिक साधना की। इसी से आरामशोभा के रूप में उसे राजमहलों का सुख मिला। नागदेवी को प्रसन्न करने और बगीचा हरा भरा करने के कारण ही आरामशोभा को नागदेवी का सहयोग मिला है। और अब महारानी आरामशोभा धार्मिक [illegible] कर रही है [illegible] उत्थान करना और [illegible] ही यह इसकी [illegible] आनन्द की [illegible]।"

ज्ञानी सन्त के इन वचनो को सुनकर जितशत्रु राजा और आरामशोभा रानी ने संसार-त्याग कर वैराग्य जीवन अंगीकार किया।[1]

[४]

दो साधक जो बिछुड गये

□ श्री सुजानमल मेहता

साधना, त्याग और तपश्चर्या का लक्ष्य कर्म-निरोध और कर्म निर्जरा है और अन्तत अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होना है। साधको को ऋद्धि-सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं किन्तु अगर कोई साधक भौतिक चकाचौंध मे फस कर प्राप्त ऋद्धि सिद्धियो का लक्ष्य भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त करना बना लेता है तो वह अमृत मे विष घोल देता है और परिणामत अवनति के गहरे कूप मे चला जाता है। ऐसे ही साधक के लिये कहा जाता है 'तपश्वरी सो राजेश्वरी और राजेश्वरी सो नरकेश्वरी।'

कांपिल्य नगर मे जन्मे चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने भी अपने पूर्व भव में उत्कृष्ट साधना की थी और इसी कारण वे छः खण्ड के अधिपति बने थे। भौतिक ऋद्धि सम्पदा उनके आंगन मे कीलोलें करती थी, सुन्दर और मनोहर रानियो से उनका अन्त पुर सुशोभित था और सांसारिक काम भोगो को उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। इतना कुछ होते हुये भी वे अपने जीवन मे रिक्तता का अनुभव करते थे। वे अपने अन्तर मे एक टीस अनुभव करते थे मानो उनका एक अनन्य प्रेमी बिछुड गया हो। इस गहरी चिन्ता ही चिन्ता मे उनको अपने पूर्व भवो की स्मृति (जातिस्मरण ज्ञान) हो गयी। उनकी स्मृति अपने पूर्व के लगातार पांच भवो तक पहुँच गई और स्मरण हो गया कि वे दो भाई थे जो साथ-साथ जन्म लेते थे और मृत्यु को प्राप्त होते थे। प्रथम भव में वे दशार्ण देश म दास के रूप मे थे, दूसरे भव म वे कालिंजर पर्वत पर मृग के रूप मे थे, तीसरे भव मे मृत गंगा नदी के तट पर हंस के रूप मे थे और चौथे भव मे काशी नगर म एक चाण्डाल के घर मे चित्त और सम्भूति के रूप में जन्मे थे।

काशी नरेश के नमुची नाम का प्रधान था, जो बडा बुद्धिमान और खगोल शास्त्री था, साथ ही था महान् व्यभिचारी। उसने राज्य-अन्तःपुर में बडा दुष्ट दोष का सेवन किया, परिणामत राजा ने उसको मृत्यु दण्ड दे दिया। [illegible] के तरने पर पढ़ाते समय वधिक (चित्त और सम्भूति के पिता) था। इस [illegible]

---

१ १२वी शताब्दी की प्राकृत कथा आरामशोभा का [illegible] रूपान्तर।

और उसको उसका मृत्यु से बचाकर अपने घर में गुप्त रूप से रख लिया। दोनों भाई चित्त और संभूति नमूची से संगीत विद्या सीखने लगे और पारंगत हो गए। जिसको बुरी आदत पड़ जाती है वह कहीं नहीं चूकता। नमूची ने चाण्डाल के घर में भी व्यभिचार का सेवन किया और उसको प्राण लेकर चुपचाप भागना पड़ा।

चित्त और संभूति की संगीत विद्या की ख्याति देश-देशान्तर में फैलने लगी। काशी के संगीत शास्त्रियों को चाण्डाल कुलोत्पन्न भाइयों की ख्याति सहन नहीं हो सकी और उन्होंने येन-केन प्रकारेण दोनों भाइयों का देश निकाला दिलवा दिया। इस घोर अपमान को दोनों भाई सहन नहीं कर सके और अपमानित जीवन के बजाय मृत्यु को वरण करना उन्होंने श्रेयस्कर समझा और पर्वत शिखर से छलांग मारकर मृत्यु का आलिंगन करने का संकल्प उन्होंने कर लिया। अपने विचारों को वे कार्य रूप में परिणत कर ही रहे थे कि अकस्मात एक निर्ग्रन्थ मुनि उधर आ निकले। मुनि ने ऐसा दुष्कृत्य करने से रोका तथा आत्म-हत्या एक भयंकर पाप है यह समझाते हुये मानव-जीवन को सार्थक बनाने का उपदेश दिया। मुनि के उपदेश ने उनके मन से हीन भावना को निकाल दिया और उन दोनों ने मुनिराज का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। मुनि के पास ज्ञान ध्यान में निपुण होने के बाद गुरु आज्ञा से वे स्वतन्त्र विचरण करने लगे। विचरण करते हुए साधना के बल से उनको अनेक ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं।

उधर नमूची प्रधान चाण्डाल घर से भागकर घूमते-फिरते हस्तिनापुर नगर पहुँच गया और अपने बुद्धि-कौशल से चक्रवर्ती सनत्कुमार का प्रधान मंत्री बन गया। मुनि चित्त संभूति भी विचरण करते हुए हस्तिनापुर नगर के बाहर उद्यान में ठहरे। मुनि वेश में चित्त और संभूति को देखकर नमूची प्रधान ने भयभीत होकर समझा कि कहीं मेरा सारा भेद खुल न जाय, इसलिए षड्यन्त्र करके उसने उनका (मुनियों का) अपमान करते हुए शहर निकाला देने की आज्ञा दिलवा दी।

चित्त मुनि ने तो इस अपमान को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया किन्तु संभूति मुनि का यह अपमान और तिरस्कार सहन नहीं हो सका और वे इसका प्रतिशोध लेने के लिये तपस्या से प्राप्त [illegible] सिद्धि का प्रयोग करने के लिये तत्पर हो गए। चित्त मुनि ने संभूति मुनि को [illegible] धारण करने के लिये कहा किन्तु संभूति मुनि का क्रोध शान्त नहीं हुआ और [illegible] और [illegible] सनत्कुमार ने इस प्रकार [illegible] का निवारण करने की प्रार्थना करने लगे। [illegible]

सनतकुमार सपरिवार ससैन्य मुनि की सेवा मे उपस्थित हुये और प्रशासन की भूल के लिये क्षमा याचना की। तपस्वी मुनि का क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने अपनी लब्धि के प्रयोग को समेट लिया किन्तु चक्रवर्ती की ऋद्धि सम्पदा, राजरानियो के रूप-सौन्दय को देखकर वे आसक्त बन गये और यह दुस्संकल्प कर लिया कि मेरे इस त्याग तपश्चर्या का फल मिले तो मुझे भी भविष्य मे ऐसा ही ऐश्वय और काम भोगो के साधन प्राप्त हों। चित्त मुनि ने मुनि सभूति की भावभगी को देखकर इस प्रकार के निदान करने के दुष्परिणाम से अवगत कराया किन्तु मुनि सभूति पर इसका कोई असर नहीं हुआ।

चक्रवर्ती सनतकुमार मुनियो के दर्शन कर अपने आपको धन्य मानते हुये त्याग वराग्य की अमिट छाप अपने हृदय मे लेकर अपने महलों की ओर प्रस्थान कर गये। दोनो मुनियो ने यथासमय आयुष्य पूण कर देव लोक के पद्मगुल विमान में जन्म लिया।

देवलोक की आयुष्य पूण कर मुनि सभूति ने कांपिल्य नगर म चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के रूप मे जन्म लिया किन्तु उसका भाई चित्त देवायु पूण कर कहाँ गया, इसको जानने के लिये ब्रह्मदत्त चिंतित हो गये। राज्य वैभव और भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होते हुये भी उसको अपने पूव भव के भाई की विरह वेदना सताने लगी। आखिर उसने अपने भाई को खोजने का एक उपाय निकाल लिया। उसने एक आधी गाथा बनाई—"असि दासा, मिगा, हँसा, चाण्डाला अमरा जहा"—और देश-देशान्तरा में यह उद्घोष करा दिया कि जो कोई इस अध गाथा को पूण कर देगा उसको चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त अपना आधा राज्य देगा।

चित्त मुनि देवायु पूण कर पुरमिताल नगर में धनपति नगर श्रेष्ठि के घर मे पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए। अपने पूव भव की त्याग-तपश्चर्या के प्रभाव स अतुल ऋद्धि सम्पदा और भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री के स्वामी बने। एक दिन किसी महात्मा के मुखारविन्द से एक गम्भीर गाथा सुनकर उनके मन का चिन्तन करते-करते उनको जाति स्मरण ज्ञान हो गया। पूव त्याग-वैराग्य के संस्कार जागृत हुये और भोगविलास की सामग्री को तृणवत त्यागकर त्याग माग को अंगीकार करते हुये विचरण करने लगे। साधना करते हुये उन्हें अवधि ज्ञान प्रकट हो गया। ग्रामानुग्राम विचरते हुये वे कांपिल्य नगर के बाहर उद्यान म विराजे और माली को पूर्वोक्त अधगाथा उच्चारण करते हुए सुना। चित्त मनि अवधि ज्ञान के बल स अध गाथा का प्रयोजन समझ गये और "इमाणो छट्ठिया जाई अन्नमन्नेण जा विणा" कहकर अधगाथा को पूर्ण कर दिया।

उद्यान का माली हर्षित होते हुये राज्य सभा म गया और उस अधगाथा

का पूरा करके सुना दिया। चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त अपने पूर्व भव के भाई को माली के रूप में समझ कर खेद खिन्न होकर मूर्छित हो गया। राजपुरुषों ने माली को पकड़ लिया और मार देने लगे तो माली ने सही स्थिति बतला दी। राजपुरुष मुनि की सेवा में उपस्थित हुये और राजा के मूर्छित होने की बात कहकर मुनिराज को राज्य सभा में लिवा लाये।

मुनि का ओजपूर्ण शरीर और देदीप्यमान ललाट देखकर ब्रह्मदत्त स्वस्थ हो गए किन्तु अपने भाई को मुनि वेष में देख कर खिन्नमना होकर कहने लगे कि बन्धुवर, पूर्व भव की आपकी त्याग-तपश्चर्या का क्या यही फल है कि आपको भिक्षा के लिये इधर-उधर भटकना पड़ रहा है। मुझको राज्य वैभव और सम्पदा ने वरण किया है किन्तु आपने यह दरिद्रता क्यों पहन रखी है? मुझे आपके इस कष्टप्रद जीवन को देखकर आश्चर्य भी हो रहा है और दुःख भी। अब आपको भिक्षा जीवी रहने की आवश्यकता नहीं है। मेरी प्रतिज्ञा के अनुसार मेरा आधा राज्य वैभव आपके हिस्से में है।

"राजेन्द्र ! जिस राज्य वैभव में आप अनुरक्त हैं, उससे मैं भी परिचित हूँ" चित्त मुनि कहने लगे—"मेरा जन्म भी एक ऐश्वर्य व वैभव सम्पन्न श्रेष्ठी कुल में हुआ है अतः मुझे भिखारी या दरिद्री समझने की भूल मत करो। एक महात्मा के समागम से मेरे त्याग वैराग्य के संस्कार जागृत हो गये और सब वैभव सम्पदा को छोड़ कर मैंने अक्षय सुख और शान्ति का यह राजमार्ग अपनाया है। राजन् ! आपको यह राज्य वैभव क्यों मिला, इस पर गहराई से चिन्तन करो। हम दोनों ने पूर्व भव में चित्त और सम्भूति के रूप में मुनिव्रत अंगीकार कर कठिन साधना की थी जिससे हमारा जीवन बड़ा निर्मल हो गया, कई सिद्धियाँ भी हमको सहज ही प्राप्त हो गयीं। चक्रवर्ती सनत्कुमार हमारे दर्शन करने आया और त्याग-तपस्या की अमिट छाप अपने हृदय पर लेकर वापस चला गया। चक्रवर्ती का राज्य वैभव प्राप्त कर भी वह उसमें उलझा नहीं और विरक्त होकर संयम जीवन अंगीकार कर सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गया। आप उनके राज्य वैभव और रानियों के रूप सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो गये और यह निदान (दृढ़ संकल्प) कर लिया कि मेरी साधना का फल मिले तो मुझे भी इसी तरह का राज्य वैभव और काम भोगों के साधन प्राप्त हों। त्याग तपश्चर्या का फल तो अनिर्वचनीय आनन्द और अक्षय सुख है किन्तु आपने निदान करके हीरे को कौड़ियों के मोल बेच दिया जिससे आपको यह राज्य वैभव प्राप्त हुआ। इसमें अन्तर्निहित अक्षय स्वरूप सुख का अनुभव नहीं कर सकते हो। चक्रवर्ती सनत्कुमार का अनुसरण कर आपको इन अनित्य काम भोगों का त्याग कर अक्षय सुख और शान्ति का साक्षात्कार करना चाहिये अर्थात् मुनि व्रत अंगीकार कर लेना चाहिए।"

"आर्य ! आपका कथन यथार्थ है। मैं भी समझने को ऐसा ही समझ रहा हूँ।" चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने कहा—"दलदल मे फसे हुये गजेन्द्र के समान मैं हूँ कि जिसको किनारा तो दिख रहा है किन्तु दलदल से बाहर निकलने की उसकी इच्छा ही नहीं होती। मैंने पूर्व भव मे त्यागी जीवन की मर्यादा का उल्लघन करके क्रोध किया और फिर निदान कर लिया चक्रवर्ती की सम्पदा के लिये, उसी का यह परिणाम है कि आपके समझाने पर भी और त्यागी जीवन की महत्ता के समझते हुये भी मैं राज्य वैभव की आसक्ति को छोड नही पा रहा हूँ।"

"अगर पूर्ण त्यागी जीवन स्वीकार नही कर सकते हो तो गृहस्थाश्रम मे रहते हुये श्रावक के व्रत नियम ही धारण करलो जिससे आप अधम गति से तो बच सकोगे।" चित्त मुनि ने वैकल्पिक मार्ग बतलाया।

"मुनिवर ! मेरे लिये यह भी शक्य नही है।" चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुये उत्तर दिया।

"राजेन्द्र ! पूर्व भवो के स्नेह के कारण मैं चाहता था कि आपको भोगासक्ति के दलदल से बाहर निकालूँ किन्तु मेरा यह प्रयत्न निष्फल गया, अब जसी आपकी इच्छा।" यह कहते हुये चित्त मुनि (पूर्व भव का नाम) वापस लौट गये।

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने काम भोगो के दलदल म फँसे हुये ही आयुष्य पूर्ण किया और सातवी नरक मे गये। महामुनि चित्त ने उग्र साधना और तपश्चर्या की जिससे अन्त मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

दो बन्धु जो पाँच भवो तक साथ-साथ रहे, चौथे भव म कठिन साधना की वे आसक्ति और विरक्ति के कारण इतने दूर बिछुड गये कि एक तो रसातल के अंतिम छोर-सातवी नरक गये और दूसरे ऊर्ध्व गमन की अंतिम सीमा-सिद्धशिला पर जा विराजे।

> धर्म प्रधान विश्व करि राखा।
> जो जस करहि तस फल चाखा॥

[५]

कर्म का भुगतान

□ श्री चांदमल बाबेल

भगवान् श्रेयांसनाथ इस धरती तल पर भव्य आत्माओ को सन्मार्ग दिखाते हुए विचरण कर रहे थे। उस समय दक्षिण भरत म पोतनपुर नामक एक नगर

तथा धूमधाम से वासुदेव पद का अभिषेक किया गया।

त्रिपृष्ठ वासुदेव राजसी भोग-विलास मे तल्लीन थे। महारानी स्वयप्रभा के श्रीविजय और विजय नामक दो पुत्ररत्नो की उत्पत्ति हुई।

एक बार सगीत मडली भ्रमण करती हुई राज दरबार मे उपस्थित हुई। गायक अपनी कला में पूर्ण निपुण थे। ज्योही उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया तो सब मन्त्रमुग्ध हो गये एव उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे। एक दफा रात्रि को इस प्रकार का मनोरजक कार्यक्रम चल रहा था। राजा अपनी शय्या पर लेटे हुए थे। सगीत की स्वर-लहरी सभी को मन्त्रमुग्ध कर रही थी। त्रिपृष्ठ ने अपने शय्यापालक को कहा कि जब मुझे पूर्ण निद्रा आ जावे तो सगीत गाने वालो को विश्राम दे देना। इधर वासुदेव पूर्ण निद्राधीन हो गये किन्तु शय्यापालक स्वय सगीत मे इतना गृद्ध हो गया कि सगीतज्ञो को विश्राम का आदेश नहीं दिया तथा रात-भर सगीत होता रहा। वासुदेव जब जगे तो देखा कि सगीत पूर्ववत चल रहा है। राजा को आक्रोश आया एव शय्यापालक को कहा कि इन्हें विश्राम क्यो नहीं दिया? शय्यापालक ने कहा—"महाराज! मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं स्वय सगीत सुनने मे आसक्त हो गया इसलिये आपके आदेश का पालन नहीं हो सका।" त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कहा—'अच्छा! मेरे आदेश की अवहेलना। सामन्तो! यह सगीत सुनने का अत्यधिक रसिक है, इसलिये इसके कानो में गर्म शीशा डाला जाय।" सामन्तो ने आज्ञानुसार वैसा ही किया। शय्यापालक ने तड़पते हुए प्राण छोड़े।

सत्तान्ध बनकर त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कर्म के बन्धन के फलस्वरूप आयु पूर्ण कर सातवी नारकी मे जन्म लिया। तैतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर सिंह, नारकी, चक्रवर्ती, देवता, मानव, देव आदि भवो को पूर्ण कर वर्द्धमान महावीर के भव मे जन्म लिया।

महावीर अभिनिष्क्रमण के बाद जगलो, गुफाओ म ध्यान करते हुए "छम्माणी" ग्राम के निकट उद्यान म एक निर्जन स्थान में ध्यानस्थ थे। उस समय शय्यापालक का जीव—जिसके कानों में गर्म-गर्म सीसा डाला गया था, वह ग्वाले के भव मे बैलो की जोड़ी को साथ लेकर जहाँ महावीर ध्यानस्थ थे, वहाँ पर आया एव बोला—"हे भिक्षु! मैं तुम्हारे पास छोड़ जाता हूँ, जब तक वापस आता हूँ तब तक बैलो की रखवाली रखना।' इधर बैल चरते हुए कहीं झाड़ियो मे ओझल हो गये। ग्वाला वापिस आया तो बैलो की जोड़ी नजर नहीं आयी। ग्वाले की आँखो मे आग बरसने लगी। वह महावीर को भला बुरा कहने लगा। किन्तु भगवान तो ध्यानस्थ थे, कोई उत्तर नहीं दिया। तब ग्वाले का क्रोध अधिक बढ़ गया और बोला—'अच्छा, तुम मेरी बात सुन नहीं रहे हो। अ

तथा धूमधाम से वासुदेव पद का अभिषेक किया गया।

त्रिपृष्ठ वासुदेव राजसी भोग-विलास मे तल्लीन थे। महारानी स्वयप्रभा के श्रीविजय और विजय नामक दो पुत्ररत्नो की उत्पत्ति हुई।

एक बार सगीत मडली भ्रमण करती हुई राज दरबार मे उपस्थित हुई। गायक अपनी कला मे पूर्ण निपुण थे। ज्योही उन्होने अपनी कला का प्रदशन किया तो सब मत्रमुग्ध हो गये एव उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे। एक दफा रात्रि को इस प्रकार का मनोरजक कायक्रम चल रहा था। राजा अपनी शय्या पर लेटे हुए थे। सगीत की स्वर-लहरी सभी को मत्रमुग्ध कर रही थी। त्रिपृष्ठ ने अपने शय्यापालक को कहा कि जब मुझ पूर्ण निद्रा आ जावे तो सगीत गाने वालो को विश्राम दे देना। इधर वासुदेव पूर्ण निद्राधीन हो गये किन्तु शय्यापालक स्वय सगीत मे इतना गृद्ध हो गया कि सगीतज्ञों को विश्राम का आदेश नहीं दिया तथा रात-भर सगीत होता रहा। वासुदेव जब जगे तो देखा कि सगीत पूववत चल रहा है। राजा को आक्रोश आया एव शय्यापालक को कहा कि इन्हे विश्राम क्यो नही दिया? शय्यापालक ने कहा—"महाराज! मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं स्वय सगीत सुनने मे आसक्त हो गया इसलिये आपके आदेश का पालन नही हो सका।" त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कहा—"अच्छा! मेरे आदेश की अवहेलना। सामन्तो! यह सगीत सुनने का अत्यधिक रसिक है, इसलिये इसके कानो में गम शीशा डाला जाय।" सामन्तो ने आज्ञानुसार वैसा ही किया। शय्यापालक ने तडपते हुए प्राण छोडे।

ससार मे घूमकर त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कर्म के बन्धन के फलस्वरूप आयु पूर्ण कर सातवी नारकी मे जन्म लिया। तैंतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर सिंह नारकी, चक्रवर्ती, देवता, मानव, देव आदि भवो को पूर्ण कर वर्द्धमान महावीर के भव मे जन्म लिया।

महावीर अभिनिष्क्रमण के बाद जगलो, गुफाओ मे ध्यान करते हुये "छम्माणी" ग्राम के निकट उद्यान मे एक निर्जन स्थान मे ध्यानस्थ थे। उस समय शय्यापालक का जीव—जिसके कानो मे गर्म-गर्म सीसा उडेला गया था, वह ग्वाले के भव मे बैलों की जोडी को साथ लेकर जहाँ महावीर ध्यानस्थ थे, वहाँ पर आया एव बोला—"हे भिक्षु! मैं तुम्हारे पास छोड आया हूँ, इन्हें लेकर आता हूँ तब तक बैलो की रखवाली रखना।" इधर बैल चरते हुए घनी झाडियों मे ओझल हो गये। ग्वाला वापिस आया तो बैलो की जोडी नजर नही आयी। ग्वाले की आँखो में आग बरसने लगी। वह महावीर को अभद्र शब्दो म बोलने लगा। किन्तु भगवान तो ध्यानस्थ थे, कोई उत्तर नही दिया। तब ग्वाले का क्रोध अधिक बढ गया और बोला—"अच्छा, तुम मेरी बात सुन नहीं रहे हो तो

तथा धूमधाम से वासुदेव पद का अभिषेक किया गया।

त्रिपृष्ठ वासुदेव राजसी भोग-विलास मे तल्लीन थे। महारानी स्वयप्रभा के श्रीविजय और विजय नामक दो पुत्ररत्नो की उत्पत्ति हुई।

एक बार सगीत मडली भ्रमण करती हुई राज दरबार म उपस्थित हुई। गायक अपनी कला मे पूर्ण निपुण थे। ज्योही उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया तो सब मत्रमुग्ध हो गये एव उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे। एक दफा रात्रि को इस प्रकार का मनोरजक कार्यक्रम चल रहा था। राजा अपनी शय्या पर लेटे हुए थे। सगीत की स्वर-लहरी सभी को मत्रमुग्ध कर रही थी। त्रिपृष्ठ ने अपने शय्यापालक को कहा कि जब मुझे पूर्ण निद्रा आ जाये तो सगीत गाने वालो को विश्राम दे देना। इधर वासुदेव पूर्ण निद्राधीन हो गये किन्तु शय्यापालक स्वय सगीत मे इतना गृद्ध हो गया कि सगीतज्ञो को विश्राम का आदेश नहीं दिया तथा रात-भर सगीत होता रहा। वासुदेव जब जगे तो देखा कि सगीत पूर्ववत चल रहा है। राजा को आक्रोश आया एव शय्यापालक को कहा कि इन्हें विश्राम क्यो नहीं दिया? शय्यापालक ने कहा—"महाराज! मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं स्वय सगीत सुनने मे आसक्त हो गया इसलिये आपके आदेश का पालन नही हो सका।" त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कहा—"अच्छा! मेरे आदेश की अवहेलना। सामन्तो! यह सगीत सुनने का अत्यधिक रसिक है, इसलिये इसके कानों मे गर्म शीशा डाला जाय।" सामन्तो ने आज्ञानुसार वैसा ही किया। शय्यापालक ने तड़पते हुए प्राण छोड़े।

सत्ता के बल पर त्रिपृष्ठ वासुदेव ने कर्म के बन्धन के फलस्वरूप आयु पूर्ण कर सातवी नारकी मे जन्म लिया। तेतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर सिंह नारकी, चक्रवर्ती, देवता, मानव, देव आदि भवो को पूर्ण कर वर्द्धमान महावीर के भव मे जन्म लिया।

महावीर अभिनिष्क्रमण के बाद जगलों, गुफाओं म ध्यान करते हुये "छम्माणी" ग्राम के निकट उद्यान मे एक निर्जन स्थान में ध्यानस्थ थे। उस समय शय्यापालक का जीव—जिसके कानो मे गर्म-गर्म सीसा उड़ेला गया था, वह ग्वाले के भव मे बैलो की जोड़ी को साथ लेकर जहाँ महावीर ध्यानस्थ थे, वहाँ पर आया एव बोला—'हे भिक्षु! मैं कुल्हाड़ी घर छोड़ आया हूँ, उसे लेकर आता हूँ तब तक बैलों की रखवाली रखना।" इधर बैल चरते हुए घना झाड़ियो मे आजन्न हो गये। ग्वाला वापिस आया तो बैलो की जोड़ी नजर नहीं आयी। ग्वाले की आँखो म आग बरसने लगी। वह महावीर को अभद्र शब्दों से बोलने लगा। किन्तु भगवान तो ध्यानस्थ थे, कोई उत्तर नहीं दिया। तब ग्वाले का क्रोध अधिक बढ़ गया और बोला—'अच्छा, तुम मेरी बात सुन नहीं रहे हो तो

परिशिष्ट

हमारे सहयोगी लेखक

१ आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज—प्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, गवेषक विद्वान् और इतिहासज्ञ।

२ पं० र० श्री हीरा मुनि—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक और प्रखर वक्ता। आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० के विद्वान् शिष्य।

३ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, अनेक ग्रन्थों के लेखक। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के विद्वान् शिष्य।

४ स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि—प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक।

५ श्री रमेश मुनि शास्त्री—जैन मुनि, लेखक और चिन्तक। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि के शिष्य।

६ श्री भगवती मुनि 'निर्मल'—जैन मुनि, प्रसिद्ध लेखक, कथाकार और आगमज्ञ विद्वान्।

७ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री—प्रसिद्ध जैन विद्वान्, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक, भूतपूर्व प्राचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी।

८ डॉ० महेन्द्रसागर प्रचंडिया—प्रसिद्ध जैन विद्वान्, चिन्तक, लेखक और वक्ता। वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ० प्र०) में हिन्दी प्राध्यापक।

९ डॉ० आदित्य प्रचंडिया 'दीति'—लेखक, कवि और समीक्षक, मंगल कलश, ३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़ (उ० प्र०)।

१० श्री कन्हैयालाल लोढ़ा—प्रबुद्ध, चिन्तक, लेखक और स्वाध्यायी साधक, अधिष्ठाता—श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, बजाज नगर, जयपुर।

११ श्री चन्दनराज मेहता—चिन्तक और लेखक, ६३, सिमावटा का बास, सोजती गेट के अन्दर, जोधपुर-३४२ ००१।

१२ डॉ० शिव मुनि—जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक और लेखक।

१३ युवाचार्य महाप्रज्ञ—जैन मुनि, जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति के समर्थ विद्वान्, अनेक ग्रन्थों के लेखक और ध्यान-साधक।

विज्ञापन-खण्ड

□

संयोजन

सुमेरसिंह बोथरा

□

जिन व्यक्तियों, संस्थाओं एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने अपने विज्ञापन देकर हमें सहयोग प्रदान किया, एतदर्थ उन सबके प्रति हार्दिक आभार। इन विज्ञापनों को एकत्र करने में हमें सर्वश्री पूरणराजजी [illegible] जोधपुर, पारसराजजी [illegible] अहमदाबाद, धर्मेन्द्रजी हीरावत बम्बई, मोतीचन्दजी [illegible] उदयपुर एवं [illegible] मेहता जयपुर का विशेष सहयोग मिला है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

—"जिनवाणी" परिवार

धम्मो मगलमुयिकट्ठ अहिसा सजमो तवो।
दयावि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो।

—दशवैकालिक १/१

धम सवस उत्कृष्ट मगल है, धम है—अहिमा सयम और तप। जो धर्मात्मा है, जिसके मन म सदा धम रहता है, उस देवता भी नमस्कार करत हैं।

जो सहस्स सहस्साण सगाम दुज्जए जिए ।
एग जिणज्ज अप्पाण एस स परमो जओ ।

—उत्तर० ९/३४

भयङ्कर युद्ध म हजारा-हजार दुर्दान्त शत्रुओ को जीतन की अपेक्षा अपन आपको जीत लेना ही सबसे बडी विजय है ।

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य ।।

—उत्तराध्ययन १/१६

दूसरे वध और बंधन आदि से दमन करें इससे तो अच्छा है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपना दमन कर लूं ।

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ।
तस्स सामाइअ होइ, इह केवलिभासियं ।।

—अनुयोगद्वार 128

जो त्रस (कीट, पतगादि) और स्थावर (पृथ्वी, जल आदि) सब जीवो के प्रति सम है अर्थात् ममत्वयुक्त है, उसी की सच्ची सामायिक होती है-ऐसा केवली भगवान ने कहा है ।

उपवास का असली फल आत्म-शुद्धि है। आत्म शुद्धि से शुभ भाव की वृद्धि होती है। आत्मिक शक्ति बढ़ती है और उससे जीवन में जागरण आता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

भट्टी पर चढ़ाये उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नानाविध मानसिक संतापों से संतप्त मानव सामायिक साधना करके ही शान्ति लाभ कर सकता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

उपवास का असली फल आत्म-शुद्धि है। आत्म-शुद्धि से शुभ भाव की वृद्धि होती है। आत्मिक शक्ति बढ़ती है और उससे जीवन मे जागरण आता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा

भट्टी पर चढ़ाये उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है। इसी प्रकार नानाविध मानसिक सन्तापों से संतप्त मानव सामायिक साधना करके ही शांति लाभ कर सकता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

दो बातों पर ध्यान रहे—

- जो कामना पर विजयी है वह रंक होने पर भी राजा है।
- जो कामना का गुलाम है, वह राजा होने पर भी कंगाल है।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होई अस्सि लोए परत्थ य ॥

उत्तराध्ययन 1/15

अपने आप पर नियन्त्रण रखना चाहिये। अपने आप पर नियन्त्रण रखना वस्तुत कठिन है। अपने पर नियन्त्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक मे सुखी होता है।
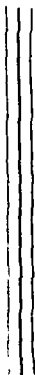
लाभा लाभे सुहे दुक्ख, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदा पंससासु, समो माणावमाणओ ॥

—उत्तराध्ययन 19/91

जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन मरण, निन्दा प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है वही वस्तुतः मुनि है ।

जहा सुणी पूइकर्णी, नियकसिज्जई सव्वसो ।
एव दुस्सील पडिणीए, मुहरो नियकजिज्जई ॥

—उत्तराध्ययन 1/4

जिस प्रकार सडे हुए काना वाली कुतियां जहां भी जाती है निकाल दी जाती है, उसी प्रकार कु शील, उद्दण्ड और मुख-वाचाल मनुष्य भी धक्के देकर निकाल दिया जाता है।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्व विणासणो।

—दशव० 8/38

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सभी सद्गुणों का विनाश करता है।

With Best Compliments
From

47– पुरिसा । अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

—आयारांग १/३/३

मानव ! अपने आपको ही निग्रह (संयत) कर स्वयं के निग्रह (संयम) से ही तू दुःख से मुक्त हो सकता है ।

चत्तारि धम्मदारा
खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे।

—स्थानांग ४/४

क्षमा, संतोष सरलता और नम्रता
ये चार धर्म के द्वार हैं।

मण परिजाणइ से णिग्गंथे ।

—आचारांग २/3/१५/१

जो अपने मन को अच्छी तरह परखना जानता है,
वही सच्चा निर्ग्रन्थ होता है ।

सज्झाए या निउत्तण सव्वदुक्खविमोक्खण ।
—उत्तराध्ययन २६/१०

स्वाध्याय करत रहने से समस्त दुखा से मुक्ति मिल जाती है ।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणु अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

—उत्तराध्ययन २०/३६

मेरी (पाप म प्रवृत्त) आत्मा ही वतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष के समान (कष्टदायी) है। और मेरी आत्मा ही (सत्कम में प्रवृत्त) कामधेनु और नन्दनवन के समान सुखदायी है।

अहे वयइ कोहेण, माणण अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भय ॥
—उत्तराध्ययन ६/५४

क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है, मान से अधमगति प्राप्त करता है माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। लोभ से इस लोक और परलोक दोनों मे ही भय-कष्ट होता है।

सव्वपाणा न हीलियव्वा न निंदियव्वा

—प्रश्नव्याकरण २/१

विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिये और न निन्दा।

जो परिभवइ पर जण ससारे परियत्तई मह ।

—सूत्रकृताग १/२/२/१

जो दूसरो का परिभव अर्थात् तिरस्कार करता है
वह समार वन मे दीर्घकाल तक भटकता रहता है ।

सोना चांदी, हीरे-जवाहरात के ऊपर तुम सवार रहो लेकिन तुम्हारे ऊपर धन सवार नहीं हो। यदि धन तुम पर सवार हो गया तो वह तुमको नीचे डुबा देगा।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा

कसाया अग्गिणो वुत्ता सुय सील तवो जल ।

—उत्तराध्ययन २३/५३

कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) को अग्नि कहा है। उसको बुझाने के लिए श्रुत (ज्ञान) शील सदाचार और तप जल के समान हैं।

पवित्र हृदय से की गई करणी ही काम आयेगी
और करणी के अनुसार ही सुगति मिलेगी ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।

—उत्तराध्ययन १३/२८

अस्तेय (अचौर्य) व्रत का साधक बिना किसी (स्वामी) की अनुमति के और तो क्या, दाँत साफ करने के लिये एक तिनका भी नहीं लेता।

विणयाहीया विज्जा देंति फल इह पर य लोगम्भि ।
न फलति विणयहीणा सस्साणि य तोयहीणाइं ।

—बृह० भाष्य ५२०३

विनयपूर्वक पढी गई विद्या लोक-परलोक मे सर्वत्र फलवती होती है । विनयहीन विद्या उसी प्रकार निष्फल होती है, जिस प्रकार जल के बिना धान्य की खेती ।

गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।

—स्थानांग-८

रोगी की सेवा करने के लिये सदा अग्लानभाव से तयार रहना चाहिये।

दो बातों के बिना शान्ति नहीं मिल सकती —

- एकाग्रता के बिना ।
- जितेन्द्रियता के बिना ।

जे एगं नामे, ते बहु नामे ।
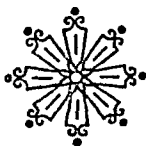
—आचारांग १/३/४

जो अपने आपको नमा लेता है– जीत लेता है,
वह समग्र संसार को नमा लेता है ।

इमेण चेव जुज्झाहि
किं ते जुज्झेण बज्झओ ।।

—आचारांग १/५/३

अपने अन्तर (के विकारों) से ही युद्ध कर। बाहर के युद्ध से तुझे क्या प्राप्त होगा ?

सुयस्स आराहणयाए ण अन्नाण खयेइ ।

—उत्तरा० २६/५६

ज्ञान की आराधना करने से आत्मा अज्ञान का नाश करती है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसंगता ।
गुरुभक्तिस्तपोज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥

—हरिभद्र-टीका ३/१६

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, निःसंगता गुरुभक्ति तप और ज्ञान ये पूजा के आठ फूल कहलाते हैं ।

दो वाता के विना घर सूना है—

- प्रम के यिना ।
- अनुशासन के यिना ।

With Best Compliments From

Phone 339468

Shri Poonamchandji Bardia & Family

BARDIA MANSION

KAPASIA BAZAR

AHEMDABAD-2

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणीयस्स य ।

—दशवै० ९/२/२२

अविनीत विपत्ति (दुःख) का भागी होता है और विनीत सम्पत्ति (सुख) का ।

दो तरह से रहना सीखो—

- जगत के प्रपच मे ३ ६ अक की तरह ।
- आत्म-साधना मे ६, ३ के अक की तरह ।

समाहिकारए ण तमेव समाहिं पडिलब्भई ।

भगवती सूत्र ७/१

जो दूसरों के दु ख एव कल्याण का प्रयत्न करता है
वह स्वय भी सुख एव कल्याण को प्राप्त होता है ।

स्वाध्याय चित्त की स्थिरता और पवित्रता के लिए सर्वोत्तम उपाय है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

दो बड़े पापी है—

- धर्म स्थान में पाप करने वाला ।
- झूठे मत प्रचार से लोगों को ठगने वाला ।

दो प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति होती है—

- उत्तम संस्कार से।
- ज्ञानी के संग या सदुपदेश से।

दो बड़े पापी हैं—

- धर्म स्थान में पाप करने वाला ।
- झूठे मत प्रचार से लोगों को ठगने वाला ।

दो प्रकार से ज्ञान की प्राप्ति होती है—

- उत्तम संस्कार से।
- ज्ञानी के संग या सदुपदेश से।

कार्यकर्त्ता में दो बातें आवश्यक हैं—

- जवान जैसा जोश हो।
- वृद्ध जैसा होश हो।

दो का जीवन व्यर्थ है—

- जिसने क्रोध को नहीं जीता।
- जिसने काम को नहीं जीता।

दो बातों पर हमेशा नजर रखो—

- आय से अधिक व्यय नहीं करना।
- आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं करना।

दो को सदा बन्द रखो—

- पर निन्दा श्रवण के लिए कान को।
- दोष कथन और असद् भाषण के लिए मुख को।

तव नाटायण जुत्तण भित्तुण कम्म कंचुय ।
मुणी विगय संगामो भवाओ परिमुच्चय ॥

—उत्तराध्ययन

तप रूपी बाण से कर्मरूपी कंचुक-कवच को भेदन कर दो । जिससे जीवन संग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त कर महान मार्ग मुक्ति पथ पर प्रयाण करो ।
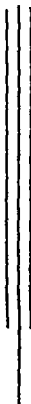
सच्चं च हियं च मियं गाहणं च ।

—प्रश्नव्याकरण २/२

ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिये, जो हित, मित और ग्राह्य हो ।

दाणाणसेट्ठं अभयप्पयाणं ।

—सूत्र० १/६/२३

अभयदान ही सर्वश्रेष्ठ दान है ।

हिंसा का ऋण मृत्यु होने पर भी नहीं छूटता ।
वह परलोक में भी साथ रहता है ।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ।

—दशवै० ६/११७

गुरुजनों की अवहेलना करने वाला कभी बन्धन मुक्त नहीं हो सकता ।

मानसिक चंचलता के प्रधान कारण दो हैं—

लोभ और अज्ञान।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

चारित्तं समभावो ।

—पंचास्तिकाय १०७

समभाव ही चारित्र है ।

संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया ।

—आचारांग नियुक्ति १८६

संसार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कषाय है ।

स्वाध्याय से ज्ञान की उपासना बढ़ेगी, समाज में शान्ति होगी, राष्ट्र में शान्ति होगी विश्व में शान्ति होगी।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

सील मोक्खस्स सोवाणं।

—शीलपाहुड २०

शील-सदाचार मोक्ष का सोपान है।

स्वाध्याय से आत्मा स्व पर के भेद को समझने
में प्रतिक्षण जागरूक रहता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा०

लोभ-कलि-कसाय महक्खधो

चितासयनिचयविपुलसालो ।

प्रश्न १/५

परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध तने हैं—लोभ, क्लेश और कषाय ।
चिन्ता रूपी सकड़ा ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ है ।

पढम नाण तवा दया ।

—दशवै० ४/१०

पहले ज्ञान होना चाहिये फिर उसके
अनुसार दया— अर्थात् आचरण ।

णाणं णरस्स सारो।

—दर्शनपाहुड ३१

ज्ञान मानव जीवन का सार है।

गम करने से मनुष्य अपने को गंवा देता है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

जैसे आवश्यकता आविष्कार की जननी है, उसी प्रकार आवश्यकता पाप की भी जननी है।

—आचार्य श्री हस्तीमलजी म सा

आयकदंसी न करेइ पावं ।

—आचारांग १/३/२

जो संसार के दुःखों को जानता है वह ज्ञानी कभी पाप नहीं करता ।

With Best Wishes
Phone 43871
Hari Ballabh Chowdhary
Chowdhary Bhawan,
Opp Hawamahal,
JAIPUR - 3
With best compliments
from :
Phone 47391
Ashok Kumar Gupta
Pitaliyon ka Chowk
Johari Bazar
JAIPUR 3
With best Compliments
From
Gyan Chand Kothari
(Bhopalwale)
M S B Ka Rasta,
Johari Bazar,
JAIPUR 3
With best Wishes
Phone 45035
KAILASH CHAND RAWAT
Ramganj Chopar
Gal a Road
JAIPUR 3

With best compliments from
R MEHTA & CO
Diamond Manufacturers
Export Import
DARIYA MAHAL
Flat 16 3rd Floor
80 Napeansea Road
BOMBAY-400 006
Resi 8125463 8120981
Offi 356789 364196
Cable DIAMONGLOW
With best compliments from
SOHAN GOPAL & CO.
C/o 1903 Panchratna,
Opera House
BOMBAY-400 004
With best compliments from
DAGARIA FAMILY
With best compliments from
Sh Nemichand Bothra
34, Gulde Baldg
16 Nepean Road
BOMBAY-6

आचार्य श्री गजेन्द्र अमृत महोत्सव
साधना समारोह

दिनाक ६ जनवरी, १९८४, पौष शुक्ला चतुर्दशी स २०४१

प्रिय बन्धुवर !
सादर जयजिनेन्द्र !

परम गौरव एव अपार हर्ष का विषय है कि विश्ववद्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शासन के सजग प्रबल प्रहरी, जैन जगत् के देदीप्यमान नक्षत्र, रत्नवशनायक धर्मगुरु, धर्माचार्य, सामायिक-स्वाध्याय के सन्देशवाहक, प्रात - स्मरणीय, अखण्ड बालब्रह्मचारी, चारित्र चूडामणि, विद्वद्रत्न, इतिहास-मार्तण्ड, परम पूज्य आचार्य परम श्रद्धेय श्री १००८ श्री हस्तीमलजी महाराज साहब का ७५वा पुनीत पावन जन्म दिवस आगामी पौष शुक्ला चतुर्दशी तदनुसार दिनाक ६ जनवरी, १९८५ को समुपस्थित हो रहा है ।

परम पूज्य आचार्य प्रवर का समग्र जीवन साधना सम्पूरित रहा है । आचार्य श्री ने ६४ वर्ष के इस सुदीर्घ साधना काल मे जहाँ एक ओर उत्तर से दक्षिण एव पूर्व से पश्चिम तक सहस्रो मील का पादविहार कर जिनवाणी की पावन गगा को भारत भूमि के कोने-कोने में प्रवाहित किया है, वही स्वाध्याय एव सामायिक के मगलमय दिव्य घोष से नगर, ग्राम घर-घर मे भगवान महावीर का विश्वकल्याणकारी सन्देश पहुँचाया है ।

आपने अपने सुदीर्घ आचार्य-काल मे न केवल अनेकों मुमुक्षु भद्र-भव्य भाई-बहिनों को अध्यात्म की ओर प्रेरित कर उन्हे पच महाव्रतो की भागवती दीक्षा ही प्रदान की है, अपितु हजारो नर-नारियों को सप्त कुव्यसनो का त्याग करवाकर, उन्हें सामायिक व स्वाध्याय की प्रेरणा देकर, समाज के नैतिक एव धार्मिक धरातल को समुन्नत करने की दिशा मे अथक परिश्रम किया है। आप द्वारा प्रेरित सैकडो स्वाध्यायी बन्धु प्रतिवर्ष सैकडो क्षेत्रो मे धर्म साधना पूर्वक पर्युषण-पर्वाराधन करवा रहे हैं ।

आपकी सतत अहर्निश अप्रमत्त दिनचर्या, अलौकिक ध्यान-साधना, नियमित मौन-साधना, सम्प्रदायातीत धर्म प्रेरणा, साधक-जीवन मे दृढ अनु-शासन, प्रतिपल जिन शासन हित चिन्तन आपकी मौलिक विशेषताएँ हैं। आपके जीवन मे ज्ञान एव क्रिया का सुन्दर सगम सहज ही स्वत दृष्टिगत होता है । आपकी प्रसन्नचित सौम्य शान्त मुख मुद्रा दर्शनार्थी भक्तगणो को हठात् प्रथम दर्शन में ही सदा सर्वदा के लिये अपनी ओर आकर्षित कर लेती है ।

स्व सम्प्रदाय मे रहते हुए भी आपका लक्ष्य सदैव जिन शासन सेवा, सगठन, एकता एव श्रमणाचार की विशुद्धता का रहा है। आप द्वारा प्रेरित सस्थाएँ भी इसी पवित्र लक्ष्य के अनुरूप समग्र जैन समाज ...

With Best Compliments
From
Phone No 74672
Chordia Gems International
C 61 Sangram Colony
C Scheme
JAIPUR
With best compliments
from
Telephone No 45320
Prakash Gems
M. S. B. Ka Rasta
Johari Bazar
JAIPUR
With Best Compliments
From
M/s Shri Kundanmal
Pukhraj Jain
CLOTH MERCHANT
KANDOI BAZAR
JODHPUR-342001
With best compliments
from
Phone No 45162
SURAJMAL NAWALKHA
KUSHAL NAWALKHA
KAILASH NAWALKHA
KAMAL NAWALKHA
JOHARI BAZAR
JAIPUR-3

आचार्य श्री गजेन्द्र अमृत महोत्सव
साधना समारोह

दिनाक ६ जनवरी, १९८४, पौष शुक्ला चतुर्दशी स २०४१

प्रिय बन्धुवर !
सादर जयजिनेन्द्र !

परम गौरव एव अपार हर्ष का विषय है कि विश्ववद्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के शासन के सजग प्रबल प्रहरी, जैन जगत् के देदीप्यमान नक्षत्र, रत्नवशनायक धर्मगुरु, धर्माचार्य, सामायिक-स्वाध्याय के सन्देशवाहक, प्रात -स्मरणीय, अखण्ड बालब्रह्मचारी, चारित्र चूडामणि, विद्वद्रत्न, इतिहास-मार्तण्ड, परम पूज्य आचार्य परम श्रद्धेय श्री १००८ श्री हस्तीमलजी महाराज साहब का ७५वा पुनीत पावन जन्म दिवस आगामी पौष शुक्ला चतुर्दशी तदनुसार दिनाक ६ जनवरी, १९८५ को समुपस्थित हो रहा है।

परम पूज्य आचार्य प्रवर का समग्र जीवन साधना सम्पूरित रहा है। आचार्य श्री ने ६४ वर्ष के इस सुदीर्घ साधना काल मे जहाँ एक ओर उत्तर से दक्षिण एव पूर्व से पश्चिम तक सहस्रो मील का पादविहार कर जिनवाणी की पावन गगा को भारत भूमि के कोने-कोने में प्रवाहित किया है, वही स्वाध्याय एव सामायिक के मगलमय दिव्य घोष से नगर, ग्राम घर-घर में भगवान् महावीर का विश्वकल्याणकारी सन्देश पहुँचाया है।

आपने अपने सुदीर्घ आचार्य-काल मे न केवल अनेको मुमुक्षु भद्र भव्य भाई-बहिनो को अध्यात्म की ओर प्रेरित कर उन्हे पच महाव्रतो की भागवती दीक्षा ही प्रदान की है, अपितु हजारो नर-नारियो को सप्त कुव्यसनो का त्याग करवाकर, उन्हें सामायिक व स्वाध्याय की प्रेरणा देकर, समाज के नैतिक एव धार्मिक धरातल को समुन्नत करने की दिशा मे अथक परिश्रम किया है। आप द्वारा प्रेरित सकडो स्वाध्यायी बन्धु प्रतिवर्ष सैकडो क्षेत्रो मे धर्म साधना पूर्वक पर्युषण-पर्वाराधन करवा रहे हैं।

आपकी सतत अहर्निश अप्रमत्त दिनचर्या, अलौकिक ध्यान-साधना, नियमित मौन-साधना, सम्प्रदायातीत धर्म प्रेरणा, साधक-जीवन मे दृढ अनुशासन, प्रतिपल जिन शासन हित चिन्तन आपकी मौलिक विशेषताएँ हैं। आपके जीवन में ज्ञान एव क्रिया का सुन्दर सगम सहज ही स्वत दृष्टिगत होता है। आपकी प्रसन्नचित सौम्य शान्त मुख मुद्रा दर्शनार्थी भक्तगणो को हठात प्रथम दर्शन में ही सदा सर्वदा के लिये अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

स्व सम्प्रदाय में रहते हुए भी आपका लक्ष्य सदैव जिन शासन सेवा, सगठन, एकता एव श्रमणाचार की विशुद्धता का रहा है। आप द्वारा प्रेरित सस्थाएँ भी इसी पवित्र लक्ष्य के अनुरूप समग्र जैन समाज व मानव मात्र की सेवा हेतु समर्पित हैं।

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा, पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥

—उत्तराध्ययन ११/३

अहंकार, क्रोध, प्रमाद (विषयासक्ति) रोग और आलस्य—इन पांच कारणों से व्यक्ति शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त नहीं कर सकता ।